

Shastra [illegible] Jainacharya Shree
[illegible] Dharma [illegible]

આનંદ પ્રેસ–ભાવનગર

किञ्चिद् वक्तव्य.

जैनसाहित्यकी उन्नतिके जितने साधन दृष्टिमें आते हैं, उन सभीमें प्रथम साधन 'जैनसाहित्यसम्मेलन' है। क्योंकि 'साहित्यसम्मेलन' साहित्यसंबन्धि विचार करने वाले मंडलको कहते हैं, और ऐसे मण्डलके द्वारा ही हम इतर साधनोंको साध्य कर सकते हैं। संसारमें जिन २ विषयोंकी आवश्यकता, जनसमाजको मालूम होती है, उन २ विषयों पर विचार करनेके लिये प्रतिवर्ष भारतवर्षमें अनेकों सम्मेलन हुआ करते हैं।

इसी प्रकार जैनसाहित्यकी उन्नतिके लिये भी 'जैनसाहित्यसम्मेलन' के होनेकी अत्यन्त आवश्यकता समझी जाती थी। कालानुयोगसे जिस समय सन् १९१४ में शास्त्रविशारद-जैनचार्य श्रीविजयधर्मसूरीश्वरजी महाराजका सोजत (मारवाड) में विराजना हुआ था, उस समय डॉ० हर्मन जेकोबीने आचार्य महाराजश्रीसे मार्चके प्रारंभमें मिलनेका निश्चय किया। आचार्य महाराजश्रीने इसी समय पर 'जैनसाहित्य सम्मेलन' के करानेका विचार निश्चय किया। और सोजतके श्रीसंघको इसका उपदेश भी किया। यद्यपि सोजत छोटासा गाँव था, परन्तु यहाँ के संघने आपके उपदेशको मान्य करके मार्च ता. ३-४-५ इन तीन दिनोंमें सम्मेलनके करनेका निश्चय भी किया। कार्यकारिणी कमेटी भी निश्चित हुई, जिसके प्रेसिडेन्ट सोजतके मेजिस्ट्रेट श्रीयुत बादरमलजी बी ए और सेक्रेटरी श्रीयुत अनराजजी सिंघी तथा वकील हीरालालजी सुराणा नियत हुए। सोजतकी कमेटीने शीघ्रताके साथ कार्यारंभ कर दिया। वर्तमान पत्रोंमें इस विषयकी चर्चाका चलाना, विषयोंका निर्वाचन करना, साक्षरोंकी सम्मतिएं मगवाना, ये सब कार्य बहुत थोडे दिनोंमें कर दिये थे।

इस प्रसंगमें जोधपुरके श्रीसंघने, साहित्यसम्मेलनका अधिवेशन जोधपुरमें करनेके लिये, आचार्य महाराजश्रीको जोधपुर पधारनेके लिये विनति की। विशेष लाभको देख करके आचार्य महाराजश्रीने इस विनतिका स्वीकार किया और जोधपुर की तरफ विहार भी किया। सोजतके श्रीसंघने भी, ऐसा उचित समझ करके कि, जोधपुरमें सम्मेलनके होनेसे शासनकी विशेष प्रभावना होगी, जोधपुरके श्रीसंघको मंजूरी दे दी।

सम्मेलनकी उत्पत्तिके विषयमें इतना ही कहना काफी है। जोधपुरके श्री संघने किस उत्साहके साथमें इस अधिवेशनको किया था, यह सम्मेलनके विवरणका प्रथम भाग स्पष्टरीत्या कह रहा है। इसके लिये जोधपुरके श्रीसंघको जितना धन्यवाद दिया जाय, उतना कम ही है। लेकिन साथ ही साथ समस्त साहित्यप्रेमियोंको इस बातका बडा भारी खेद है कि-जोधपुरकी कमेटीने, अधिवेशनके पश्चात् जो कुछ कार्य करनेके थे, वे नहीं किये। किसी स्थानमें स्थायी कमेटीका मुकरर करना, ऑफीस खोलना, कार्यारंभ करना और रीपोर्टका छपवाना, ये सब कार्य जोधपुरकी कमेटीको करनेके थे, परन्तु जोधपुरकी कमेटीने इनमेसे एक भी कार्यको नहीं किया। अतएव श्रीसूरीश्वरजी महाराजके उपदेशानुसार, सम्मेलनके रीपोर्टके कार्यकी पूर्ति मैं कर देता हूँ। आशा है कि-साहित्य प्रेमियोंको इससे अवश्य ही सन्तोष होगा।

इस विवरणके मैंने दो विभाग किये हैं। प्रथम भागमें सम्मेलनका सम्पूर्ण कार्यविवरण दिया है, और दूसरेमें विद्वानोंके आए हुए निबंध। यह कहना उचित होगा कि-इस रीपोर्टमें वे ही निबंध छपवाए गए हैं, जिनको कमेटीने पास किये थे। मुझे इस बातसे परम हर्ष होता है कि-इस रीपोर्टमें दिए हुए निबंधोंमेंसे बहुतसे निबंध जैनेतर विद्वानोंके हैं, और वे हैं भी बडे मार्केके। जैनसाहित्यके प्रति जैनेतर विद्वानोंका कितना प्रेम है, यह बात, इस रीपोर्ट परसे पाठक अच्छी तरह देख सकेंगे।

अन्तमें इस रीपोर्टसे साहित्यप्रेमी लाभ उठावें, और सूरीश्वरजी महाराजकी कृपासे सम्मेलनका दूसरा अधिवेशन शीघ्र ही कहीं पर देखनेका सौभाग्य प्राप्त हो, ऐसी भावना पूर्वक इसको समाप्त करता हूँ।

भावनगर, (काठियावाड) } अभयचन्द भगवान्दास
ता १-१-१९१६ } गांधी.

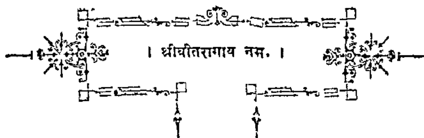


कार्यविवरण दूसरे भागमें दिये हुए निवंधोंकी सूची.

नंबर	नाम	लेखक
	(गुजराती)	
१	श्रीजिनवाणी मातानी अरजी.	मुनिराजश्री विद्याविजयजी.
२	जैनसाहित्यनी उत्तमता.	मुनिराजश्री भक्तिविजयजी.
३	जैनसाहित्यमां कर्म संबंधी ग्रन्थोनो विस्तार.	सेठ कुंवरजी आणंदजी.
४	जैनसाहित्यनी खीलवणी कया मार्गे थई शके ?	सेठ देवचंद दामजी, सम्पादक 'जैन'
५	जैनसाहित्यनी उत्तमता.	शास्त्री नर्मदाशंकर दामोदर.
६	जैनकथासाहित्य.	शास्त्री जेठालाल हरिभाई.
७	गुजराती जैनोनी साहित्य सेवा.	पोपटलाल केवळदास शाह.
८	जैन केलवणीना उद्धारनी जरूर.	ए. एम शाह.
	(हिन्दी)	
९	जैनसाहित्यमें पदार्थकी व्यवस्था	न्यायतीर्थ–न्यायविशारद प्रवर्तकजी श्री मंगलविजयजी.
१०	जैनसाहित्यमे इतिहासके साधन.	मुनिराजश्री विद्याविजयजी.
११	प्राचीनखोजकी आवश्यकता.	मुनिराजश्री विद्याविजयजी.
१२	जैनसाहित्यमें विविध विषयोंको मिला हुआ स्थान.	यतिवर्य श्रीमान् बालचन्द्रजी.
१३	सूंधा पहाडी परका चाचिगदेवका लेख.	साहित्याचार्य पं. विश्वेश्वरनाथ शास्त्री.
१४	आबू पर्वतपरके प्रसिद्ध जैन मंदिर.	साहित्याचार्य पं. विश्वेश्वरनाथ शास्त्री.
१५	मारवाडके सबसे प्राचीन शिलालेख.	विद्वद्रत्न श्रीमान् पं. रामकर्णजी.
	(अंग्रेजी)	
1	Archaeological research a Jain duty.	Dr. Vincent A Smith M. A. Oxford.
2	Was Dharmdas gani Contemporary with Lord Mahavira ?	Dr. L. P. Tessitory Udine (Italy).
3	Jains & the Panchatantra.	Dr. Johannes Hertel Doebeln Saxony.
4	Jain studies, a desideratum.	Dr. F. W. Thomas London.



दी आनरेबल सर इलियट ग्राहम कालविन, के.सी.एस.आई., सी.एस.आई.,
आई.सी.एस., एजण्ट टु दी गवरनर जनरल फ़ार राजपुताना.
पेट्रन, जैन लिटरेरी कानफ़रेंस, जोधपुर.



श्री

जैन-साहित्य सम्मेलन.

कार्यविवरण—पहला भाग.

[फाल्गुन शुक्ल ६–७–८ स. १९७०, ता ३–४–५ मार्च स. १९१४]

'जैनसाहित्यसम्मेलन' का प्रथम अधिवेशन, इन दिनोंमें होनेका था, इसलिये, जोधपुरमें दो दिन पहिले हीसे, गुजरात–काठियावाड–दक्षिण–मारवाड–मेवाड पूर्व तथा पंजाबके डेलिगेट्सोंका आना शुरु हो गया था। सम्मेलनके सभापति, कलकत्ता संस्कृत कालेजके प्रीन्सीपल महामहोपाध्याय डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण, एम, ए, पी एच, डी महाशय, ता २ मार्च के सामके ७ बजे जोधपुर स्टेशनपर पधारे। जहाँ उनके स्वागतके लिये, स्वागतकारिणीसमितिके प्रेसिडेन्ट मूता बखतावरमलजी (सुप्रिन्टेन्डेन्ट कोर्ट ऑफ वॉर्डस), श्रीयुत श्यामबिहारीलालजी (रेवन्युमेम्बर रेसीडेन्सी कौन्सिल), सेठ गणेशमलजी (मंत्री स्वागतकारिणीसमिति), राजएड्वोकेट श्रीमान् किशनलालजी बी, ए. (मंत्री, स्वागतकारिणीसमिति), श्रीमान् सेठ चांदमलजी (भूतपूर्व दीवान कुंदनमलजीके पुत्र), श्रीमान् बच्छराजजी मुसाहब, श्रीमान् सुमेरचन्दजी (वाइस प्रेसिडेन्ट स्वागतकारिणीसमिति), वकील बालमचन्दजी (मंत्री, स्वागतकारिणीसमिति), तथा और भी कितने ही सभासद,

एवं स्वयंसेवक (वॉलन्टीयर्स) पहिलेहीसे उपस्थित थे। सभापति महोदयके गाडीसे उतरते ही मूहता बखतावरमलजी साहब, श्रीमान् सेठ गणेशमलजी तथा श्रीमान् किशनलालजीने फूलोंकी माला पहनाई। इसके बाद प्लेट फार्मके ऊपर वॉलन्टीयर्स पार्टिने स्वागत किया। तदनन्तर सरदारस्कूलकी ड्रीलपार्टिके ५० विद्यार्थियोंने अपनी कवायदके साथ सत्कार किया। स्टेशनके कम्पाउंडमें आते हुए बेंड जिने आपको मान दिया। इस समय सडकके दोनों किनारेपर एकही ड्रेसके १०० विद्यार्थियोंकी दो पार्टियाँ और ही शोभा दे रही थी। एक ओर ग्यासकी गहें बराबर चमक रहीं थीं। दूसरी ओर ५०० विद्यार्थियों तथा वॉलन्टीयरोंके एक ही ड्रेसने लोगोंके चित्तको आकर्षण कर लिया था। सभापतिमहोदयके ठहरनेके बंगलेतक हजारों मनुष्योंकी भीड लगी हुई थी। 'जिनवाणीमाताकी जय' 'जैनसाहित्यकी जय' 'जैनशासनकी जय' इस प्रकार जय २ शब्दोंसे सारा रस्ता गूञ्ज उठता था। सभापति महोदयके उतारेपर पहुँचनेके अनन्तर सब लोग अपने २ स्थानोंपर चले गये। पश्चात् दश मिनिट विश्रान्ति लेकरके दो तीन वॉलन्टीयरोंके साथ सभापति महाशय, शास्त्रविशारद-जैनाचार्य श्रीविजयधर्मसूरीश्वरजी महाराजके दर्शनार्थ उपाश्रयमें पधारे थे।

पाश्चात्य जैनविद्वान् डॉ० हर्मन जेकोबी महाशयका शुभागमन ता. १ मार्चके दिन सुबह ९ बजे हुआथा। उनका स्वागत भी बडे समारोहके साथ 'स्वागतकारिणीसमिति' ने किया था।

सम्मेलनके लिये सोजतिये दरवाजेके बाहर क्रीकेट मेदानमें राज्यकी तरफसे एक शामियाना खडा किया गया था। इसकी विशालता तथा चारों ओरके छोटे २ तंबूओंमे इस मेदानकी शोभा और ही प्रकारकी बनी थी। मंडपकी सजावटमें किसी प्रकारकी कमी नहीं थी। कम्पाउन्डमें पैठते ही सुनेरी मनोहर साइनबोर्ड, सचमुच ही लोगों० चित्तको हरण कर लेते थे। मंडप ऐसा विशाल बनाया गया था, कि जिसमें ६–७ हजार मनुष्य आसानीसे बैठ सकते थे। लोगोंको शान्तचित्तसे बैठानेके लिये वॉलन्टीयरों तथा उनके कप्तानोंका उद्योग प्रशंसनीय था।

मंडपके अग्र भागमें एक उमदा मञ्च बना हुआ था, जिसपर सभापति महोदय तथा डा० जकोबीके बैठनेके लिये सुंदर खुरसियाँ रक्खी हुई थीं। मञ्चके सामने नीचे

रीपोर्टरोंकी खुर्सियाँ तथा मेज लगे हुए थे। मञ्चके एक ओर मुनिगणको विराजनेके लिये सबसे ऊंची बैठक बनी हुई थी तथा दूसरी ओर यतिवर्योंकी उचित बैठक थी। मण्डपका देखाव इस समय बहुत ही रम्य बन रहा था। मण्डपमें रस्ते इस प्रकारके बनाए हुए थे कि, जिससे लोगोंको अपने २ वॉर्डोंमें जाने आनेमें किसी प्रकारकी तकलीफ नहीं होती थी। मण्टपके बाहरकी शान्तिके लिये राज्यकी तरफसे खास एक पुलीस टुकडी तीनों दिन बरोबर आया करती थी।

प्रथमदिन.

[ता. ३ मार्च १९१४].

लगभग दस बजेसे लोगोंका आना शुरु हो गया था। बारह बजे सारा मंडप चकाचक भर गया था। पश्चात् सभापति, श्रीसूरीश्वरजी महाराज, तथा डॉ० जेकोबीके पास डेप्युटेशन गये, और उनके मंडपमें आनेके बाद कार्यकी शुरुआत हुई।

यहाँ इतना कहना जरूरी होगा कि–इस समय उपस्थित डेलिगेट्स तथा विझिटर्सकी संख्या करीब छ हजारकी थी। जिनमें महाराजा फतेहसिंहजी, रावबहादुर पं. श्यामबिहारीलालजी मिश्र, ठाकुर इन्द्रसिंहजी, डॉ. मेजर-ग्रेट आई. एम. एस. ए. रेसिडेन्सीसर्जन, मीसीस मेजरग्रेट, कुमार चेनसिंहजी एम. ए. एल एल, बी, कुमार सुखसिंहजी, श्रीयुत नवरतनमलजी एम, ए, एल एल, बी. वगैरह स्थानिक ऑफीसर तथा विद्वद्रत्न पं. रामकरणजी, मुन्शी देवीप्रसादजी मुन्सिफ, साहित्याचार्य पं. विश्वेश्वरनाथजी शास्त्री तथा शीघ्रकवि पं० नित्यानन्दजी वगैरह पंडित लोग पधारे थे। इनके सिवाय बम्बई, अहमदाबाद, राधनपुर, भावनगर, पालीताना, कुंडला, वळा, कलकत्ता, आग्रा, अजमेर, बीयावर, सोजत, बीकानेर, पाली, सादरी, बनारस, उदेपुर, फलोधी, नागोर, प्रतापगढ, तिवरी, सुमेरपुर, बालोत्रा, कराची तथा खिलाडा वगैरह [illegible] आठसो डेलिगेट्स आए थे। इनके उपरान्त चालीसके करीब साधु [illegible] तथा बीसके करीब यतिवर्य थे। भिन्न भिन्न देशोंके मिले हुए ५–६ हजार मनुष्योंका

कार्यकी शुरुआतमें मुनिवर्गकी तरफसे जैनसाहित्यके उत्कर्षके लिये जिनेश्वरकी स्तुति बोलनेमें आई। पश्चात् शास्त्रविशारद-जैनाचार्य श्रीविजयधर्मसूरीश्वरजी महाराजने कहाः—

" इस सभामें भिन्न २ धर्म तथा भिन्न २ भाषाके लोगोंको, साहित्यके उत्कर्षके लिये मिले हुए देखनेसे मुझे बहुत आनन्द होता है। साहित्यकी खोज करना प्रत्येक मनुष्यका कार्य है, किन्तु निंदा या खंडन करना क्या है, मानो अपना ही खंडन करना है। देखिये, शरीरमें दो हाथ पृथक् २ हैं, शरीरके अवयव भिन्न २ हैं, परन्तु वे परस्पर विरुद्ध नहीं है। उनमें एक दूसरेके साथ झगडा नहीं है। यदि वे झगडा करें—आपसमें विरुद्ध हो जायँ, तो सारे शरीरका अहित कर डालें। सज्जनो! आप देखिये कि—पानी और दूधका सम्बन्ध होता है, तब पानी दूधमें गिरते ही, दूध अपना रंग पानीको दे देता है, और उससे मित्रता करता है। इसके बाद उस दूधको जब अग्निपर चडाया जाता है, तब मित्रताके स्नेहसे, पानी दूधको नहीं जलने देता है खुद जलता है। इधर दूध, अपने मित्र (पानी) को जलते हुए देख करके उछल कर अग्निमें गिरने लगता है। इस समय यदि उसमें जल दिया जाय, तो वह शान्त हो जाता है।

इस दृष्टान्तको स्मरणमें रख करके, आप लोगोंको प्रत्यहं मैत्रिभावना रखनी चाहिये। और ऐसे २ उन्नतिके कार्योंमें अवश्य मिल करके कार्य करना चाहिये।

जिस समय मैंने साहित्यसम्मेलन करनेका विचार-निश्चय किया था, उस समय मेरे मनमें यह ख्याल नहीं आया था कि—जैसा मेरा उत्साह है वैसा और लोगोंका भी उत्साह होगा। परन्तु आज सभी मनुष्योंके इस कार्यमें एक समान उत्साह और प्रेमको देख करके मुझे जो आनन्द होता है, वह सचमुच ही अनिर्वचनीय है। शासनदेवसे प्रार्थना करता हूँ कि—इस अधिवेशनका कार्य निर्विघ्नपनेसे—सुयशःसिके साथ पूरा हो।" इत्यादि शब्दोंमें प्रभावशाली व्याख्यान दिया।

तदनन्तर 'श्रीसिद्धक्षेत्रजैनसंगितमंडली' के पात्र बालकोंने हारमोनियमके साथ स्वर मिला कर मधुरध्वनिसे, न्यायतीर्थ पं. नित्यानंद शास्त्री विरचित मंगल गीत गायाः—

(गजल)

जय त्वं देव ! देवानां, जय त्वं नाथ ! नाथानाम् ।
जय त्वं पूज्य ! पूज्यानां, जय त्वं मुख्य ! मुख्यानाम् ॥ १ ॥
अनन्तं देहिनोऽवन्तं, प्रभावन्तं दयावन्तम् ।
वसन्तं मानसे सन्तं, परेशं तं भजे सन्तम् ॥ २ ॥
स्ववैदुष्यान्निरालम्याः, सदस्याः सद्गुणैः शस्याः ।
सदा वः स्वागतं भूयात्, सभाया मङ्गलं भूयात् ॥ ३ ॥
प्रसादाद् यस्य सत्कार्यं, विभातीदं समेतार्यम् ।
स धन्यो धर्मसूरीन्द्रः, प्रशस्तो जैनयोगीन्द्रः ॥ ४ ॥
अहो यो जर्मनीवासी, सुसम्यक्–स्वर्गगीर्भाषी ।
विदञ्जैनागमं धीमान्, स 'जेकोबीः' सदाऽऽयुष्मान् ॥ ५ ॥
बुधो यस्य प्रजा चेष्टा, सुमार्गारोहिणी स्वेष्टा ।
अयं जीयाद् यथा वेन्दुः, सभाधीशः सतीशेन्दुः ॥ ६ ॥

इसके बाद स्वागतकारिणी समितिके मंत्री श्रीयुत किशनलालजी बी. ए. ने, महामहोपाध्याय डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण एम, ए, पी एच, डी. महोदयका परिचय कराकरके, आपके लिये ही सभापतित्वका पद नियत हो, ऐसा प्रस्ताव किया । इस प्रस्तावका अनुमोदन भावनगरके सेठ कुवरजी आणंदजीने किया । पश्चात् उपस्थित सज्जनोंकी करतलध्वनिके साथ, सभापति महोदयने अपना आसन स्वीकृत किया ।

तदनन्तर स्वागतकारिणीसभाके सभापति मूता वख्तावरमलजी साहबका भाषण हुआ । और इधर सभामें उस भाषणकी छपी प्रतियाँ भी बाँटी गईं ।

---

१ संगतसाधुलोकम् । २ सम्यक्प्रकारेण स्वर्गगिरा संस्कृतवाग्या भाषते तथाभूत । अयं महाशयः कविना सह संस्कृतवाचैव आलपति स्म तथैव वर्णितम् । ३ बुधो विद्वान् । चन्द्रपक्षे बुध: सौम्यः (प्रजा) । ४ सुमार्गं साहित्यसम्मेलनादिरूपं आरोहति तच्छीला प्रजा इति प्रस्तुतपक्षे । चन्द्रपक्षे तु स्वेष्टा स्वप्रिया सुमार्गा शोभनस्थानावगाहिनी रोहिणीति व्यस्तत्वेनार्थो ज्ञेय. । ५ सभाया अधीश. । चन्द्रपक्षे तु स. भाधीश· नक्षत्रपतिः ।

स्वागतकारिणीसमितिके सभापतिकी

वक्तृता.

ॐ श्रीवीतरागाय नम: ॐ

मान्यवर, जैनसाहित्यके प्रेमीसज्जनो !

आज आपलोगोंको इस मण्डपमें एकत्रित देख करके मेरा अन्तःकरण फूले नहीं समाता है। मेरे पास ऐसे शब्द नहीं हैं कि जिनके द्वारा मैं मेरा आनन्द प्रदर्शित करूं। फिर भी इतना तो अवश्य कहूंगा कि, मेरे लिये ऐसा सौभाग्यका दिन आज ही प्राप्त हुआ है। और इससे मैं अपनी आत्माको भाग्यशाली समझता हूं। इसके साथ ही साथ मैं एक और बात भी कहदेना समुचित समझता हूं। वह यह है कि हमारे नगरनिवासी भाई, साहित्यसम्मेलन जैसे कार्यमें, स्वागत करनेका कार्य किसी बडे महानुभाव को देते, तो वह बहुत उत्तमता के साथ सफलताको प्राप्त होता। परन्तु जब हमारे नगरनिवासी भाइयों ने मेरे ही पर इस कार्यका भार रक्खा है, तब मैं इस कार्यमें प्रवृत्त होता हुआ पुनः महानुभावों का उपकार मानता हूं। और मैं आशा करता हूं कि मेरे कार्यमें जो कुछ त्रुटियाँ रह जायँ, उसके लिये आप लोग क्षमा करें।

साहित्यसम्मेलनका जन्म कैसे संयोगोंमें हुआ ?।

इस बात के कहने की भी आवश्यकता नहीं है, कि, श्रीजैनसाहित्यसम्मेलनका यह प्रथम ही अधिवेशन है। इस सम्मेलन के उत्पादक हमारे परमपूज्य प्रातःस्मरणीय शास्त्रविशारद जैनाचार्य श्रीमान् विजयधर्मसूरिजी महाराज ही हैं। आप ने पहिले पहल इस सम्मेलनको, सोजत में करानेका उपदेश दिया था, और वहा के हमारे जैन भाइयोंने इस बातका स्वीकार भी करलिया था। परन्तु जब यह बात हम लोगोंने सुनी, तब हमारे यहा के जैन भाइयों का यह विचार हुआ कि "साहित्यसम्मेलन" जैसा कार्य यदि जोधपुर में हो तो बहुत ही अच्छी बात है।" इस बात पर यह निश्चय हुआ कि–सूरीश्वरजी महाराज को यहा पधारने के लिए विनति करनी चाहिये, और साहित्यसम्मेलन के लिये भी प्रार्थना करनी चाहिये।

इस विचार को निश्चय करके हमारे भाइयोंने उन दोनों बातों के लिये सूरीश्वरजी महाराज से विनति की। हम सूरीश्वरजी महाराज के पूरे अनुगृहीत हैं कि जिन्होंने हमारी विनतिको स्वीकार किया और बडे कष्टोंको सहन करके भी आपने हमारे जोधपुर नगर को पवित्र किया ॥

राजपूताने (राजस्थान) की पवित्रता।

किसी भी देश की पवित्रता, उस देश में बने हुए बायोंसे तथा उस देशके पवित्रस्थानों से मानी जाती है। हम लोगों को इस बात का बडा भारी गौरव है कि, यह राजपूताना पवित्रता में किसी भी देश से न्यून नहीं है। प्रत्युत मैं निश्चयात्मक कह सकता हूं कि यह और देशो से बढा चढा है। क्योंकि यह वही देश है, जिसमें श्रीमान् रत्नप्रभसूरिने, महावीरस्वामी से ७० वर्ष के पश्चात् उपकेशपट्टन में (जिसको आज कल ओसियांजी कहते है) ओसवाल जाती की स्थापना की थी। यह वही देश है कि जिसमें, नाहड मंत्री ने सचोर (सत्यपुर) नगर में महावीरस्वामी के मंदिर की स्थापना की थी। यह वही देश है, जिसमें श्रीमान् वादिदेवसूरिने फलवर्धि (फलोधी) तीर्थ की स्थापना की थी। यह वही देश है, जिसमें हस्तिकुंडीके राष्ट्रकूट राजा विदग्धराजने, वि० सं० ९७३ में बलभद्राचार्य को दान पत्र दिया था। यह वही देश है, जिसमें श्रीमान् जगचन्द्रसूरिने 'तपागच्छ' ऐसा बिरुद प्राप्त किया था। यह वही देश है जिसमें मानदेवसूरिने शान्तिकी रचना की थी। यह वही देश है, जिसमें श्रीमान् देवसूरिने नागोर के आल्हादन राजा को प्रतिबोध किया था। और यह वही देश है, जिसमें वादिवेतालशान्तिसूरिने, नाडोल नगर में श्रीमान् मुनिचन्द्रसूरि को न्यायशास्त्र का अभ्यास कराया था। कहां तक कहाजाय? श्रीमान् विजयसेनसूरि भी, जिन्होंने अकबर बादशाह को प्रतिबोध दिया था, इसी देश के नाडलाई नगर के थे। श्रीमान् विजयक्षमासूरि का जन्म भी इसी देश के पाली नगर में हुआ था। विजयधर्मसूरि नाम के आचार्य वि० सं० १८०८ में इसी देश के काछोली गांव में गच्छ नायक हुए थे। जिनेन्द्रसूरि भी, जो वि० सं० १८०८ में हुए हैं, इसी देश के शुद्धदन्ती (सोजत) नगर में हुए हैं। तथा श्रीमान् विजयदेवेन्द्रसूरिका जन्म भी इसी देश के सेवाच (सेवाडा) नगर में हुआ था।

सज्जनो ! आप समझ सक्ते है कि, जिस देश में ऐसे २ महत्कार्य हुए हों तथा जिस देश में ऐसे २ महात्मा लोगों के जन्म हुए हों, उस देश को कैसा पवित्र मानना चाहिये ?।

राजपूतानामें प्राचीन तीर्थ ।

राजपूताना, उपर्युक्त महात्माओंके कार्योंसे, तथा उनकी जन्मभूमि होनेसे पवित्र माना जाता है, इतना ही नहीं, परन्तु हमारे इस देश में रहे हुए प्राचीन तीर्थ भी इसकी पवित्रता में मुख्य कारण हैं । एक नहीं अनेकों तीर्थ इस देश में विद्यमान हैं, इसी कारण हमारे इस देश को सर्वोत्कृष्ट कहने का, हमें साहस होजाता है । जिस आबू के मन्दिरों की प्रशंसा करते हुए, एतद्देशीय तथा पाश्चात्य विद्वान् लोग भी थक गये, वे आबूजी के मन्दिर हमारे इसी देश के भूषणभुत हैं। इन्हीं मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराने वाला लल्का पूर्वज जेल्हक श्रावक भी इसी देश के एक विभाग की प्राचीन राजधानी मडोर का रहने वाला था । वह राणकपुरका प्राचीन तीर्थ कि, जिसका वर्णन हम शास्त्रों में जगह २ पढते हैं, भी इसी देश में मौजूद है । इसके साथ वरकाणा, नाडोल, नाडलाई, तथा घाणेराव इन प्राचीन तीर्थोंको कि, जिनको पंचतीर्थी कहते हैं, वेभी हमारे इसी देश में ही हैं। इस पचतीर्थी की यात्रा करने के निमित्त सैंकडों यात्री प्रतिवर्ष आते हैं । इसके सिवाय और भी एक छोटी पचतीर्थी है । वह इतनी प्रसिद्धि में नहीं है, जितनी बडी है । इन दोनों पंचतीर्थियों तथा आबूजी के सिवाय और भी बहुतसे छोटे २ तीर्थ हैं। जैसे —काप-डहेडा, लोधरवापार्श्वनाथ, फलोधीपार्श्वनाथ, तथा नाकोडा इत्यादि । यहां पर मैं एक बडे भारी तीर्थका नाम भूल गया, जिसका नाम है श्रीकेशरीयाजी । यह राजपूतानाका ही सौभाग्य है कि जिसमें केशरियाजी जैसा बडा भारी तीर्थ भी विद्यमान है । सज्जनो ! इन तीर्थों से यह राजपूताना पवित्र गिना जाता है, इतनाही नहीं इन मन्दिरों के द्वारा हमारे इस देशने एक और बात का भी सौभाग्य प्राप्त कर लिया है, वह यह है कि जैनसाहित्यका एक अंग, जिसको शिल्पविद्या कहते हैं, उसकी भी रक्षा यह देश कर सका है । क्योंकि हमारे उपर्युक्त प्राचीन तीर्थोंमें शिल्पविद्या के ऐसे २ नमूने—कारीगरी विद्यमान हैं कि जिनकी बराबरी करनेवाली कारीगरी आज संसार भरमें नहीं दिखाई देती । क्या हमारे लिये यह अल्प गौरव का कारण है ? कदापि नहीं ।

जैनसाहित्य के भंडार।

गुजरात, काठियावाड तथा दक्षिण देशमें जैनसाहित्यके अनेक भंडार हैं, परन्तु हमारे इस देशमें भी कुछ कम नहीं हैं। यदि खोज की जाय तो इसी राजपूताने से सैंकडों भंडार मिलेंगे ? जेसलमेरका भंडार, जिसकी प्रसिद्धि समस्त देशोंमें हो चुकी है, वह भी इसीही देश में है, इसके सिवाय और भी कई भंडार इस देशमें विद्यमान हैं। उन सभी भंडारोंके उद्धार करने के लिये एक कमेटी स्थापित होनी चाहिये। कमेटीके सिवाय यह काम होना बहुत कठिनसा दीख पडता है।

साहित्य प्रचारक।

यह मैं दृढतापूर्वक कह सकता हूं कि—श्रीजैनसाहित्य के प्रचारक जैसे इस देशमें हुए हैं, वैसे शायद ही और किसी देशमे हुए हों। जब हम प्राचीन आचार्योंके जीवन चरित्रों को देखते हैं, तब हमे यह निश्चय होता है कि—जैनसाहित्य के प्रचार करनेवाले प्रायः सभी आचार्योंने इस देश में साहित्यका प्रचार किया है। कालकी विचित्र गति है, उन्नति और अवनति के प्रवाह में सभी को प्रवाहित होना पडता है। इस नियम के अनुसार आजकल हम लोग इस बात से बहुत पीछे रहे हुए हैं, परन्तु देखियेः—श्रीमान् हरिभद्रसूरिजीने १४४४ ग्रन्थोंके द्वारा जैनसाहित्यकी वृद्धि इसी देशमें कीथी। इसी देशकी हस्तिकुण्डिका नगरीमें शान्त्याचार्यने जैनसाहित्यका प्रचार किया था और इसी नगरीके राष्ट्रकूट राजा विदग्धराज तथा मम्मटराजने जैनसाहित्य के प्रचारार्थ प्रयास किया था। मुनिचन्द्रसूरिने उपदेशपदकी टीकाके द्वारा जैनसाहित्यकी सेवा इसी देशमें की थी। वादिदेवसूरिने भी इसी देशमें जैनसाहित्यका बहुत प्रचार किया था। वि० सं० ९३८ के आसपास, श्रीमान् वीरसूरिने इसी देशमें जैनसाहित्यके प्रचार करनेके लिये वीरता दिखाई थी। वि० सं० १२५६ के आसपास जालोर मे पूर्णदेव तथा चन्द्राचार्यने जैनसाहित्यका प्रचार किया था। और श्रीमान् पूर्णभद्राचार्यने, पंचतंत्र की संशोधित आवृत्तिका प्रचार भी वि० सं० १२५५ में इसी देशमें कियाथा। कहनेका तात्पर्य यह है कि, इस देशमें जैनसाहित्यके प्रचार करनेवाले अनेक आचार्य होगये हैं। मैं क्यों भूलता हूँ ! मेरे अनुमानसे तो हमारे परमपूज्य श्रीमान् यशोविजयजी उपाध्याय तथा श्रीमान् आनन्दघनजी महाराज भी इसी देशके साहित्य प्रचारको में से हैं।

सज्जनो ! जिस देशमें किसी समय जैनसाहित्यकी ऐसी अवस्था थी, उस देशकी प्राचीन अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये उद्योग करना, यह अपना पहिला कर्तव्य है। आज हमारे साहित्य प्रेमी–जिनवाणी माता के प्रति प्रेम रखनेवाले बन्धुओंका, उस दिशाकी ओर प्रयाण देख करके मुझे बहुत ही हर्ष होता है।

श्रीजैनसाहित्यसम्मेलनकी आवश्यकता।

किसी भी साहित्यकी उन्नति करनेका यदि कोई भी प्रबल साधन है, तो वह साहित्यसम्मेलन ही है। साहित्यसम्मेलनके द्वारा यह विचार होसकता है कि–साहित्य की उन्नति किस प्रकार से करनी चाहिये ?, मैं इस सम्मेलनकी ओरसे शास्त्रविशारद-जैनाचार्य श्रीविजयधर्मसूरीश्वरजीको अनेकश: धन्यवाद देता हूं कि, जिनके उपदेशसे यह साहित्यसम्मेलनका प्रथम अधिवेशन होता हैं। साहित्यसम्मेलनकी कितनी आवश्यकता थी, इस बातको आपलोग अच्छी तरह से जानते होंगे। और जिस बातकी आवश्यकता थी, उस बातकी पूर्तिको देख कर, ऐसा कौन मनुष्य होगा जो अन्तःकरणसे प्रफुल्लित नहीं होता होगा ?। हम लोग अधिक प्रसन्न इस बात से हैं कि–प्रथम अधिवेशन करनेका सौभाग्य हमारे ही नगरको मिला।

सज्जनो ! मैं एक बात यहाँपर अवश्य कहना चाहता हू। वह यह है कि–ऐसे साहित्यसम्मेलन करनेके लिये कमसे कम ५–७ महीनों पहिलेसे चर्चा फैलानेकी आवश्यक्ता थी, परन्तु इसके साथ यह भी अवश्य कहूंगा कि–ऐसे कार्योंके लिये किसी न किसी समय शीघ्रता भी करनी पडती है। समयको चूक जाने पर, कार्य होनेमें संदिग्धता प्राप्त हो जाती है। मेरी समझमें इस साहित्यसम्मेलनको भी थोडीसी शीघ्रताका सामना करना पडा है। परन्तु इतने थोडे समय में भी इसकी चर्चा फैलानेमें कुछ कमी नहीं रही। आज सारे साक्षरवर्गोंमें 'जैनसाहित्यसम्मेलन' की चर्चा फैली हुई है। इतने थोडे दिनों में भी यह सम्मेलन, प्रायः समस्त साक्षरोंकी सहानुभूति प्राप्त कर सका है, यह थोडे आनन्दकी बात नहीं है। आप लोगोंको इस बातसे अत्यन्त ही प्रसन्नता होगी कि–इस सम्मेलन में हमारे तीनों सम्प्रदाय वाले भाइयोंने सहानुभूति प्रकट की है, इतना ही नहीं, परन्तु यथाशक्ति सहायता भी दी है वास्तवमें देखा जाय तो ऐसी बातों में सभी को मिलकरके

काम करना ही चाहिये। और इस संम्मेलनमें इसी नियमानुसार सभीने पधार कर हम लोगोंको अनुगृहीत किये हैं, इसके लिये मैं अनेकशः धन्यवाद देता हूँ।

सम्मेलनमें क्या करना चाहिये।

सज्जनो! आप लोग अच्छी तरहसे जानते हैं कि, ऐसे साहित्य सम्मेलनोंका ठीक उद्देश यही होता है कि, साहित्यकी उन्नति पर विचारोंका संग्रह करना। अर्थात् साहित्यसम्मेलन वही है कि 'साहित्यसंबन्धि चर्चा करने वाला एक मंडल'। मेरी समझ में ऐसे मण्डलको पुस्तकें छपाने-लिखाने इत्यादि काम हाथमें नहीं लेना चाहिये। हां! यह मण्डल, छपवानेवाली या लिखानेवाली संस्थाओं को सलाह दे सकता है। सम्मिलन तो ऐसे विचारोंको ही हरदम प्रकाशित करता रहे कि—इस समय में किस प्रकारसे कार्य करनेसे साहित्यकी उन्नति होसकती है?

मेरी समझ में एक यह भी बात आती है कि, ऐसा सम्मेलन यदि प्रति वर्ष न भी किया जाय, तो कोई हरज की बात नहीं है। क्योंकि ऐसे सम्मेलनके द्वारा कुछ कार्य होना चाहिये। इसकी एक कमेटी नियत करके खूब विचारों का प्रचार कियाजाना जरूरी है। बीच बीचमें एक या दो वर्षों को छोड करके सम्मेलनका अधिवेशन हो।

भिन्न २ भाषाओंके द्वारा जैनसाहित्यके प्रचार करनेकी आवश्यकता।

सज्जनो! इस बात के कहने की आवश्यकता नहीं है की, जैनसाहित्यका प्रचार करना, यह अपना मुख्य उद्देश है। यह उद्देश क्योंकर पूरा होसकता है?। इसके उत्तरमें मैं यही कहुंगा की जैनसाहित्यके ग्रंथोंको आजकलकी प्रचलित भाषाओंमें नवीन स्टाइलसे लिखकरके प्रकाशित करना चाहिये। जबतक भिन्न २ भाषाओंमे जैन-साहित्यकी पुस्तकें नहीं प्रकाशित होंगी, तबतक जैन-साहित्यका जैसा चाहिये वैसा प्रचार नहीं होसकता। आप लोग जानते होंगे कि, जैनसाहित्य, विशेष-करके संस्कृत और प्राकृत भाषामें रहाहुआ है। परन्तु वर्तमान समयमें उन भाषाओंमें साहित्यके रहनेसे इतना उपकार नहीं होसकता, जितना आजकलकी प्रचलित भाषाओंमें साहित्यके प्रकाशित होनेसे होसकता है। इसलिये

भिन्न २ भाषाओंमें जैन पुस्तकोंके प्रकाशित करवानेकी मैं आवश्यकता समझता हूं।

सज्जनो! अब मैं आप लोगोंका अधिक समय लेना नहीं चाहता। संक्षेपसे मैं यही कहूंगा कि जिसप्रकार से बने आप लोगोंको जैन साहित्यकी उन्नति करनेके लिये कटिबद्ध होजाना चाहिये। यह सम्मेलन किसी एकव्यक्ति विशेष का नहीं है। जैन-साहित्यसे प्रेम रखनेवाले, श्वेताम्बर-दिगम्बर-स्थानकवासी तो क्या, जैनेतर ही क्यों न हो, लेकिन यह सभीका है। इस लिये जिस तरह बनसके, इस सम्मेलनको स्थायिरूपसे बना करके श्रीजिनवाणी माताकी खूब सेवा करिये, यही मेरा अनुरोध है।

विशेष हर्षकी बात।

यह बात सुविदितही है कि हमारी जैन-जाति शांतिप्रिय जातियोंमेंसे एक है। यह प्रजा हमेशा शान्तिको चाहनेवाली है, और इसकी कदर हमारी गवर्नमेन्ट ऑफ इन्डिया भी अच्छी तरह से करती है। हमारे प्रत्येक कार्यों मे सरकार से बडी सहायता मिलती ही रहती है, इसी नियमके अनुसार, मुझे बडे हर्ष के साथ कहना पडता है कि हमारे इस साहित्यसम्मेलनके कार्यमें भी, हमारे राजपूतानाके एजट टु दी गवर्नर जनरल सर इ० जी० कालिवन साहिबने पेट्रन होना स्वीकार किया है। तथा जोधपुर राज्य की तरफ से भी हमको बहुत सहायता मिली है। हम उन दोनों के अनुगृहीत हुए है।

डॉ० जेकोबी साहेबका शुभागमन।

जर्मन देशके सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० जेकोबी साहिबके इस सम्मेलनमें पधारनेसे इस सम्मेलनकी शोभा कई गुनी बढी है, इस बातके कहने की आवश्यकता नहीं है। आप चालीस वर्षोंसे जैन-साहित्यका अभ्यास कर रहे हैं, इतनाही नहीं, परन्तु पाश्चात्य देशोंमें कितने ही जैन स्कॉलर तय्यार किये हैं। वे स्कॉलर ही नहीं हैं, परन्तु उन देशोंके जैन-साहित्य के प्रचारक भी हैं। हम जेकोबी महाशयको

अनेकशः धन्यवाद देते हैं कि—जिन्होने सम्मेलनमे पधार करके हमलोगों को अनुगृहीत किया है।

उपसंहार।

सज्जनो! आप लोग जानते ही हैं कि यह जोधपुर नगर ऐसा धनी स्थानो में नहीं हैं, जो आर्थिक आडंबरसे आपलोगोका स्वागत कर सके। मैं जानता हूं कि आपलोगो का यह कार्य बहुत बडा है। आपलोग जैन साहित्यके—जिन वाणीमाताके सच्चे प्रेमी हैं। तबही, आप सारे व्यवहार कार्योंको छोड करके यहां पधारे हैं। इस अवस्थामे हम लोग आपलोगोंका जितना सत्कार करे, उतना थोडा है। परन्तु हम आशा करते हैं कि आपलोग हमारी त्रुटियोकी तरफ विचार न करके हमारी यत्किंचित् सेवा से प्रसन्न ही होंगे। महाशयो! आप लोगोंके दर्शन से मुझे इस वक्त जो आनद होरहा है, वह मैं किसी तरह प्रकाशित नहीं करसकता। मुझे इस अवसर पर वह दिन याद आता है जबकी श्रीजैनश्वेताम्बर कान्फरेन्स की पहली बैठक हमारे ही देश मे (फलोधी) हुईथी। आज भी हमारे लिये बडा भारी गौरव का कारण है कि श्रीजैन साहित्य-सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन भी इसी देशमें होता है। मैं शुद्धअन्तःकरणसे आपलोगोंको तथा जिन महाशयोंने हमको, पहिलेसे ही पत्रोंके द्वारा सूचनाए करके अनुगृहीत किये हैं, उन सभीको धन्यवाद देता हुआ तथा शासन देवसे, इस सम्मेलन की सफलता की प्रार्थना करता हुआ मेरे वक्तव्य को यहा समाप्त करता हू। शान्ति शान्ति. शान्तिः



इस प्रकार 'स्वागतकारिणी सभा' के सभापति महाशयका व्याख्यान समाप्त होनेके बाद सभापति महोदयकी आज्ञासे श्रीयुत देवचन्दभाई दामजी, एडीटर 'जैन' ने, बाहरसे सहानुभूति सूचक जो तार तथा पत्र आए थे, उनके नाम सुनाए। उन नामोंमें प्रसिद्ध ये भी थे:—

१ पंन्यासजी श्रीकेशरविजयजी, मोरबी।
२ रायबहादुर बद्रीदासजी एन्ड सन्स, कलकत्ता।
३ सेठ भोगीलाल वीरचन्द जे, पी, बम्बई।

४ रायबहादुर बुद्धिसिंहजी दुधेडिया, अजीमगंज ।

५ बाबू पुर्णचंदजी नाहर, बी. ए एल. एल, बी , अजीमगंज ।

६ सोलीसीटर मोतीचंद गीरधर बी. ए. एल. एल. बी., बम्बई ।

७ सेठ गुलाबचन्दजी ढढ्ढा एम. ए, बम्बई ।

८ सेठ वेणीचन्द सूरचन्द, महेसाना ।

९ भगुभाई फतेचन्द कारभारी, बम्बई ।

१० मोहनलाल दलीचन्द देसाई बी. ए. एल. एल. बी बम्बई ।

११ अधिपति ' दिगम्बरजैन ' सुरत ।

१२ एडीटर ' सत्यवादी ' बम्बई ।

१३ बाबू रखालदास, बी. ए. मेरठ ।

१४ एम ए मुकरजी डिप्टीमेजिस्ट्रेट पुरलिया (बंगाल)

१५ कुमार देवेन्द्रप्रसाद, आरा ।

१६ वकील अजितप्रसादजी एम. ए. एल. एल. बी. लखनऊ ।

१७ डॉ. एल. डी. बर्नेट, लंडन ।

१८ डॉ. विन्सेन्ट स्मीथ, ऑक्सफॉर्ड ।

१९ कुमार दिग्विजयसिंह विधूपुरा (इटावा)

२० नाथुराम प्रेमी, एडीटर ' जैनहितैषी ' बम्बई ।

२१ सा. वीरघोर भीमजी, शीरपुर ।

२२ सा. मनसुखलाल रवजी, बम्बई ।

२३ सा. चुनीलाल छगनलाल श्रॉफ, दमण ।

२४ गोकलदास कहानजी गांधी, टंकारा ।

२५ एस. के. बिलवॉलकर, एम. ए. केम्ब्रिज (अमेरीका)

२६ सी. एच. दलाल, बरोडा सीटी ।

२७ श्रीमान् प्रभाकरसूरि, जैनप्रबोधमण्डल, जालना ।

२८ पं. गोकुलचन्द्र भावन राजज्योतिषी, जयपुर ।

२९ ए एम. शाह, कलकत्ता ।

३० हरविलासशारदा, एम आर. ए. एस एफ आर. एम एस. अजमेर ।

३१ यति रामग्गलजी, बीकानेर ।

३२ जीवणचन्द साकरचन्द जौहरी, बम्बई ।
३३ सर चार्ल्स इलियट युनिवर्सिटी, हागकाग ।
३४ हीराचन्द लीलाधर जौहरी, बम्बई ।
३५ डॉ. जी. मार्शल आर्चियोलोजिकल डायरेक्टर जनरल ।
३६ रायबहादुर महेता पन्नालालजी सी. आइ. इ. उदयपुर ।
३७ सा. पोपटलाल त्रिभुवनदास कराची ।
३८ हरजीवनदास रायचन्द साह, आमोद ।
३९ कीशनचन्दजी जालमचन्दजी भडारी, देवास ।
४० दुलभदास त्रिभुवनदास, मोरबी ।
४१ चुनीलाल मूलचन्द कापडिया, एम ए. बम्बई ।
४२ चेतनदास बी ए. सुलतानपुर ।
४३ रतनलाल नागरदास, आनद ।
४४ लाला वैजनाथजी, देहरादून ।
४५ डॉ० सी. एच. टॉनी केम्बरली (इग्लड)
४६ सेक्रेटरी मागरोल जैनसभा, बम्बई ।
४७ डॉ० जे एस. बर्जस, एडिनबर्ग ।
४८ राय सेठ चादमलजी, प्रेसिडेन्ट स्थानकवासी कॉन्फरन्स, अजमेर ।
४९ सेठ चन्दनमलजी नागोरी, छोटीसादडी ।
५० पडित शिवनाथ शर्म्मा, सम्पादक ' आनन्द ' लखनऊ ।
५१ पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी, सम्पादक ' सरस्वती ' कानपुर–जूही ।
५२ डॉ. एस. क्रीस्टे ग्रेज–आस्टरिया ।
५३ श्रीयुत समर्थमलजी सिंघी, सिरोही ।
५४ श्रीयुत मणिलाल उदानी एम. ए एल. एल. बी. बम्बई ।
५५ रायबहादुर माणिलाल नाहर, अजीमगंज ।
५६ वकील भोगीलालजी, आधिपति ' धन्वन्तरी ' बीसनगर ।
५७ वैद्य जटाशकर, अधिपति ' वैद्यकल्पतरु ' अहमदाबाद ।
५८ पडित माधवजी खीमजी, सहकारी सम्पादक ' वैद्यकल्पतरु ' अहमदाबाद ।
५९ श्रीयुत बाबू क्रोडीचन्दजी मत्री, ' जैनसिद्धान्तभवन ' आरा ।
६० स्वामी सद्गुरुप्रसाद शरण. तुलसी सत्सग, पचोली (हरदोई)

इस प्रकार नाम सुनानेके अनन्तर निम्न लिखित निबन्धोंके नाम भी सुनाए, जोकि स्वागतकारिणीसमितिकी प्रार्थनासे लेखकोंने लिख भेजे थे। या साथ लेकर उपस्थित हुए थे।

अंग्रेजी.

1 Jain studies, a desideratum. — Dr. F. W. Thomas London.
2 Archaeological research a Jain duty. — Dr. Vincent A. Smith M. A. Oxford
3 Was Dharmadas gani — Contemporary with Lord Mahavira? — Dr. L. P. Tessitory Udine (Italy).
4 Jains & the Panchatantra. — Dr. Johannes Hertel Doebeln Saxony.

हिन्दी.

५ जैनसाहित्यमें पदार्थकी व्यवस्था। — न्यायतीर्थ–न्यायविशारद प्रवर्तक श्रीमंगलविजयजी।
६ जैनसाहित्यमें इतिहासके साधन। — मुनिराज श्रीविद्याविजयजी।
७ जैनसाहित्यकी उत्तमता। — मुनिराज श्रीमाणेकमुनिजी।
८ प्राचीन खोजकी आवश्यकता। — मुनिराज श्रीविद्याविजयजी।
९ जैनसाहित्यमें विविधविषयोंको मिला हुआ स्थान। — यतिवर्य श्रीबालचन्द्रजी।
१० आबूपर्वतपरके प्रसिद्ध जैनमंदिर। — साहित्याचार्य पं. विश्वेश्वरनाथ शास्त्री।
११ सून्धापहाडीपरका चाचिगदेवका लेख। — साहित्याचार्य पं. विश्वेश्वरनाथ शास्त्री।
१२ मेरे दफ्तरके कुछ नमूने। — मुन्शी देवीप्रसादजी मुन्सिफ, जोधपुर।
१३ राजपूतानाके जैन शिलालेख। — विद्वद्रत्न पं० रामकर्णजी जोधपुर।

गुजराती.

१४ जैनसाहित्यनी उत्तमता। — मुनिराज श्रीभक्तिविजयजी।
१५ जैनसाहित्यमां जैनसूत्रोंनुं प्रमुखस्थान। — मुनिराज श्री रत्नविजयजी।
१६ जैनसाहित्यमां गुजराती भाषाने मळेलुं स्थान। — मुनिराज श्रीमाणेकमुनिजी।



M. M. Dr Satishchandra Vidyabhushan M. A. P. H. D.
(President Jain Literary Conference Jodhpur)

આનંદ પ્રેસ—ભાવનગર

ears ago down to the present time its contributions to the ounin of thought are not inconsiderable and some of the works ublished have been the wonder of the world of letters, and here are many scholars, both in India and abroad, already in he field to exploit this new mine of knowledge.

The ancient works of Jaina literature were written in Prarita and Sanskrit, but, about seven hundred years ago, in rder to reach the people, the old books were translated and iew books written in Marhatti, Hindi, Bengali and principally n the Gujrati language.

It should be the endeavour of this Jaina literary Conference o bring out authoritative and exhaustive editions of old works ind also to translate them into the various dialects of India, ind, as it is not possible to get due recognition of any work n these days unless and until it is made known in Europe, it should also be the aim of this Conference to produce translations of their valuable works in English, French and German. A beginning has already been made in this direction by Dr. Hermann G. Jacobi and other European savants. It is a matter of sincere satisfaction that Indian scholars are not behind hand in this matter.

I feel it to be a great honour to be invited to speak something in this learned gathering. I am however really at a loss to make out where to begin. the objeot of the Coference is so vast, and my audience so learned and distinguished. I shall ask their leave to speak a few words on the cardinal doctrine of Jainism, the famous "Syadvad" or "Sapta-Bhangi Naya" which may be said to be the keyston of the Jaina Philosophy

The Syadvad or the assertion of possibilities otherwise called the Sapta-Bhangi Naya or the sevenfold Paralogism consists *of following seven conditions of things viz. (i) may be, it* is, (ii) may be, it is not, (iii) may be, it is and it is not, (iv) may be, it is indescribable; (v) may be, it is and yet is indescrib-

ference should hold its session in this historic city of Jodhpur which played such an important part in ancient and mediaeval times in the history of Rajputana Marwar is a name to conjure with, so rich it is in historical associations One is carried back in imagination to the classical time when the venerable *Ratnaprabhacharyya*, seventy years after the Nirvana of Mahavira Swami founded the famous Oswal race in the place called Upakesapattana (modern Osian) Here in a temple near the village of Birli there has been discovered an inscription dated 84th year of the Nirvana of Mahavira bearing the name of the town of Majjhimika or Madhyamika and proving the great antiquity of Jainism in the Rajputana It may be interesting to scholars to note that this very town of Madhyamika has been mentioned in the Mahabhashya of Patanjali Early in the 8th century A. D., the poet Bhababhuti made mention of the Lavana river in the 'Malati Madhaba" and the famous city of ' Padmabati " in its vicinity Then one seems to hear of the din and clash of arms and armour in the middle ages till, coming to more modern times one finds Jodhpur in prosperity and grandeur under the Pax Brittanica The present enlightened and cultured ruler is an ideal prince whose patronage of learning and education is well known

Barring their Sadhus who are of course above all worldly concerns, the Jains are known to the world as a mercantile community, who are in the vanguard of commercial enterprise of all kinds That they are marching abreast of the times is evident from their literary activities and many sided educational endeavours There is in them an earnest desire for the spread of education, both English and Sanskrit I have come across many persons, themselves cultured and educated, who are earnestly bent upon spreading education in their community

The Jaina literature is vast and varied, embracing a wide field of knowledge It contains valuable works on Philosophy, History, Rhetoric Astronomy Grammar and other Sciences, It has revealed to the astonished world vast hidden treasures of Indian thought. From about two thousand and five hundred

years ago down to the present time its contributions to the domain of thought are not inconsiderable and some of the works published have been the wonder of the world of letters, and there are many scholars, both in India and abroad, already in the field to exploit this new mine of knowledge.

The ancient works of Jaina literature were written in Prakrita and Sanskrit, but, about seven hundred years ago, in order to reach the people, the old books were translated and new books written in Marhatti, Hindi, Bengali and principally in the Gujrati language,

It should be the endeavour of this Jaina literary Conference to bring out authoritative and exhaustive editions of old works and also to translate them into the various dialects of India, and, as it is not possible to get due recognition of any work in these days unless and until it is made known in Europe, it should also be the aim of this Conference to produce translations of their valuable works in English, French and German. A beginning has already been made in this direction by Dr. Hermann G. Jacobi and other European savants. It is a matter of sincere satisfaction that Indian scholars are not behind hand in this matter.

I feel it to be a great honour to be invited to speak something in this learned gathering. I am however really at a loss to make out where to begin: the object of the Coference is so vast, and my audience so learned and distinguished. I shall ask their leave to speak a few words on the cardinal doctrine of Jainism, the famous "Syadvad" or "Sapta-Bhangi Naya" which may be said to be the keyston of the Jaina Philosophy

The Syadvad or the assertion of possibilities otherwise called the Sapta-Bhangi Naya or the sevenfold Paralogism consists of following seven conditions of things. *vis.* (i) may be, it is; (ii) may be, it is not; (iii) may be, it is and it is not; (iv) may be, it is indescribable; (v) may be, it is and yet is indescrib-

able (vi) may be, it is not and yet is indescribable (viii) may be it is and it is not and also indescribable.

According to the Jaina belief the doctrine of 'Syadvad' was produced by the Tirthankaras, from time immemorial and Mahavira Swami, the last Tirthankara preached, 2410 years ago this doctrine the enunciation and definition of which are to be found in 'Bhagvati Sutra'; 'Samavaya Sutra,' 'Anuyogadvara Sutra', Pragnapana Sutra, etc., which form the Jaina Canonical scriptures.

Bhadrabahu Swami called 'Yuga Pradhan' the foremost man of his time and who lived about the fourth century B C, gave an exposition of the same doctrine in his Prakrita commentary called 'Sutra Kritanga Niryukti'

The famous Jaina Logician Siddha-Sena Divakar, who lived in the court of King Vikramadittya, gave an exposition of the doctrine in his well-known work called 'Sanmati-tarka-Sutra.

Jina Bhadragani Kshamasramana in his commentary called 'Visheshavashyaka Bhasya' gives a lucid exposition of the same doctrine.

But the Philosopher who tackled the subject in a masterly way, examining the various aspects of the doctrine of Asti-Nasti, etc, was Samantabhadra, a member of the Digambar sect, who flourished about 600 A D, and was the author of a book called 'Apta—Mimansa'

The doctrine received attention from such other eminent Shvetambara logicians as Haribhadra Suri, Budhisagara Suri, Deva Suri, (about 1100 A D, Hem Chandra Suri, (about 1100 A. D,) and Mallisen Suri, the famous author of 'Syadvad Manjari'

Subsequently many Shvetambara and Degambara logicians dealt with the subject in their works until a complete hand-

book of the doctrine called 'Sapta Bhangi Trangini' was written by a Digambar Logician called Bimala Das about 300 years ago.

This profound and subtle doctrine evoked a host of criticism from the Buddhistic and Brahmanic logicians of eminence. Dharma Kirti, the famous Buddhist logician early. In the 7th century A. D, criticised the doctrine in his famous work called 'Pramana Vartika' and his criticisms were met and answered by Hary Bhadra Suri in his well known work called 'Aneckanta Jaya Pataka' It is interesting to note that this doctrine has been revised by the Brahmanic sage Vyas in the Brahmustutra, book II, Chapter II, Aphorism 33. The famous Shankaracharya who flourished in the 8th century A. D., in his commentary called Shankra Bhashya; Vachaspati Misra in the 10th century A. D. in his gloss on Shankara Bhashya called Bhamati, Madhab Acharya in his Sarva—Darshan—Sangraha' have all criticised this doctrine.

Though the Brahmanic philosophers have attributed to this doctrine the flow that it leads to uncertainties and the seven conditions are mutually incompatible, still a calm and dispassion ate consideration of the doctrine will reveal its excellence consisting in its comprehensiveness and its embracing all possible con ditions in which things might be supposed to exist.

It is known to all that the Brahmanic philosopher Kanada the founder of the Vaisesika philosophy laid down six categories all included under the head. "It is or Existence" Later commentaries added another category called 'Non-Existence or it is not.' The Buddhists astonished the world by declaring that Nirvana or Sunyatva was that which transcended four conditions, viz, Existence, Non-Existence, both and neither (Asti Nasti, Ubhaya, Anubhaya, Iti Chatuskoti Chanirmuktam Sunyatvam). But the Jain doctrine of 'Syadvad' had laid down seven conditions which we believe include all possible alterations.

I do not wish to dwell at length on a philosophical doctrine which has engaged the attention of some of the most mighty

minds of the world and about which volumes have been written. I merely mentioned it as an example of the precious gems that lie hidden in the Jaina literature and which I hope and trust will be the work of this Conference to exhibit to the world to admire and *profit by*.

The importance of such a Literary Conference can be hardly exaggerated. It affords Jaina Scholars and other workers in the field of Jaina Literature a common meeting place to discuss and devise the ways and means of preserving and propagating the various branches of the Jaina literature. Such discussions will enrich the literature itself, breed a truly critical spirit as well as a spirit of research, and such discussions in the presence of the leaders and scholars of other Indian communities will clear the atmosphere by removing from their minds many misconceptions regarding the Jainas, and their religion and literature.

In this connection may I throw out some practical hints for the consideration of the Conference A detailed consideration of these things is out of place in a Presidential address. I shall therefore refer to them very briefly.—

(i) It is desirable to establish a central Jaina Library in which an attempt should be made to collect all the available manuscripts and printed books of the Shvetambara and Degambara sects in more sets than one. There will be a reading room attached to it where scholars may either personally come or send querries for purposes of references. The Library should be in the charge of a learned scholar -

(ii) It is necessary to establish a Society called the Jaina Text Society which will arranged for the publication of important Jaina Texts. It is hoped that this will draw Jaina Scholars from India

and abroad to bring out critical editions of Jaina works on all subjects and of all times.

(iii) Attempts should be made to found a central Jaina Museum where sacred relics, curious and other objects of antiquity will be preserved The utility of such an institution need not be amplified here. It is in the knowledge of everybody that the Presidencies of Bombay, Madras and Bengal and Rajputana abound with Jaina paintings, sculptures inscribed plates and Jaina images.

(iv) The Calcutta University has already accepted Jaina works an alternative course for the M. A. Degree in Sanskrit; and it is hoped that the other Universities will follow suit. Endeavours should be made that Jaina text books are prescribed as an alternative course for the F. A. and B. A. Examinations of our Universities.

I expect great results from this the first sitting of the Jaina Literary Conference under the distingushed auspices of the very learned and pious Shvetamber High Priest the venerable Vijaya Dharma Suri Shastra Visharad Jainacharya, whose scholarship and piety are in the knowledge of all, in and outside India; and whose name and popularity are in themselves an earnest.

Long may he live and work. He has got a host of eminent disciples many of whom are present here to-day. Their scholarship, enthusiasm and firm determination are an asset to the Jaina Community. Backed by these desciples and other numerous sympathisers and supporters may he bring about the revival of Jaina learning and pave the way to the reconciliation between the Shvetambars and Degambara sects of the vast Jaina Community. May this Literary Conference inaugurate a new era of progress and advancement of Jaina culture under the sun-shine of our benign British Government whose watch word is education and enlightenment.

सभापति महोदयने अपना व्याख्यान अंग्रेजीमें सुनानेके बाद आपने हिन्दीमें कहाः—

' आजके कार्यकी पूर्णाहुतिमें श्रीमान् विजयधर्मसूरीश्वरजी महाराज कुछ उपदेश रूप व्याख्यान देंगे, ऐसी हम आशा रखते हैं। सूरिजीकी शिक्षासे प. हरगोविन्ददास, प. बहेचरदास तथा प. बेलसिंह ये तीन गृहस्थ तथा आपके दो साधु शिष्योंने कलकत्ता युनिवर्सिटीमें न्यायतीर्थकी पदवियाँ प्राप्त की हैं। तथा उन गृहस्थशिष्योंने व्याकरण-तीर्थकी भी परीक्षा दी है। आशा है उसमें जरूर उत्तीर्ण होंगे। इस तरह जैन सम्प्रदायके लोग युनिवर्सिटीमें जैनसाहित्यकी हरीफाई करके जो पदवियाँ प्राप्त करते हैं, उसपरसे जब सरकारने युनिवर्सिटीसे पूछा तब, उसके अधिकारियोंकी तरफसे, प्रतिवर्ष ऐसे सख्याबद्ध बालक परीक्षाके लिये तय्यार होते हैं, ऐसा जवाब दिया गया था। इस तरह जिनकी कृपासे जैनसाहित्यप्रकाशमें आया है, उनके व्याख्यान सुननेकी इच्छा रक्खें, यह स्वाभाविक ही है। अतएव मैं आचार्यमहाराजसे प्रार्थना करता हू कि—वे हम लोगोंको अपनी पवित्रवाणीका लाभ देंगे। ”

तदनन्तर आचार्यमहाराजश्रीने प्रभुस्तुति करके कहाः—

" जैनसाहित्य कहो या जैनआगम कहो, दोनों शब्दान्तर मात्र है। यह जैनसाहित्य समस्त मनुष्योंको हितावह है। जैनसाहित्यकी जैनआगमकी असल खूबी यह है कि—मूलसूत्रोंमें किसी जगह किसी दर्शनकी—मजहबकी निंदा नहीं है। अर्थात् उनमें हित करनेवाली बातोंकाही उल्लेख है। इन्द्रभूतिगौतमके प्रश्नके उत्तरमें भगवान् महावीरदेवने यही कहा है —' लोक नहीं है, पुण्य नहीं है, पाप नहीं है, ऐसा एकान्त प्ररूपणा कभी नहीं करनी'। मुझे सखेद कहना पड़ता है कि—हमारे भारतीय लोगोंमेंसे कई लोग ऐसा कहते हैं:—' जैना नास्तिकाः ' ' हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैन-मन्दिरम् ' अर्थात् ' जैन नास्तिक हैं, ' ' हाथी मारडाले, परन्तु जैनके मंदिरमें नहीं जाना चाहिये '। इस बातकी पुष्टीमे कृत्रिम श्लोक आगे करते हैं। परन्तु बुद्धिमान लोग, इन बातोंको निर्मूलही समझते हैं। क्योंकि—' जैन नास्तिक हैं ' इसमें प्रमाण क्या है ?। नास्तिक वेही कहे जा सकते हैं—माने जा सकते है कि, जो आत्मा—पुण्य—पाप—स्वर्ग—नरक—मोक्ष वगैरह पदार्थोंको न मानते हो। जैनोंके यहाँ उन पदार्थोंका ऐसा विवेचन किया हुआ है कि—वैसा प्रायः और किसी जगह नहीं मिल सकता। अब रही जैनोंके मंदिरमें नहीं जानेकी बात। यहभी सिर्फ द्वेषकोही सूचन करता है।

ऐसे तो जैन भी कह सकते हैं कि–' सिंहेनाऽऽताड्यमानोऽपि न गच्छेच्छैवमंदिरम् '। लेकिन यह सब लड्डालड्डीकाही खेल है। इससे न आत्मकल्याण होता है, न देशका हित।

आगे चलकर आपने भावना के विषयपर आते हुए कहाः—

" भावनाए सामान्य रीत्या बारह और विशेष रूपसे पचीस भी है। किन्तु मैं यहॉपर चार प्रकारकी भावनाओ, कि जिनके नाम मैत्री–प्रमोद–कारुण्य तथा माध्यस्थ्य हैं, इन पर कुछ कहूँगा। "

ऐसा कह करके आपने इन चार भावनाओंके विषयमें एक लेखिनीके दृष्टान्तके साथ बहुत ही रोचक व्याख्यान दिया।

सूरीश्वरजी महाराजका व्याख्यान समाप्त होनेके बाद आगरेके सेठ लक्ष्मीचन्द्रजी वैद्यके पुत्ररत्न सेठ मोहनलालजी वैदने, खास आगरेसे बनवाकर लाए हुए दो बहुमूल्य गोटेके हार, सभापति महोदय तथा डॉ. जेकोबी महाशयको पहनाए।

तत्पश्चात् निम्नलिखित सज्जनोंकी एक कमिटी मुकरर हुई, जोकि विषयनिर्वाचनके लिये रात्रीको उसी सभामण्डपमें बैठी थी।

१ रायबहादुर प. श्यामबिहारीलालजी मिश्र.
२ श्रीयुत नवरतनमलजी, एम. ए एल. एल. बी.
३ मूहता बखतावरमलजी.
४ राजएडवोकेट कीशनलालजी बी. ए.
५ सेठ कुवरजी आणदजी
६ वकील आलमचन्दजी
७ सेठ देवचन्द दामजी कुडलाकर.
८ सेठ गणेशमलजी
९ सेठ दामोदरदास राठीजी
१० प चन्द्रधरगुलेरी बी ए
११ सिंघी टेकचन्दजी.
१२ सेठ लक्ष्मीचन्दजी घीया.
१३ प हरगोविन्ददास न्यायतीर्थ.

१४ श्रीयुत अमोलखचन्दजी, हेडमास्तर सरदारस्कूल

१५ श्रीयुत रामप्रसाद शर्म्मा.

१६ सेठ मोहनलालजी वैद

१७ श्रीयुत एस. अनराज.

१८ पं विश्वेश्वरनाथ शास्त्री साहित्याचार्य

१९ मास्तर कुन्दनमलजी बाफणा

इस प्रकार सभासदोंका चुनाव हो जानेके पश्चात् संगीत मण्डलीके बालकों के गान होने के साथ, प्रथम दिनका कार्य समाप्त हुआ ।

द्वितीय दिन.

(ता. ४ मार्च १९१४).

आज भी सभाके समयसे पहले ही सारा पण्डाल श्रोताओंसे भर गया था । सभापति महाशय, डॉ० जेकोबी तथा मुनिमण्डलके आनेके बाद कार्यारंभ हुआ । डॉ० जेकोबी महाशयने अजमेरमें, अपने व्याख्यानमें 'जैन सूत्रोंमें मूर्तिपूजा नहीं है,' ऐसा समर्थन किया था । परन्तु जोधपुरमें आनेके पश्चात् शा० जै० श्रीविजयधर्मसूरिमहाराजने, दो दिनोंतक जेकोबी साहेबको, सूत्रोंमेंसे मूर्तिपूजाके पाठ दिखलाए तथा समझाये थे । अतएव आज जेकोबी साहब, अपने व्याख्यानमें उपर्युक्त भूल काभी संशोधन करनेवाले थे । इसको सुननेकी जिज्ञासासे भी कुछ लोग विशेष आए थे ।

प्रारंभमें, 'श्रीसिद्धक्षेत्रसंगीतमण्डली' के बालकोंने, आशुकवि पं० नित्यानन्दजीका बनाया हुआ यह संस्कृत गान गाया —

[तोटक छन्दः]

प्रणमामि जगत्पतिमार्तिहरं नतसौख्यकरं बहुधामधरम् ।
हृदि यः परिहृत्य तमः प्रसरं सविनेय ददाति विमोपमरम् ॥ १ ॥
परमेश्वर नाशय नो दुरितं प्रतिकामय चाशु सदाचरितम् ।
यदमङ्गलमस्ति परिस्फुरितं करुणाकर ! संहर तत्त्वरितम् ॥ २ ॥

त्वदनुग्रहनीरकणेन भृतं कृतिनीजमिदं मुनिधर्मधृतम् ।
परिणम्य समुन्नतिवृक्षपद फलद भवनाद् भविना सुखदम् ॥ ३ ॥

इस प्रकार मधुरध्वनिसे गान होनेके पश्चात् सभापति महाशय डॉ० सतीशचन्द्रजी विद्याभूषणजीने, खडे हो करके, डॉ० जेकोबीका, जैन साहित्यके प्रति प्रेम था उन्होंने जैनसाहित्यके किये हुए अभ्यासके विषयमें परिचय देकर कहा कि–"आज ही डॉ० साहब 'जैन साहित्य' के विषयमें व्याख्यान देंगे। आशा है आप लोग शान्तचित्तसे श्रवण करेंगे।" पश्चात् जेकोबी साहेब व्याख्यान देनेको खडे हुए।

डॉ० जेकोबी साहबका भाषण।

I gladly avail myself of this opportunity to offer our cordial thanks to the Committee which give us so hearty a welcome and made so splendid arrangements for our personal comfort. At the same time I may express the feelings of gratitude which for a long time I entertain for the distinguished Muniraj Dharmavijaya Suri with whom I am connected through a correspondence of many years It gives me great satisfaction publicly to thank him for the obligation under which his uninterrupted kindness, not only to me but also to other students of Jainism, has laid us He was always eager to give every elucidation on difficult points of Jain Doctrine which were laid before him and since I have been here I have consulted him on many subjects, he explained to me some knotty points in the Karmagranthas which had baffled me long, he pointed out to me the passages in the Angas which refer to the worship of the idols of Tirthankaras and assisted me in many more ways By this means he has in a great measure contributed to bring about correct ideas about Jainism among the scholars of the West We owe to him also the loan of manuscripts by which it has become possible to publish Jain texts If he had not supplied me with manuscripts of the पउम चरिय and the समराइच्चकहा I should never have been able to undertake the edition of these important texts It is upon them and some

१सिक्तमित्यर्थः । २ रापितमित्यर्थः । ३ वृक्षरूप सदित्यर्थः ।

other works that I beg to occupy your attention for the time of this lecture.

The two works I have just mentioned, and a third Upmiti Bhava Prapancha Katha which will be issued from the press in a short time, may be described as belonging to the Sahitya portion of Jain literature. It is not about their position in Jain literature I am going to speak, but as this is a Literary Conference of a general Indian character, my remarks will be restricted to the importance they have for the general Literature of India. To begin with the oldest af the three works mentioned. The Paumachariya (Jain Ramayana) by Vimala Suri is the oldest Prakrit Kavya preserved to us. In the *prashasti* at the end of the work the author gives his date 530 after Mahavira and states that he put an older work into *gathas* (they are between 8 and 9 thousands). As regards the later statement, it is of some interest to note that the *Digambaras* also have a *Padmapurana* a big work of more than 30,000 *slokas* in Sanskrit, which claims to be based on an earlier work but apparently not the one which was the source of the *Swetambara* work; but the *Padmapurana* closely follows the narrative in the *Paumachariya, adhyaya* by *adhyaya*. It will be of great interests to investigate the relation of these two works, a labour which however must be postponed till the Digambaras shall have published the original Padmapurana, a work well worth editing since it was written in the 7th Century A. D. The Shvetambara work is much older, besides it is in Prakrit; but the date as we read it now is probably not correct. For it would be the year 4 A. D. but as it gives a lagna in which some planets are given under their Greek names the book must have been written, after Greek astrology had been adopted by the Hindus, and that was not before the 3rd Century A. D. Therefore unless the passage which contains the lagna is a later edition, the book itself may be placed in the 3rd Century A.D. or somewhat later.

Now two things are interesting in this work as far as the History of general Indian Literature is concerned The first

point relates to the language, which is on the whole the Prakrit employed by Jain-writers. It is not the language of the sacred books, but on the whole it may be described as Maharastri which idiom was afterwards generally used by Jain authors. It is however decidedly older than their language. It is this work, the Paumacharya, to which we are indebted for our knowledge of this form of Prakrit. The difference, from the common Prakrit, of Jain writers consists in the following points :—

The cases of declination of nouns, and even forms of the verb are very frequently interchanged to a much greater extent than is found in any other Prakrit work, *e g.,* the Locative plural very often is used for the instrumental, *devesu* for *devehim nayari* for *nayarim* the absolute for the infinitive, and frequently, the uninflected form is used for the one with the case affix. It is therefore a primitive and not yet grammatically refined Prakrit, to which Hema Chandra's rule *vyatyashcha* is applied.

The second point in connection with the Prakrit is the following ;...Though the language of the work is not gramatically refined, still it is very fluently written, in an easy epic style. We may conclude that a large epic literature in Prakrit had been in existence, probably popular epics in Prakrit in which the style had been brought to perfection, which Vimala Suri employed to versify an older book in prose. He is certainly not the first who composed metrical works in Prakrit but he had many models which delivered him the ready made style and language. I may also mention that the *gathas* conform to the nicest rules of *metrics* not only those rules which are given by writers on metrics but also one which we have found by analysing the gathas of classical Prakrit works like Hala' Settubandha, etc. Therefore the legitimate inference from the facts observed in the case of the Paumachariya is, that in the early centuries A. D. there existed a large literature in Prakrit, probably popular epics, which have been lost to us, and of which the Paumacharya is the only remnant.

This epical Prakrit literature is the first phase of Prakrit literature. It was succeeded by two branches of Prakrit (1) by the *saptasataka* of Hala which is an anthology of lyrical poetry chifly of Sringara. Another anthology of a similar kind, but of much later time, is the VAJJALAGGĀ of which a redaction is due to a Jain author Jaina Vallabha. Thus we know that a rich lyrical poetry once existed, from which nearly some 2,000 verses have come down to us to what may be called the *classical* period of Prakrit Literature, *i. e*, that period in which were produced the classical works Setubandha and Gandavaha, Kumar Pal Charitra, and many more in the highly polished and artificial Kavya style, which have been lost; but of which some mention is made in other works. We know this kind of Prakrit literature best.

Besides these two branches of Prakrit literature of which I have spoken and of which some specimens have been preserved to us, there must have existed still another branch of popular Prakrit literature, *tales and stories*, romances both in prose and in verse.

We know about the existence of such books by reference to them in work on Alankara, *e. g.*, the Dhvanyaloka. *Now* this whole literature of Prakrit romances and stories has disappeared, unless in some old Jain *Bhandar* a manuscript of these books will be discovered. Only two contemporaneous works have been preserved from which we may form an idea of what these *kathas* were like; the one is a narrative composed by Haribhadra Suri, the *Samaraicha Kaha* of which I shall have to say more presently and the other is the Vasudeva Hindi, an extensive narrative chifly in prose: I hope that the later work will soon be edited by a competent scholar: I know only the beginning of the book where the cycle of *stories* is told which Hema Chandra has incorporated into his *Parisista Parvan*. The work is a very extensive one, it will take up in print four or five big volumes, though only the first and third part are available in manuscript and the second part is missing.

It is certainly an old-work and therefore it is an inestimable testimony as a specimen of the Prakrit literature lost to us. I can speak on the other Prakrit work the U. M. B. P. K. of Hari-Bhadra with a full knowledge of the subject, since I am editing the text, of which some 600 pages have already been printed in the *Bibliotheca Indica*. My attention was first called to this work and my curiosity roused by Hem Chandra's remark in his Kavyanusasana for Hemchandra mentions the समरादित्यकथा as a model of the Sakalkatha or that category of narratives in which all Purshartha are completed. And then the Sanskrit is praised by Siddharshi, whose Dharambodhkar Guru, Haribhadra had been, in the beginning of his U. B. P. K. So when I had got sufficient manuscript for preparing a critical text I undertook to edit the work. It goes without saying that Haribhadra wrote this famous book with the object of giving instruction in the Jain religion, but as he says himself in the introduction to this work he chose an attractive garb to clothe his religious teaching according to the universally acknowledged principle—to teach by amusing for this will benefit the greatest number of people. I am however not concerned with the religious aspect of the work, but shall dwell on the character of the narrative only in so far as at gives us an idea of what work of fiction in Prakrit literature were like, Haribhadra's story consists of NINE ROMANCES in which the TWO principal persons, an essentially good man and his enemy appear *in nine successive births*, once they are reborn as father and son, then as husband and wife, and so on in different relations and always the enemy tries and succeeds in causing the death of the good person, till the latter in his last birth reaches *mukti* Now this plan of the work offers the author an opportunity of depicting life in all its varities; sometimes the scene is laid in the court of a King, sometimes in the house of merchants, by this means we get descriptions of all works of life and we become acquainted with the manners of the different classes from the princes down to the wild tribes living in the woods ;-court amusement, love making, marriage ceremonies, the life af asce-

tics both Jain and Tapasa, travels on land and sea The stories of sea voyages are of peculiar interest, as they show that the Jains of Haribhadra's time, say the ninth century, A D, had no objection to crossing the ocean, making long sea voyages starting from Tamralipti and visiting distant countries, even China We can collect very interesting details about the sea trade in those times, about the ships, their outfit the sailing and the dangers of sailing, etc On the whole, the picture of Indian social life in the middle ages which we get from Haribhadra's tales is most varied a mine of information to the antiquarian

Now it is obvious that Haribhadra was not the first to invent and describe such scenes and adventures for his purpose was avowedly a religious one But a great number of stories like those he narrates, must have been in existence at his time, as he himself alludes to such books which are merely entertaing He refers to the large Prakrit literature of romances and tales which once ministered to the amusement of the public at large For the *general public* preferred Prakrit, and the learned prided themselves on their knowledge of Sanskrit as Siddharashi, Haribhadra s desciple informs us

To sum up the information on ancient Prakrit Literature which we can gather from records in Sanskrit writers and from the existing specimens in Jain literature, we come to the conclusion that there was a vast literature in Prakrit of the kind which may be described as Sahitya in all its branches epics, lyrics, stories and other works of fictions But the Brahmins who preserved the classical literature did not care much for the more popular literature, especially in Prakrit for their literary language was Sanskrit. Thus it happened that of the vast Prakrit literature, not *peculiarly* Jain, *only* such works have been preserved as conformed to the highest standard of Kavya, as the Setubandha of Hala Everything else was allowed to fall into obvion after it had had its run of popularity, just as it is with the novels of our time. Those of the last

generations which once were the delight of the reading public, are almost forgotten now and read only by the student of literature. Had there not been Jain books belonging to the prakrit literature, we should not be able now to form an idea of what Prakrit literature was *which once was the rival of Sanskrit literature and certainly more popular than Sanskrit literature*. I have only spoken of the oldest works of Jain Kavya literature, because they were contemporary with the Brahmanical Prakrit Literature, but it must be mentioned that the Jains possess such works, *Kavyas* and *Kathas* in Prakrit of a later time also, when general Prakrit literature had already become extinct. These books also are interesting as specimens of the literature of Kathas but they are of less importance for the subject in hand than those works which I have spoken of.

In conclusion I should like to say some words about another work the Upmiti Bhava Prapancha Katha which I have finished editing. The work is well known to the Jains but it is never mentioned by any other writer who is not a Jain. In this case too sectarian interests prevailed over impartial judgments and the principle in the Sloka quoted yesterday by the Muni Maharaj has been put into practice.—Hastina hanyamano pi-na-vishet jin mandiram हस्तिना हन्यमानोऽपि न विशेज्जिनमन्दिरम् here it would be काव्यामृतं न पातव्यं कदाचिज्जैनपातत Kavyamrtama na pativyam kadachit Jain pātitah. For the Upmati Bhav prapancha Katha is without doubt a work of rare originality. The plan is grandiose and it is as far as I can see wholly the conception of the author. He gives under the form of *Allegory* an aspect of human life with all vices and virtues who figure in the story as allegorical persons. The allegory is carried out with admirable ability. and the work compares favourably with Bunyan's pilgrim's progress, a book which has been for three centuries the favourite of earnest readers, high and low, wherever the English language is spoken. There is one more small allegorical work in classical Sanskrit literature the *Prabodhachandrodaya* but Siddharishi's work precedes it by a century at least. The mental independence of the author from common prejudices is shown also in his treatment of Sansk-

rit Of course he was able to write classical Sanskrit correctly as he has done in his other works However as he did not write exclusively for the learned, the Durvidagdha, but for the cultivated classes at large he deliberately worte his work in easy popular Sanskrit without difficult sentences and compounds and far fetched words He uses many *desi* words, *i e*, words taken from the vernacular and has employed vernacular constructions and idioms which one never meets in classical writings It requires great personal courage to brave the sneers of the Pandits and to write consciously a popular Sanskrit in order that the general reader should be able to understand one. This was just 1,000 years ago At that the cultivated classes, what *would he called now the educated Jains, to read this book or* understand it when it was read to the public It is melancholy to think that now, after 1,000 years since the time of Siddharshi so very few of the educated Jains are able to read Sanskrit with ease I trust that now, since the Jains have been awakened to their interest and exert themselves strenuously, to bring the education of their members to a high pitch a change will take place for the better, and that the time is not far when the educated Jains will consider it their duty to learn Sanskrit, not to pass an examination in it and then to forget it but in order to be able to read the valuable works which Jain authors of the past have composed. And if this time should come by the combined effort of the conferences of all sections of Jainism Shvetambaras and Digambaras, Sthanakvasi and Terapanthis, then I expect the book of Siddharshi will again exercise its beneficient influence in forming the character and improving the moral state of the coming generations

---

जेकोबी महोदयने अपना व्याख्यान समाप्त करनेके पश्चात्, 'भक्तामर' का एक श्लोक बोल करके स्तुति भी की थी।

इसके बाद बाहरसे आए हुए लेखोंमेसे कुछ लेखोंके सुनानेका निश्चय हुआ था, परन्तु समयकी सकीर्णतासे इस कार्यको छोड दिया गया। और निम्न लिखित प्रस्ताव उपस्थित एव सर्वसम्मतिसे स्वीकृत किये गये —

पहला प्रस्ताव।

" यह सम्मेलन, नामदार हजूर एजंट टु दी गवर्नर जनरल राजपूतानाको, अरज करता है कि- हजूर गवर्नमेन्ट ऑफ इन्डियाको अर्ज करें कि-हमारी सची वफादारीको जहांपनाह बादशाह और महारानीको अर्ज कर दें। जिनके पितृ हकूमतमें हिन्दुस्तान नेमिसाल अमन वो खुशाली मना रहा है। तथा इल्म व हुन्नरमें तरक्की कर रहा है।"

दूसरा प्रस्ताव।

इस सम्मेलनके अधिवेशनके, जोधपुरमें, जोकि इस रियासतकी राजधानी है और जिसमें ओसियाँ व कई दूसरे स्थान, जिनको ओसवाल लोग बडी इज्जतसे मानते हैं, मौजूद हैं, होनेके लिये जो सामान वगैरह रियासतसे मिला है, इसके बदलेमें यह सम्मेलन हजूर महाराजा सुमेरसिंहजी साहब बहादुर और जनरल हजूर महाराजा सर प्रतापसिंहजी साहब बहादुर जी, सी, एस, आई, जी, सी, वी, ओ, के, सी, बी, एल, एल, डी, डी, एल, सी, ए, डी, सी. और मारवाड एड- मिनिस्ट्रेशनका दिलोजानसे आभार मानता है।

तीसरा प्रस्ताव।

" यह सम्मेलन बडी इज्जत समझती है कि—नामदार जनाब इ. जी. काल्वीन के सी. एस आई. एजंट टु दी गवर्नर जनरल राजपूताना ने महेरबानी करके इसके पेट्रन होनेकी रजामंदी करके, कान्फरन्सके कारोबारमें अपनी हमदरदी जाहिर की है। और इस वजहसे यह सम्मेलन आपको हार्दिक धन्यवाद देता है।"

ये तीनों प्रस्ताव सभापति महोदयके द्वारा उपस्थित किये गये, और उपस्थित सर्व सज्जनोंने सहर्ष स्वीकार किये।

चौथा प्रस्ताव।

' जैन साहित्यके समस्त लिखित पुस्तक, हस्त लेख एवं पट्टावलियां वगैरह प्रामाणिक साहित्यकी, सर्वत्र मंजूर की हुई रीतिके अनुसार सांगोपांग नोट अर्थात् सूची होनेकी अत्यन्त आवश्यकता है, ऐसा यह सम्मेलन मानता है। और इसमें भिन्न भिन्न रजवाडों, पुस्तक भंडारों, संस्थाओं तथा मुनिराजो वगैरहसे, कि जिनके

पासमें अथवा जिनके स्वामित्वमें ऐसी सामग्री उपस्थित हो, उनको सम्मानके साथ अर्ज करता है कि–वे अपने २ संग्रहकी ऐसी यथार्थ सूची तय्यार कर भेजवानेकी कृपा करें।"

दोसी कुंवरजी आणंदजीने, इस प्रस्तावको उपस्थित करते हुए कहाः—

"जैनसाहित्यकी बहुलताके लिये, कल्पना करनी भी मुश्किल है। विचारना चाहिये कि-द्वादशांगीके बारहवें अंगके एक विभागमें चौदपूर्व हैं। उन चौदह पूर्वोंमेंसे सिर्फ पहले पूर्वको लिखनेके लिये एक हाथीप्रमाण स्याही चाहिये। और इसके बाद प्रत्येक पूर्वके लिये क्रमसे दो दो गुनी स्याही चाहिये। इतने प्रमाणवाले वे पूर्व थे। वे सब कंठस्थ रखनेमें आते थे। परन्तु दिन प्रतिदिन स्मरणशक्ति न्यून होने लगी, इस लिये पूज्यपाद श्रीमान् देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणजी महाराजने, उस समयके विद्यमान साहित्यके लिखनेका प्रारंभ किया। यद्यपि इस तरह लिखे जानेका प्रारंभ हुआ, परन्तु उतने समयमें बहुत साहित्य विस्मृत हो गया था। पश्चात् राज्योंके हेर फेरमें रक्षा करनेके लिये, उन लिखे हुए ग्रन्थ भंडारोंमें रक्खे गये थे। उनकी सम्हाल ठीक २ नहीं होनेसे बहुतसे भंडार कीडोंके भोजनरूप होते हुए नजर आते हैं। तिसपर भी अपना साहित्य करोडों श्लोकों प्रमाणका है। मैंने कर्मके विषयमें जो निबंध सम्मेलनमें उपस्थित किया है, उससे विदित होगा कि–सिर्फ कर्म विषयक ही लक्षोपरान्त श्लोक मेरे देखनेमें आए हैं। वैसे भिन्न २ विषयोंके करोडों श्लोकोंका जो खजाना, बचा–बचाया अपने पास रहा है, उसको सम्हाल लेना चाहिये। उमास्वाती–हरिभद्रसूरि–हेमचन्द्राचार्य तथा यशोविजयजी महाराजादिने भी लाखों–करोडों श्लोक-द्वारा ग्रन्थ बनाए हुए हैं, ऐसे प्रमाण मिलते हैं। परन्तु इस समय उन ग्रन्थोंमेंसे बहुत अल्प मिलते हैं। खैर! जो कुछ मिले। गत बातका शोच न करके अब भी जो कुछ रहा हो, उसकी रक्षा बहुत शीघ्र होनेकी आवश्यकता है। जेसलमेर, पट्टन, मेडता, खंभात, अहमदाबाद, लींबडी तथा भावनगर वगैरह कई स्थानोंमें अमूल्य ग्रन्थोंके भंडार भरे हुए हैं। उन भंडारोंकी सम्हाल रक्खी है-रखते हैं, यह उन्होंने बडा उपकारका कार्य किया है। परन्तु अब स्वतंत्र राज्यपद्धति है। सब लोगोंको अपने धर्मके लिये निर्भयता है। और इससे अब उस भयको दूर करके उनको प्रकाशमें लाना चाहिये।

इस पर आपने एक हीरका दृष्टान्त दे करके इस विषयको खूब पुष्ट किया। अंतमें आपने कहाः-" भिन्न २ व्यक्तिओं, संघाडा, मुनिमंडल तथा सभाओंके पास

ऐसे ग्रन्थ हों, वे अपने २ भंडारोंकी सूची तय्यार करके भेजेंगे, तो अपने पास कितना माल है, उसका ज्ञान हो जायगा। अपने पूर्वाचार्य जो खजाना अपने को दे गये है, उसका जहाँ तक लिस्ट तय्यार न हो, वहाँ तक, उसके रक्षणका विचार करना विशेष लाभप्रद नहीं हो सकता"।

इसके अनुमोदनमें शेठ लक्ष्मीचन्दजी घीयाने कहा:—"सच कहा जाय तो कल्याण करने वाली वस्तु साहित्य ही है। ऐसे ग्रन्थ-भंडारोंकी शोधके लिये जैन कॉन्फरन्सने प्रयत्न किया है, परन्तु अभी बहुत भाग अंधेरेमे है। और उनको प्रकाशमे लाने के लिये मुनिमण्डलकी सहायताकी आवश्यकता है। अतएव यदि, यह सम्मेलन देश-देशमें सेक्रेटरी मुकरर करके भंडारोंके संशोधनका कार्य करेगा तो कार्य सिद्धि अवश्य होगी"।

पांचवां प्रस्ताव.

"गवर्नमेन्ट युनिवर्सिटीमें बी. ए. के तथा दूसरी परीक्षाओंके कोर्समें बम्बई-मद्रास तथा कलकत्तेमें कतिपय जैनग्रन्थ दाखल हुए है। अतएव उन युनिवर्सिटिओंका उपकार माननेमे आता है। तदुपरान्त विनति की जाती है कि-रीयिस वगैरह युनिवर्सिटीकी जिन २ परीक्षाओंके कोर्समें जैनग्रन्थ दाखल न किये गये हों, उन २ परीक्षाओंके कोर्समे उसके योग्य जैनग्रन्थोंके दाखल करनकी कृपा करें। इस विषयकी योग्य अधिकारियोंके पास इस सम्मेलनकी तरफसे अर्ज करनी।"

यह प्रस्ताव सभापति महाशयने उपस्थित किया। आपने इसकी पुष्टिमें युनिवर्सिटिमें जैनग्रन्थोंके दाखल करानेके लिये श्रीमान् विजयधर्मसूरीश्वरजीने जो श्रम लिया है, उसके लिये सूरिजीको धन्यवाद दिया और विशेष ग्रन्थ दाखल करवाने के लिये सबको अनुरोध भी किया।

यतिवर्य श्रीमान् बालचन्द्रजीने इसकी पुष्टिमें कहा-"साहित्यको नहीं समझने वाले बिना पूँछके पशु हे। इस लिये साहित्यका तो जैसे बने विशेष प्रचार करनेकी कोशिश करनी चाहिये। यद्यपि युनिवर्सिटीने अमुक जैनग्रन्थ दाखल किये है, परन्तु इतनेसे संतोष नहीं रखना चाहिये। अभी कई ग्रन्थोंको प्रकाश दिखाने की जरूरत है। अभी बहुत ऐसे जैनेतर लोग हे. जोकि-जैनसाहित्यके नहीं देखनेसे-अज्ञानताके कारण जैनधर्मके विषयमें अनेकानेक वितर्क करते हैं। लेकिन, यदि

जैनसाहित्यके ग्रन्थ युनिवर्सिटीमें दाखल होंगे तो उनको देखनेका मोका मिलेगा।"

इसके बाद मी० लालनने इस विषयका समर्थन करते हुए कहा:—

"युनिवर्सिटीमें जैनसाहित्यको दाखल करवानेके लिये, वहाँ के प्रोफेसरों तथा न्यायाधिकारियोंकी दृष्टिमें जैनसाहित्यकी उत्तमता दिखा देनी चाहिये। और उससे ही अपनी कार्य सिद्धि होगी। डॉ० हर्मनजेकोबीने विदेशी भाषाओंमें जैनग्रन्थ प्रिय होनेके लिये बहुत कुछ किया है, वैसे जो ग्रन्थ युनिवर्सिटीमें दाखल कराये जायँ, उनकी उत्तमता सिद्ध करनेके साथ स्याद्वादशैलियुक्त प्रस्तावना लिखनी चाहिये कि, जिससे वे उनके हेतु समझ सकें।

डॉ० जेकोबीने प्राकृतमें एक गाथा बनाई है, उसमें कहा है कि—'जैन ग्रन्थ तथा प्रवचन (जैन धर्मशास्त्र) के पढनेसे मुझे इतना आनंद होता है कि—उनको पढता ही रहूँ। और वह साहित्य जैसा हिन्दमें है, वैसे सारी दुनियामें फैल जाय।'

यदि अपने मुनिराज, जैनसाहित्यके गार्भार्यको सरल स्फुट रीतिसे समझानेकी कृपा करेंगे, तो विदेशी तथा विधर्मी लोग भी समझनेमें फौरन उसको प्रतिपादन करेंगे। इस बातपर आजका ही एक दृष्टान्त देख लीजिये। भगवती आदि अनेक जैनसूत्रोंमें 'मूर्तिपूजा' के पाठ हैं, ऐसा आचार्यश्रीविजयधर्मसूरिमहाराजने, डॉ० जेकोबी साहेबको अनेक दृष्टान्तके साथ दिखलाया-समझाया, तब डॉ० जेकोबीने सहर्ष उस बातका स्वीकार भी कर लिया। इस तरह साहित्यकी प्रत्येक बातें सबको समझानी चाहिये। आशा है कि—युनिवर्सिटीमें जैन ग्रन्थोंके दाखल होनेसे लौकिक लाभ देखनेको भाग्यशाली होंगे।

छठवाँ प्रस्ताव.

"जेसलमेर, मेडता तथा पट्टन वगैरह स्थानोंमें जो २ हस्तलिखित पुस्तकोंके अमूल्य भंडार अब भी पब्लिकमें नहीं आए हैं, और उनमें जो २ अमूल्य पुस्तकोंका विनाश होता चला जा रहा है, जैन बन्धुओंने उनका शीघ्र प्रयत्नपूर्वक बचाव करना चाहिये। अपना वह अमूल्य वारसा किसी तरह विनाश न हो, ऐसे प्रयत्न करनेकी, समस्त जैन बन्धुओंकी खास फर्ज है।"

इस प्रस्तावको उपस्थित करते हुए श्रीयुत मोहनलाल जोहरीने कहा:—
'अपने लिये संग्रह किया हुआ धान्य सड न जाय, इसके लिये जितनी चिंता रखते हैं

उतनी भी चिंता अपने प्राचीन ज्ञानभंडारोंके लिये नहीं करते हैं। इससे अपना व्यवहार भ्रष्ट गिना जा सकता है। लेकिन अब इस बातकी चिंता रखकरके शासन की प्राचीनताको प्रकाशमें लानेवाले प्राचीनसाधनोंको प्राप्त करने तथा संग्रह करनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये।

इसके अनुमोदनमें डॉ० जेकोबी साहबने कहाः—यह प्रस्ताव इतना उत्तम कि–इसमें मैं अक्षरशःसम्मत होता हूँ। इतना ही नहीं परन्तु यह प्रस्ताव यदि युरोप–अमरीकामें ले लिया जाय, तो वहाँ भी हम लोग अनुमोदन दें। क्योंकि–जितने पुराणे लेख हैं, वे अमूल्यमें अमूल्य वस्तुएं है।

सातवाँ प्रस्ताव.

"भारतवर्षकी उन उन सभाओं, संस्थाओं तथा व्यक्तियोंको हार्दिक धन्यवाद देता है, जिन्होंने जैनसाहित्यका संग्रह–संस्करण–प्रकाशन तथा व्याख्यान करनेका उदार एव कष्टसाध्य कार्य शुद्धवृत्तिसे–शुद्धरीतिसे किया है। और वैसा सुअवसर अपनेको प्राप्त होनेसे अपने को भी धन्य मानता है। और आशा रखता है कि–वे सभाए, संस्थाएं तथा अन्य सभाओं–संस्थाओं तथा व्यक्तिएं उस प्रकारके विशुद्ध प्रयत्नको शुरु रख करके इस सम्मेलनको अनुगृहीत करेंगी।"

इस प्रस्तावको उपस्थित करते हुए सेठ देवचन्द दामजी कुंडलाकरने कहाः—"*साहित्य यह बुद्धिका विषय है। और बुद्धिबलसे ही जबरदस्त जंगली प्राणीके ऊपर* भी मनुष्य सत्ता भोग रहे हैं। करोडों मनुष्यों पर हजारों मनुष्य सत्ता भोग रहे है, ऐसी बुद्धि, जिस साहित्यका प्रसाद है, उसके प्रकाश करने वालोंकी तरफ, धन्यवादकी दृष्टिसे देखना, यह अपना कर्तव्य है। गवर्नमेन्ट युनिवर्सिटीमें जैन साहित्यके दाखल करवानेके लिये मान, इस सम्मेलनके उत्पादक श्रीमान् विजयधर्मसूरीश्वरजीको हैं। तथा जैन साहित्यके अमूल्य ग्रन्थोंको प्रकाश करनेके लिये, 'श्रीयशोविजयजी जैन ग्रन्थमाला,' 'श्रीजैनधर्मप्रसारक सभा' अहमदाबाद सेठ मनसुखभाई भगुभाई फंड,' 'शेठ देवचन्द लालभाई फंड,' तथा मेहसानेकी श्रीयशोविजय पाठशाला' वगेरह संस्थाए जो २ श्रम करतीं हैं, उन सबको धन्यवाद देना अपना कर्तव्य है।

साहित्यका प्रकाश करना यह बहुत जरूरी है। परन्तु साथ साथ यह नहीं भूलना चाहिये कि–जो ग्रन्थ प्रकट हों, उनकी शुद्धिके लिये विशेष सम्हाल रखनी।

क्योंकि-जैनसाहित्यका विषय इतना गंभीर है कि, जिसमें छोटी भूल भी बडे अनर्थ को करती है। भाषामें ही देख लीजिये। 'कुंजी' शब्दमेसे 'कु'के ऊपरका अनुस्वार न लिखा जाय, तो वह कैसे अनर्थका बोध करता है ? । ग्रन्थोंके छपानेमें ऐसी भूलें कभी लाभप्रद नहीं हो सकेगी। बल्कि हानिकारक होगी, यह निर्विवाद बात है। अतएव मुझे, शुद्धग्रन्थ प्रकट करने वाली संस्थाओंको धन्यवाद देते हुए बहुत हर्ष होता है।

इस प्रस्तावकी पुष्टिमें सेठ नेमिचन्दजी गुलच्छेने साहित्यप्रकाशक मंडलोंकी ओर अपना प्रेम प्रकट किया था।

आठवाँ प्रस्ताव.

"जैन तीर्थोंमें तथा अन्य अनेक स्थानोंमें जैनधर्मकी प्राचीनता सिद्ध करने वाले अनेको शिलालेख हैं, उनका, तथा दूसरे ताम्रपटादि जो हों उनका, एवं मूर्तिके नीचेके भागमें जो लेख मिलते हैं, उन सभी को एकत्र-संग्रह करने की अत्यन्त आवश्यकता, यह सम्मेलन समझता है। क्योंकि वे भी अपने साहित्यका एक अंग हैं। इस कार्यके लिये खास एक कमेटी नियत करके उसके द्वारा तथा कोई भाग्यवान् आत्मभोग दे करके, तत्संबंधी प्रयत्न करनेका मनपर ले, तो उसके द्वारा प्रयत्न शुरु करनेकी खास आवश्यकता है।"

इस प्रस्तावको उपस्थित करते हुए श्रीमान् पं० चन्द्रधरजी गुलेरीने कहाः- धर्मके मतभेद, प्राचीनता और वादविवादमें जो भाट-चारण-ब्राह्मण या कोई भी लोग यत्न करते हैं, उनमें शक हो, तो उन मतभेदोंमें शिलालेख सच्चा खुलासा करते हैं। नामवर सरकारने भी स्थान स्थानमें ऐसे लेखोंके म्युझियम (संग्रहस्थान) खडे करके प्राचीन इतिहासकी रक्षा की है। उस तरह जैनसाहित्यकी विशेष शोध के लिये वैसे *जैन प्राचीन शिलालेख-ताम्रपत्र वगैरह जैन भाई संग्रह करें, अथवा* इस परिषद्को दे तो वे इतिहासमें बहुत उपकारी होंगे।

इसके अनुमोदनमें साहित्याचार्य पं० विश्वेश्वरनाथ शास्त्रीजीने कहाः-इतिहास, देश-परदेशके प्राचीन अर्वाचीन स्वरूपोंका नक्शा है। परन्तु इतिहासके लिखने वाले उनके मूलस्वरूपको दिखलाने [illegible] सच्चे स्वरूपका ज्ञान नहीं हो सकता। लेकिन मुझे मालूम [illegible] प्राचीन [illegible] उपयोगी हो जाते हैं। मैंने बहुत इतिहास देखे हैं, परन्तु 'राजतरंगिणी' जैसे कतिपय ग्रन्थों-

को छोड करके प्रायः सभी श्लाघासे भरे हुए दिखाई देते हैं। लेकिन शिलालेखादि, उपयोगी और निश्चय कराने वाले साधन हैं।

इसके समर्थनमें यतिवर्य बालचन्द्रजीने जैनप्रतिमाओंकी प्राचीनताके लिये शिलालेखोंसे जो ऐतिहासिक ज्ञान–लाभ होता है, वह समझाया था।

उपर्युक्त समस्त प्रस्ताव, सर्वसम्मतिसे स्वीकृत होनेके पश्चात् यद्यपि विशेष समय नहीं था, तिस पर भी उपस्थित सज्जनोंके अत्याग्रहसे आचार्य महाराजश्री विजयधर्मसूरिजी महाराजने व्याख्यान देते हुए कहाः–

" धर्मका ज्ञान होनेके लिये शास्त्रकारोंने, नवतत्त्व के स्वरूपका लाखों श्लोकोंमें ब्यान किया है। इन तत्त्वोंमेंसे एक एक तत्त्वके ऊपर यद्यपि एक एक महीने तक समझाया जा सकता है, तथापि संक्षेपमें मनुष्य जन्मकी सफलताके लिये इतनाही कहना पर्याप्त होगा कि–जो मनुष्य निष्कपटी–दयावान् होता है, वही मनुष्यत्वको सम्हाल सकता है। मनुष्य जन्म यह मोक्षका साधन है कि-जिस विषयमें समस्त धर्मवाले संमत हैं, ऐसे मनुष्यजन्मको पाकरके आत्मकल्याण कर लेना चाहिये। धर्मशास्त्रोंमें नवतत्त्वके नाम जीव–अजीव–पुण्य-पाप–आश्रव-संवर-बन्ध–निर्जरा तथा मोक्ष ये गिनाये हैं, परन्तु आजकलके गृहस्थ लोगोंने तो नवतत्त्व घी, गुड, धान्य, सोना, चांदी, तांबा, स्त्री, पुत्र, और स्वयं ये मान लिये हैं। लेकिन इसके परिणामका विचार करना चाहिये। संसारमें पंडित वही है जो इन्द्रियोंका निग्रह करे तथा धर्मके आचरणमें दृढ रहे।

आगे चलकरके आपने सत्य और दयाके विषयमें बहुत विस्तृत विवेचन किया था। इसके ऊपर एक गँवार तथा रत्नचिन्तामणिके दृष्टान्तसे तालाबके ऊपरके तृषातुर गँवारकी स्थिति समझाई थी।

व्याख्यानकी पूर्णाहुतिमें आपने यह भी कहा कि–" आजके कार्यमें डॉ० जेकोबी महाशयने अपने व्याख्यानमें, मेरी जो तारीफ की है, उससे उन्होंने अपनी ही सज्जनता प्रकट की है। वास्तवमें मैंने ऐसी तारीफके योग्य कोई कार्य नहीं किया। क्योंकि–धर्मका प्रतिबोध करना, साहित्यकी उन्नतिमें योग देना अथवा अपनी शक्त्यनुसार किसी बातका खुलासा करना, यह हमारी–साधुओंकी फर्ज है "। पश्चात् द्वितीय दिनका कार्य समाप्त किया गया था।

तृतीयदिन.

आज भी नियतसमयपर श्रोताओंसे सारा पण्डाल भर गया था। सम्मे-

लनके सभापति महामहोपाध्याय डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण एम. ए. पी एच. डी. महाशयको सरकारी कार्यसे कलकत्ते जाना पडा। इस लिये मूहता वखतावरमलजीके प्रस्ताव और समस्त मनुष्योंके करतल पूर्वक अनुमोदनसे आज डॉ० हर्मन जेकोबी साहबने, सभापतिका आसन सुशोभित किया। और कार्यके प्रारंभ करनेकी आज्ञा भी दी।

प्रारंभमें आज भी आशुकवि प. नित्यानन्दजीकी बनाइ हुइ निम्नलिखित स्तुति संगीतमंडलीके बालकोंने गाइः—

(प्रमाणिकावृत्तम्)

तमव्ययं महोदयं सनातनं चिरन्तनम्।
सुखाकरं व्यथाहरं भजे परं परेश्वरम्॥ १॥
स्तुवन्ति यं सुवाणिकाः सुराः सुवद्धपाणिकाः।
विभुः स मुक्तिभाणिकाः क्रियान्मुदोऽप्रमाणिकाः॥ २॥
व्यलोकि येन निर्भरं चरं तथाऽचरं परम्।
भजेऽपरम्परं पर तमीश्वरं ह्यनश्वरम्॥ ३॥

इस प्रकार स्तुति हो जानेके पश्चात् श्रीयुत किशनलालजी बी. ए. ने कहाः—

“जैनसाहित्य संस्कृत तथा प्राकृतमे है। इससे दूसरी भाषाको क्या फायदा? यदि ऐसा हमारे मारवाडी भाई मानते हों, तो मुझे कहना चाहिये कि—मारवाडी भाषामें जो ग्रन्थ प्रकट हुए हैं, इससे माना जा सकता है कि—भाषाके संशोधनकी कोशिश करनेसे यह भाषा भी पुष्ट हो सकती है। जैनसाहित्यमे मारवाडी भाषाके शब्द बहुत देखनेमें आते हैं। एक समय ऐसा था कि—मारवाडमे जैनधर्म जोर शोरसे फैला हुआ था। मारवाडी भाषामे ऐसे बहुतसे काव्य हैं, यदि उनको आप देखें तो उनके जैसे शब्द, जैनसाहित्यमेंसे भी आपको मिलेंगे। इससे आप लोगोंको निश्चय होजायगा कि—जैन साहित्यका विकास, अपनी भाषाके उत्कर्षमें भी कारण है!”

आपके व्याख्यानके हो जानेके पश्चात् सर्व सम्मतिसे बाकी रहे हुए प्रस्तावोंकी स्वीकृतिका कार्य शुरु हुआ।

नववाँ प्रस्ताव.

“युवान पुरुषोंके हृदयमें, जैनसाहित्यके प्रति अनुराग उत्पन्न करानेके

लिये तथा अन्य साहित्यकी तुलनामें, इसके महत्त्वका सच्चा ज्ञान उत्पन्न करानेके लिये अत्यावश्यक, जैन पाठ्य पुस्तकोंका सर्वथा अभाव देख करके यह सम्मेलन ऐसे पुस्तकोंकी एक माला, कि जो स्कूलों और कालेजोंमें उपयोगी हो सके, बनानेकी आवश्यकताको आग्रह पूर्वक स्वीकार करता है। "

मी. लालनने इस प्रस्तावको उपस्थित करते हुए कहा:-

" हिन्दुस्थानमें जो शिक्षा युवकोंको दी जाती है, उसमें जहाँ तक धार्मिक शिक्षाका प्रवेश नहीं होगा, वहाँ तक, वह शिक्षा अच्छी तरह उपयोगी नहीं होगी। आत्माका असली स्वभाव नीचे जानेका नहीं, परन्तु ऊँचे जानेका है। शास्त्रकार भी कहते हैं कि-जीवमें जो शक्ति है, वह स्फुरायमान हो, और कर्मका नाश करे वह जैन है। इस प्रकार जैनधर्मके रहस्यकी उत्तमता समझानेके लिये शिक्षण सीरीझकी खास आवश्यकता है। "

इस प्रस्तावको अनुमोदन देते हुए आग्रा वाले सेठ मोहनलालजी वैदने कहा कि-" युवानोंके सस्कार बिगड जाते हैं-धर्मके ऊपर पाबंद नहीं रहते हैं इसका कारण यही है कि- उन्हें उस प्रकारकी तालीम नहीं मिलती। छोटी २ बातोंमें भी वे कभी २ जैनधर्मके-जैनसाहित्यके कानूनोंसे विरुद्ध बोल उठते हैं। यद्यपि उन लोगोंका भाव ऐसा विरुद्ध बोलनेका नहीं होता है, परन्तु छोटी उम्रसे ही, अथवा यों कहिये कि-स्कूलोंमे पढनेके समयसे ही उन लोगोंके संस्कार वैसे जमे हुए होते हैं, अतएव ऐसा बोलते हैं। लेकिन यदि ऐसी सिरीज तय्यार की जाय और धीरे २ उसका प्रचार किया जाय तो लोगोंके संस्कार बिगडने नहीं पायेंगे, इतना ही नहीं, परन्तु जैनसाहित्यके कानून मुताबिकही जम जायेंगे। "

सेठ कुंवरजी आणंदजीने इसका समर्थन करते हुए कहा:—

" छोटे वृक्ष, उनके ऊपर जैसी क्रिया करो, वैसे हो सकते हैं। इसप्रिकार ही बालकोंको, प्राथमिक शिक्षणमें ' पृथ्वी गोल है ' ' पृथ्वी फिरती है ' ' दुनियाको बनानेवाला ईश्वर है ' इत्यादि वर्तमान समयमें जो शिक्षा दी जाती है, इससे ये सस्कार जम जाते हैं, परन्तु इसके स्थानमें यदि ' जैन सीरीज ' तय्यार करके चलाई जाय, तो जैन बालक ऐसे संस्कारोंसे अवश्य बचने पावें। सीरीजका बनाना कोई सहज् कार्य नहीं है। अभी सरकारी नयी सीरीझ जो तय्यार हुई है, वह नामदार सरकारने देशके प्रसिद्ध साक्षर मंडलको बडे खर्चसे रख करके ही तय्यार करवाई है। इसको देखनेसे

मालूम होता है कि–सीरीज बनाना कितना कठिन कार्य है। इसके लिये खास जैन साहित्यके, भाषाके तथा बालशिक्षण क्रमके अभ्यासी विद्वानोंका एक मंडल स्थापन करके इस कार्यको करना चाहिये।"

दसवाँ प्रस्ताव.

"हिन्दुस्थान और अन्य देशोंमें जैनसाहित्यके प्रचारकी उचितताको जान करके यह सम्मेलन परामर्श देता है कि–जैनदर्शनके इतिहास–अध्यात्म–अलंकार–विज्ञान आदिके उपयुक्त ग्रन्थोंके भिन्न २ हिन्दी और विदेशी भाषाओंमें अनुवाद करनेमे आवे। और इसी उद्देश्यसे यह भी परामर्श देता है कि–इस कार्यमें भाग लेने वालोंको उत्साहित करनेके लिये पारितोषिक नियत करनेमें आवे।"

इस प्रस्तावको उपस्थित करते हुए, दोसी कुंवरजी आणंदजीने कहा:–"जैन साहित्य इतना तो विशाल और गंभीर है कि–उसके स्वरूपको सामान्य रीतिसे भी देखनेका सौभाग्य न प्राप्त हो, ऐसा वर्ग उसके गौरवको क्योंकर समझ सकता है? मैंने अभी एक चमत्कारिक काव्यका ग्रन्थ देखा है, उसके एक एक श्लोकमें दश २ पन्दरह २ प्रश्न हैं। लेकिन खूबी तो इस बातकी है कि–उन प्रश्नोंके उत्तर 'क का कि-' 'ख खा खि' इस तरह) बाराक्षरी) में निकलते हैं। जिसको देखनेसे प्राचीन जैन विद्वानोंका भाषापांडित्य और तत्त्वविचारण सचमुच आश्चर्य सागरमें डुबा देता है।

कलके भाषणमें डॉ० जेकोबीने 'उपमितिभवप्रपंचा' ग्रन्थके अभ्यास परसे, ऐसी उमदा श्रेणिके लिये तारीफ की थी। परन्तु कहना आवश्यक होगा कि–जैन साहित्यमें वैसेही 'वैराग्यकल्पलता' 'भुवनभानुकेवलि चरित्र' वगैरह ग्रन्थ भी देखनेमें आए हैं। जैनसाहित्यका देश–विदेशोंमें ज्ञान फैलानेके लिये ऐसे ग्रथोंको भिन्न भिन्न भाषाओंमें, उन भाषाके ज्ञाता विद्वानोंके हाथसे भाषान्तर हों, यह सब कोई स्वीकार करेंगे।

इसके अनुमोदनमें मी० लालनने कहा कि–"जैनसाहित्यके वाचनका परिचय ज्यों २ विदेशी प्रजामें होने लगा है, त्यों त्यों वे उसमेंसे अधिक जाननेकी चाहना करते हुए दिखाई देते हैं। आप लोग इस बातको जान करके खुश होंगे कि–स्याद्वादमंजरी, तत्त्वार्थसूत्र, प्रवचनसार तथा आत्मख्याति वगैरह ग्रन्थोंके भाषान्तर अंग्रेजीमें होते हैं और अपने आनरेबल प्रेसीडेंट साहब और उनके जुदे २ मित्रों एवं शिष्योंकी तरफसे, इसके लिये यत्न शुरु है।

ग्यारहवाँ प्रस्ताव.

" प्राचीन लेखोंकी रक्षाकी आवश्यकताको जानते हुए, यह सम्मेलन परामर्श देता है कि-देशके भिन्न २ भागोंमें विकीर्ण तथा अरक्षित लेखों एवं संग्रह योग्य वस्तुओंकी रक्षाके लिये नियत किये हुए केन्द्रोंमें म्युझियम (संग्रहस्थान) स्थापित किये जायँ । "

साहित्याचार्य पं० विश्वेश्वरनाथ शास्त्रीने इस प्रस्तावको उपस्थित करते हुए कहाः-" १५० वर्षके ऊपर जब शिलालेखोंकी अगत्यताकी ओर लोकलक्ष्य नहीं आकर्षित हुआ था, तब प्रकट हुए ग्रन्थोंमें ऐतिहासिक भूलें हो जाती थीं । परन्तु इसके बाद अंग्रेजी राज्यकी शोधक पद्धतिने अपने पूर्वजोंके वारसेकी ओर लोकलक्ष्य आकर्षित हुआ, प्राचीन खण्डहर, वस्तुएं तथा गिरे हुए स्थानोंमेंसे मिलते हुए लेखोंने अपने प्राचीन इतिहास पर बहुत प्रकाश डाला है । और ऐसे मिलते हुए रूपै साधनोंका म्युझियममें संग्रह होनेसे, उनकी हमेशाके लिये रक्षा हो सकी है । मैं जानता हूँ कि-अपने इस जोधपुरमेंसे भी ऐसे लेख तथा सिक्के मिले थे, जो कि-अजमेरके म्युझियममें अभी मौजूद हैं । ऐसे लेखोंमेंसे जैनइतिहासके लिये भी बहुत अच्छा ज्ञान मिलता है । अतएव उनके संग्रहकी-संग्रहस्थानोंकी बहुत आवश्यकता है । "

इसके अनुमोदनमें यति जयचंदजीने, ऐसे साधनोंसे गुरुपट्टावली कह कर प्राचीन लेखोंकी रक्षा करनेकी आवश्यकता दिखलाई थी ।

बारहवाँ प्रस्ताव.

" यह सम्मेलन, प्रत्येक प्रसिद्ध पत्रकारोंको और उसमें भी जैन पत्रकारोंको जैनसाहित्यकी उन्नति-प्रचार किस तरह हो ? तत्सबंधी बार २ आर्टिकल लिखनेका अनुरोध करता है । "

सेठ दामोदरदास राठीजी (कृष्ण मिल्सके मालिक) ने इस प्रस्तावको उपस्थित करते हुए कहा कि-" अपने देशमें बहुत लोगोंके विचार, अपने साहित्यको विदेशोंमें प्रकाशित नहीं करनेका है । लेकिन यह ठीक नहीं है । अपना जैनसाहित्य रोशनी रूप है । और इससे उसको रोकनेकी अपेक्षा खुला रखनेसे विशेष प्रकाश डालेगा ।

जमाना इतना फिर गया है कि, इस वक्त देश बंद, महुल्लास्वरूप और समुद्र, सडक रूप हो गये हैं। और इससे वैसी प्रवृत्ति के जमानेको पहचान करके उस

प्रकारके लेख, प्रसिद्ध पत्रकारोंको, उसमें भी जैन पत्रकारोंको अधिक प्रकट करनेकी आवश्यकता है।"

इसका समर्थन सेठ नेमिचन्दजी गुलेच्छाने किया।

तेरहवाँ प्रस्ताव.

"यह सम्मेलन अच्छी तरह जानता है कि इसके उद्देश्य तथा लक्ष्यके अनुसार इसका कार्य कितना कठिन है? और यह सम्मेलन यह भी जानता है कि वह कार्य, वे जैनेतर जातियों—संस्थाओं तथा व्यक्तियोंकी सहयोगिता और सद्भावके सिवाय पूर्ण होना असंभवित है कि, जो हमारे सदृश उद्देश्य तथा लक्ष्यसे काम कर रहे हैं। अत एव यह सम्मेलन आदर पूर्वक उनसे प्रार्थना करता है कि—इस सम्मेलनकी तरफ, वे अपनी सहायताका हाथ बढ़ावे।"

प्रस्ताव कर्ता—श्रीमान् पं० चन्द्रधरजी गुलेरी बी. ए

अनुमोदन कर्ता—यतिवर्य श्रीमान् बालचन्द्रजी.

चौदहवाँ प्रस्ताव.

"यह सम्मेलन, एक ऐसी स्थायी कमेटी मुकरर होनेकी आवश्यकता स्वीकारता है कि, जो कमेटी, दूसरा अधिवेशन हो वहाँ तक, इस अधिवेशनमें जो प्रस्ताव स्वीकृत हुए हैं, उनका जहाँ तक बने अमल करनेका प्रयास शुरु रक्खे। और दूसरा सम्मेलन हो तब, जो कार्य हुआ हो, उसकी रीपोर्ट सम्मेलनके समक्ष पेश करे।"

पन्द्रहवाँ प्रस्ताव.

"दूसरा अधिवेशन कहाँ और कब करना? इसका निर्णय करनेकी सम्मेलन आवश्यकता स्वीकृत करता है।"

सोलहवाँ प्रस्ताव.

"यह सम्मेलन, सम्मेलन ऑफीसके कार्यके चलानेके लिये खास एक फंडकी आवश्यकता स्वीकारता है।"

उपर्युक्त तीनों प्रस्ताव सभापति महाशयके द्वारा उपस्थित किये गये।

सतरहवाँ प्रस्ताव.

"यह सम्मेलन अपनी तरफसे तथा समस्त जैनसंघकी तरफसे, श्रीमान् डॉ० हर्मन जेकोबीके प्रति; उनके अविश्रान्त पाण्डित्यपूर्ण परिश्रमके लिये कि-जिससे

जैनशास्त्रका पुनरुद्धार ओर उन्नतिमें विश्वव्यापक अनुराग उत्पन्न होनेका शुभपरिणाम हुआ है। तथा इस सम्मेलनके कार्यमें प्राचीन जैनप्राकृतसाहित्य पर गवेषणा पूर्ण निबंध पढ करके सहायता देनेके लिये एवं सभापति महाशयकी अपरिहार्य अनुपस्थितिमें सभापतिका आसन ग्रहण करनेके लिये, कृतज्ञता प्रकाशित करता है।"

प्रस्ताव कर्ता–स्वागतकारिणी सभाके सभापति मूता वखतावरमलजी.

अनुमोदन कर्ता–श्रीमान् प० चन्द्रधरजी गुलेरी बी. ए.

" पंडित लालन।

अठारहवाँ प्रस्ताव.

"*यह सम्मेलन, अपने सभापति महामहोपाध्याय डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण. एम. ए. पी एच. डी. महाशयको, अपने अमूल्य समयका बहुत व्यय करके,* इस सम्मेलनके सभापति होनेके कारण हार्दिक धन्यवाद देता है। और उनकी योग्यता–चातुर्य तथा पाण्डित्यके प्रति अपना बहुमान प्रकाश करता है। जिन्होंने इस सम्मेलनके प्रथम अधिवेशनकी सफलताकी सिद्धि की है।"

उन्नीसवाँ प्रस्ताव.

"यह सम्मेलन, पं. श्यामविहारीलालजी मिश्र एम. ए. जोधपुर रिजन्सी कौंसिलके मेम्बर महोदयने, जो परिश्रम इस सम्मेलनके प्रथम अधिवेशनके कार्यमे लिया है, तथा इस अधिवेशनके कार्यमें प्रत्येक समय जो २ सलाहें दी हैं, इसके लिये कृतज्ञता जाहिर करता है।"

उपर्युक्त दोनों प्रस्ताव, आजकी सभाके सभापति डॉ० जेकोबी द्वारा उपस्थित किये गये थे।

वीसवाँ प्रस्ताव.

"यह सम्मेलन शास्त्रविशारद–जैनाचार्य श्रीमान् विजयधर्मसूरि महाराज, जो कि इस सम्मेलनके जन्मदाता हैं, उनको विनय पूर्वक वदन करता है। और उन जैसे विद्वान्–स्वार्थत्यागी कृपालु महात्माकी सरक्षता तथा सचालकता प्राप्त करनेमे यह सम्मेलन अपना गौरव समझता हे।"

यह प्रस्ताव भी सभापति महाशयके द्वारा ही उपस्थित किया गया। इसके अनुमोदनमें सेठ कुंवरजी आणंदजीने कहा:–

आचार्य श्रीविजयधर्मसूरि महाराजके प्रभावसे मुझे बहुत ही हर्ष होता है। ऐसे २ बड़े कार्योंकी सिद्धि, विचार होनेके पश्चात् बहुत समय के बाद होती है। बल्कि बहुतसे कार्य तो विचार ही में समाप्त हो जाते हैं। परन्तु इस साहित्य परिषद्का कार्य, प्रथम होने पर भी, थोडी मुद्दतमें ही तय्यार हो गया। यह एक आश्चर्य उत्पन्न करता है। फिर भी इतनी असाधारण फतेहमंदीके साथ समाप्त हो रहा है, इसके लिये आनंद प्रदर्शित करनेके साथ, ऐसे पुण्यशाली महात्माके प्रतापका यह फल है, इस प्रकार अवश्य स्वीकार करना होगा। इस तरह साहित्यके उद्धाररूपउपकारके करनेके लिये, आचार्य महाराजश्रीके नामका जयध्वनि होता हुआ देख समस्त भाईयोकी तरफसे एक साथ उपकार माना जाता है। (इन शब्दोंके, ऊपर समस्त सभाने बारबार करतलध्वनिसे हर्ष प्रकट किया था। और इस प्रस्तावको जयजयध्वनिसे स्वीकार भी किया था।)

निमंत्रण.

प्रस्तावोंकी स्वीकृतिका कार्य समाप्त होनेके पश्चात् यह जाहिर किया गया था कि—"साहित्यपरिषद्का अधिवेशन प्रतिवर्ष नहीं, परन्तु एक एक वर्षको छोड करके करना। और दूसरे अधिवेशनके लिये सादरी के संघकी तरफसे विनति हुइ है।" इसकी सम्मेलनकी तरफसे नोंध ली जाय।

इसके बाद पालीतानेकी श्रीयशोविजय पाठशालाके एक विद्यार्थीने, जो कि बिलकुल छोटी उमरका था, उसने शिक्षाके देनेमें माता पिताओंकी फर्ज और शिक्षासे क्या लाभ होता है, इस बात पर बहुत ही सुन्दर व्याख्यान दिया था। इसकी छोटी उम्र, अर्थ गांभीर्य वाली भाषा और भाषणकी विषय संकलनासे सारी सभा खुश–खुश हो गई। और उस समय ही भिन्न २ गृहस्थोंकी तरफसे ३२ रुपये पारितोषिकमें मिले। एव प०श्यामबिहारीलालजीने अपनी तरफसे एक मेडल देनेका भी जाहिर किया।

सम्मेलनके कार्यकी पूर्णाहुतिमें, श्रीमान् विजयधर्मसूरीश्वरजी महाराजने, बहुत ही प्रभावशाली व्याख्यान दिया। आपने अपने व्याख्यानमें यह भी सूचना की थी कि–"इस सम्मेलनकी जडको मजबूत करना, इसको चलाना, इसकी कमेटियाँ करनीं, ऑफिस खोलना, पास किये हुए प्रस्तावोंको सार्थक करना, वगैरह समस्त कार्य आप लोगोंका–गृहस्थोंका है। हम लोग साधु होनेसे इस विषयमें सिवाय उप-

देशके और कुछ नहीं कर सकते। इस सम्मेलनकी पूर्णाहुतिसे अपनेको कृतकृत्य नहीं समझना चाहिये। अभी बहुत कुछ करनेका है, जो कि मैं पहले ही कह गया हूँ। और सभी कार्योंमे द्रव्यकी अपेक्षा रहती है, इस बातको तो आप लोग जानते ही हैं।"

लोगोंके दिलमे आचार्य महाराजश्रीके उपदेशसे साहित्य प्रेमकी तरंगें उछलने लगीं। उसी वख्त महाराजा फतेहसिंहजीने यह जाहिर किया कि–" इस परिषद्के कार्यके लिये, रविवारके दिन रेलवे मुसाफरीका पास दिया जायगा। तथा हमारे पोकरण जिलेमें प्राचीन शोधखोल करावेंगे, तो उसका जो खर्च होगा, सो हमारी तरफसे दिया जायगा।"

तदनन्तर साहित्यसम्मेलनकी एक ऑफीस खोल करके उसका कार्य चलानेके लिये एक चंदा किया गया। जिसमें निम्न लिखित सज्जनोंने, निम्नलिखित रुपये देनेका जाहिर किया:–

२००) महाराजा फतेसिंहजी साहेब.	६१) लोढा लूणकरणजी. तींवरी.
१५१) सेठ हीराचन्दजी सचेती, अजमेर.	५१) सेठ आणंदजी पुरुषोत्तम. भावनगर.
१०१) सेठ गणेशमलजी, जोधपुर	५१) मूता बखतावरमलजी. जोधपुर.
१०१) सेठ सोभागमलजी, अजमेर.	५१) श्रीमान् किशनलालजी ,,
१०१) सेठ लक्ष्मीचन्द्रजी वैद, आगरा.	५१) श्रीमान् श्यामविहारीलालजी जोधपुर.
१०१) सेठ लक्ष्मीचन्द्रजी वीया, प्रतापगढ	५१) मूताजी उमेदचंदजी. ,,
१०१) सेठ फूलचन्दजी गुलेच्छा, फलोधी	५१) पुनमचंदजी सियाणावाले. ,,
१०१) सेठ मोहनलाल मगनलाल, अहमदावाद.	५१) वॉलन्टीयर्स मंडल. ,,
१०१) सेठ उदयमलजी शाह, ब्यावर.	५१) उमेदचदजी खीमसरा. ,,
५१) चादमलजी मूता जोधपुर.	२५) वकील जालमचन्दजी.
२५) एक गृहस्थ	

इसके बाद सेक्रेटरी सेठ गणेशमलजीने, खडे होकरके जिन २ महाशयोंने इस अधिवेशनमे अपनी २ शक्तिके मुताबिक मदद दी थी, उनको और अविश्रान्त उद्यम करनेवाली वॉलन्टीयर्स कमेटीको हार्दिक धन्यवाद दिया। तदनन्तर संगीतमंडलीके बालकोंने मधुर स्वरसे धन्यवादका यह अन्तिम संस्कृत गान, जो कि–पं० नित्यानंदजीने बनाया था, गाया। और पश्चात् सभा विसर्जन की गई।

१२	श्रीयुत उमरावचन्दजी मूहता.	वॉलन्टीयर.
१३	,, सनरूपमलजी लोढा.	,,
१४	,, कुशलराज भणशाली.	,,
१५	,, गोविंदचन्दजी सिंघी.	,,
१६	,, सायरचन्द लूनकरणजी	,,
१७	,, भेरवमलजी म्हेता.	,,
१८	,, गनपतचन्दजी म्हेता.	,,
१९	,, जोरावरमलजी म्हेता,	,,
२०	,, बुधमलजी लोढा.	,,
२१	,, अखेचन्दजी कुमठ.	,,
२२	,, शिवनाथमलजी सिंघी.	,,
२३	,, गोरधनलालजी महेसरी.	,,
२४	,, नच्छराजजी भणशाली.	,,
२५	,, सपतलालजी चौधरी.	,,
२६	,, रघुवीरचन्दजी भंडारी.	,,
२७	,, मिश्रीमलजी भंडारी,	,,
२८	,, चन्दनमलजी भंडारी.	,,
२९	,, हिमतमलजी भंडारी.	,,
३०	,, नथमलजी म्हेता.	,,
३१	,, कल्याणमलजी सिंघी.	,,
३२	,, प्रयागराजजी भंडारी.	,,
३३	,, माणेकमलजी म्हेता.	,,
३४	,, छगनराजजी लोढा.	,,
३५	,, रूपराजजी भंडारी.	,,
३६	,, माधचन्दजी भंडारी.	,,
३७	,, मदनचन्दजी भंडारी.	,,
३८	,, सुजानमलजी भंडारी.	,,
३९	,, सुगालचन्दजी गरडीया.	,,
४०	,, पदमराजजी भंडारी.	,,
४१	,, रूपसिंहजी म्हेता.	,,

॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

श्री

जैन-साहित्य-सम्मेलन

कार्य विवरण–दुसरा भाग.

श्री जिनवाणी मातानी अरजी.



(લેખક—મુનિરાજ શ્રી વિદ્યાવિજયજી.)

૧

સુણજ્યો સૌ સાહિત્ય સેવિઓ, આજ પાસ તુમ આવ્યો છું;
જિન વાણી—માતાની અરજી, કરસમ્પુટમાં લાવ્યો છું;
દયા ધરીને સુણજ્યો યારો, દયાવન્ત કહેવાઓ છો,
નિજમાતાની દાદ સુણો આ, જો સત્સુત કહેવાઓ છો.

૨

જો મારા સન્તાન તમે છો, મુજ દુખિનીના લાલક છો,
તો જાગોને ઘોર નિંદથી, પુત્ર—ધર્મના પાલક છો;
ઘણી નિંદ લીધી હે પુત્રો! કાળ ગયો છે અપરિમિત,
આંખ ઉઘાડી આળસ મરડો, જુઓ મળ્યાં છે ઘણાં નિમિત્ત.

अथ धन्यवादः

('व्रजराज आज साँवरो' इति रागेण गीयते)

धन्योऽस्ति स प्रभुः सनातनः परेश्वरः।
अविकारवर्जितोऽर्जितोदयोऽविनश्वरः ॥ १ ॥

यस्य प्रसादतो महाश्रिया समूर्जितः।
समाप्तिमागतोऽर्थ एष विघ्नवर्जितः ॥ २ ॥

धन्योऽस्त्ययं महामुनिः स धर्मसूरिकः।
प्रावृष् योऽस्य बीजक रुचाऽतिभूरिकः ॥ ३ ॥

धन्यः सतीशचन्द्रको य एष पण्डितः।
सभामभूषयत्तरां गुणालिमण्डितः ॥ ४ ॥

धन्यस्तथा महाशयो जेकोबीनामकः।
साहाय्यमत्र यो ददेऽपि दुग्धामकः ॥ ५ ॥

कार्यं विहाय य पुनः सभ्या समागता।
धन्यास्त उत्तमाः पर जनेषु सम्मताः ॥ ६ ॥

उपसंहारः

प्रज्ञासकलनं फलमफलनं दुर्मेधसां हेलन
गुप्तेर्निर्दलन शुभप्रचलनं प्राग्वर्त्तिनां खेलनम्।
नित्यानन्दकशास्त्रिणा सुविमलं मेधावता केलॅन
प्राणायीति समग्रन्ल जिनजुषा साहित्यसम्मेलनम् ॥ ७ ॥

---

१ इचा कान्त्या भूरि सुवर्णं अतिक्रान्त। २ प्राचीनवस्तुगोपनस्य खण्डनकरम्। ३ हास-दायकानां (खेलन क्रमभूमिरित्यपः) ४ क्रीडागृहम्। ५ रचितम्॥

परिशिष्ट 'ए'

श्रीप्रथमजैनसाहित्यसम्मेलन जोधपुर, के पदाधिकारियोंकी नामावली।

१	मूता बखतावरमलजी, (सुपरिन्टेन्डेन्ट कोर्ट ऑफ वार्डस)	सभापति,
२	सेठ गणेशमलजी	सेक्रेटरी.
३	श्रीयुत किशनलालजी बी. ए. (राजएडवोकेट)	”
४	वकील जालमचन्दजी,	”
५	श्रीयुत टेकचन्दजी सिंघी (ओ. मेनेजर श्रीयशोविजय पाठशाला–बनारस)	”
६	मास्तर कुंदनमलजी,	प्रेसरीपोर्ट.
७	श्रीयुत छगनमलजी.	”
८	श्रीयुत देवराजजी.	ट्रेझरर.
९	श्रीयुत सुमेरमलजी.	”
१०	श्रीयुत लालचन्दजी.	टाईपीस्ट.

परिशिष्ट 'बी'

श्रीजैनसाहित्यसम्मेलन जोधपुर के वालन्टीयरोंकी नामावली.

१	श्रीयुत	अमोलखचन्दजी (हेड मास्तर सरदार स्कूल)	कॅप्तान.
२	”	कुन्दनमलजी बाफणा (सेकंड मास्तर सरदार स्कूल)	”
३	”	भैलापचन्दजी सिंघी (थर्ड मास्तर सरदार स्कूल)	”
४	”	रामप्रसादजी शर्म्मा (क्लार्क रेलवे ऑफीस)	”
५	”	शिवारामजी.	वॉलन्टीयर
६	”	छगनमलजी पटवा.	”
७	”	नगराजजी मूहता.	”
८	”	सुकनराजजी गोईलिया.	”
९	”	पारसचन्दजी सुराणा.	”
१०	”	अचलचन्दजी भंडारी.	”
११	”	दलपतचन्दजी मूहता.	”

૩

થઇ દશા શી આજ સુધી મુજ, રહુ' સ્થાન હું કેવામાં ?
દયા કરો સન્તાનો આજે, મારી ખબરજ લેવામાં;
દુર્ગન્ધીનો પાર નહિં ને, જ્યાં વાયુ સંચાર નહિં;
અન્ધકાર ઘમઘોર રહ્યો છે, તડકાનો લવ લેશ નહિં.

૪

કેદ—કોટડીમાં પડિ રહીને, તુમ માતા મૂઝાયે છે,
કીટ—કથીરો અને કંથુઆ, મુજ અંગોને ખાયે છે;
જરજર કરતું જિન વાણીનું, અંગ થયું જીરણ ઝાઝું,
નિધા કરો નિજ માત ભણી, કેવું શું છે ઝાઝું ઝાઝું.

૫

માતાની રક્ષા કરવી તે, સત્પુત્રોનો ધર્મ કહ્યો,
માતૃ ભકિતથી હીન રહ્યો તે, કુપુત્રનો સરદાર કહ્યો;
જે માતાને એક પુત્ર છે, તે, પણ પ્રેમથી સુખ આપે,
તેર લાખ પુત્રો હોયે પણ, શું તમ માતા સન્તાપે ?

૬

નિજ માતાની રક્ષા કારણ, પૂર્વ પુરૂષો શું કરતા ?
ધ્યાન ધરો આજે સન્તાનો, અનુત્સાહ મન શું ધરતા ?
દેશ ગણ્યો ના વેશ ગણ્યો નિજ, દેહની રક્ષા ના કીધી,
કષ્ટ કોટિની સામે થઇને, માતૃભકિત પૂરી કીધી.

૭

એક સમય મારે માટે તે, સુખ—સુખનો સંચાર હતો,
રાત દિવસ મારી ચર્ચાનો, પ્રેમ ભર્યો નિર્ઘોષ થતો;
માતૃ ભક્ત સન્તાનો કારણ, રત્નવતી હું કહેવાતી,
હર્ષ હર્ષથી ઉભરાતી ને, રે'તી નિત્યે મદમાતી.

૮

અરે, ગયા ક્યાં ? હેમ–હરિ ને, વાદિદેવ વાદો કરતા,
સિદ્ધસેન ને હીરવિજય પણ, પ્રેમ થકી રક્ષા કરતા;
જુઓ કેશરી જાગ્યો હીરો, યશોવિજય ઉપજ્ઞતયખરો,
રક્ષા કીધી જોર શોરથી, હરદમ તેનું ધ્યાન ધરો.

૯

આજે મુજને કેદ કરીને, ' પૈ બેઠા જે રક્ષક છે,
હાય ! નહિં રક્ષક પણ તે' તો, રાક્ષસ જેવા ભક્ષક છે;
પુત્ર પ્રેમથી આજ કહું છું, સુણો વચન આ કાનધરી,
દુનિયામાં શું થઈ રહ્યું છે, જુઓ નિંદને ત્યાગ કરી.

૧૦

દુનિયા ચેતી આળસ મરડી, તત્પર છે ઉત્સાહ ઘણો,
કરી રહ્યા ઉદ્ધાર સુરતનો, ભાષાના સાહિત્ય તણો;
તન-મન-ધનથી નિજ માતાનો, કરી રહ્યા કેવો ઉપકાર ?
દેખો આંખ ઉઘાડી આજે, કરતા છે તે વિવિધ પ્રકાર.

૧૧

હા ! હા ! દુઃખડાં રોતી રહુંછું, કરૂં કોણ આગળ પોકાર ?
જે બ્હેનો મુજથી દબતી'તી, આજ વધે છે ધમધોકાર;
આજ પ્રભુતા શાલી તે છે, બની ગઇ હું છું નિસ્તેજ,
સ્થાન સ્થાન ફેલાતું દેખું, તે બ્હેનોનું તેજ જ તેજ.

૧૨

જયારે દેખું તે બ્હેનોને, નિત સુંદર શૃંગાર વતી.
બહુ વૈભવથી મદમાતીને, અલંકારથી મલકાતી;
ત્યારે જે ગતિ મારી થાયે, કંઇના પુછો તેનો હાલ,
ફાટે યદિ આ આજ પૃથિવી, જઈ બેસું સત્વર પાતાલ.

૧૩

જો જાણું કે આજ અમારા, પુત્રો છે સૌ શકિતહિન,
તો જાણું દુર્ભાગ્ય અમારૂં, શુચ કરે સન્તાનો દીન ?
નહિં ! પરન્તુ જયાં દેખું ત્યાં, સૌ સન્તાનો સુખ ભરપૂર,
ઉદારતાને ઉદ્યમમાં પણ, ના દેખાયે છે કમસૂર.

૧૪

લાખો રૂપિયા કરે ખરચ તે, ઝઘડા-રગડા કરવામાં,
'કે, સી, એસ ને આઈ' 'બહાદુર' 'રાય'ને 'રાજા' બનવામાં;
મોજ—શોખને લાડી—ગાડી—વાડીમાં થાયે બરબાદ,
થાય દશા શી નિજ માતાની ? કરે નહીં કો પુત્રો યાદ.

૧૫

ધિક ! ધિક ! હા ! તેજ જનોને, માતાની નહિ સાર કરે,
ફરે મસ્ત મદમાતા થઇને, પુત-પનોતાં માત મરે;
હાય ! દશા આ થઇ શું જોશો, કેમ કરી ચિત્ત રાખો સ્થિર ?
દયા નહીં જો પુત્રો મારા, કહો પછી કાં પુત્રો વીર ?

૧૬

આજ સુધી કાઢયા દિન આવા, આજ થઇ મુજને કંઇ શુધ.
ધન્ય, ધન્ય તે ધર્મસૂરિને જેણે લીધી મારી શુધ;
હળયા મળયા આજે સૌ કરવા, જિનવાણીનો પુનઃ પ્રકાશ.
એમ—પાસમાં બદ્ધ થઇને, અધિકાધિક મુજ પુરો આશ.

૧૭

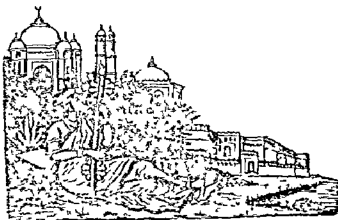
ત્રિદિશ તપના તેજ તાપમાં, શાન્ત સુધા વરસાઇ છે,
દિલ ખોલીને ધરો હસ્ત, આ સમય બહુ સુખદાઈ છે;
પોતાનું પરનું ને મારૂં, ચાહો અગર તમે કલ્યાણ,
એક દિલે ઉદ્ધાર કરો સૌ, નિશ્ચે બચશે પ્યારા પ્રાણ.

૧૮

આ સમ્મેલનમાં સૌ મળીને, મુજ રક્ષાની વાત કરો,
ખરૂં કહું છું આજ તમોને, જિન વાણીનું ધ્યાન ધરો;
યદિ ચાહો છો મારૂં ગૌરવ, ભક્તિ છે તુમ મન મન્દિર,
જિન મંદિર સાથે પણ કરજયો, જિન વાણી માતા મંદિર.

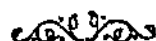
૧૯

અધિક કહું શું હવે તમોને, મારી લાજ તમારા હાથ,
કૃપા કરી દુખિની માતાને, કરો અન્યની માતા સાથ;
અર્જ કરૂં છું એક એટલી, સમ્મેલનમાં સ્હાય કરો,
વિજયધર્મસૂરીશ કૃપાથી, વિદ્યાનો ફેલાવ કરો.





જૈન સાહિત્યની ઉત્તમત્તા.



(લેખક—મુનિરાજ શ્રીભક્તિવિજયજી.)

જૈન સાહિત્યનો બહોળો ફેલાવો કરવાના હેતુથી જ જૈન સાહિત્ય સંમેલન નામનું પ્રથમ અધિવેશન, જોધપુર (મારવાડ) ખાતે ભરવાનો નિશ્ચય થયો છે. જૈન સાહિત્યની અંદરમાં રહેલા પદાર્થો તથા તત્ત્વજ્ઞાન, અધ્યાત્મ જ્ઞાન, નિશ્ચય, વ્યવહાર, નયનિક્ષેપા, સ્યાદ્વાદ, કર્મવિપાકનુંસ્વરૂપ, જડચૈતન્યની ઓળખાણ વીગેરે એવા પ્રકારે દૃષ્ટિગોચર થાય છે કે ષટ્ દર્શનની અંદર રહેલ ભિન્ન ભિન્ન મતાનુયાયિ વિદ્વદ્વર્ગ પણ મધ્યસ્થ દૃષ્ટિ પૂર્વક તપાસ કરતાં અપૂર્વ આનંદમાં ગરકાવ થયા વિના રહેશે નહીં. બ્રાહ્મણાદિ કુળમાં પૂર્વે થઈ ગયેલા શય્યંભવસૂરિ ચૌદ પૂર્વધર તથા તાર્કિકશિરોમણી ધુરંધર આચાર્ય શ્રીહરિભદ્રસૂરિ મહારાજ શીલંગાચાર્યાદિ અનેક મહાપુરૂષોએ પણ મધ્યસ્થ દૃષ્ટિથી જૈન સાહિત્યનું અવલોકન કરી, અપૂર્વ આનંદનીસાથ જૈન સાહિત્યનો સ્વીકાર કરી સ્વઆત્મકલ્યાણ કરવા પુરણ રીતે ભાગ્યશાલી બન્યા છે, તે આપણે ઐતિહાસિક પુસ્તકોનું અવલોકન કરતાં સ્પષ્ટ રીતે જાણી શકીએ છીયે. અનેક પ્રકારના પાપી જીવો પણ જૈનસાહિત્યના અધ્યાત્મ જ્ઞાનનો સ્વીકાર કરતા છતા પરમ સુખના આસ્વાદને પ્રાપ્ત કરી ગયા છે. આજ કારણથી પુર્ણ રીતે મધ્યસ્થ પુરૂષો જૈનસાહિત્યની ઉત્તમત્તા પ્રકટપણે જાણી શકશે, તેમાં જરાપણ અતિશયોક્તિ નથી. જગતમાં એવો કોઇપણ પદાર્થ નથી-એવું તત્ત્વજ્ઞાન નથી કે જે જૈન સાહિત્યરૂપી મહાસાગરમાં ઝલહલ કરતું વિકાશપણાને ન પામ્યું હોય. સાહિત્ય શબ્દનો અર્થ અન્યત્ર ઠેકાણે કાવ્યાદિકમાં પણ જોડાય છે, પરંતુ આ ઠેકાણે સાહિત્ય શબ્દથી 'જૈનાગમ સંગ્રહ' અર્થ કરવામાં આવ્યો છે. શબ્દોના અનેક અર્થો થઇ શકે છે. જેથી વિરોધ આવે તેવું નથી.

જૈનાગમ સંગ્રહમાં પ્રથમ ચરણ—કરણ, ધર્મકથા, ગણિત દ્રવ્યાનુયોગ મળી ચારે અનુયોગ પરસ્પર મિશ્ર હતા. ત્યારબાદ પાછળથી મહાન્ આચાર્યોદ્વારા આધુનિક સમયના જીવોની અલ્પ બુદ્ધિ જાણી ચારેના વિભાગ કરવામાં આવ્યા છે.

૧ આચારંગાદિ સૂત્રોમાં ચરણ કરણનો વિષય પ્રધાનપણે હોવાથી, તે ચરણ કરણાનુયોગ કહેવાય છે.

૨ સુયડાંગ, નંદિ, અનુયોગદ્વારાદિ સૂત્રોમાં દ્રવ્યાદિકનું પ્રાધાન્ય હોવાથી દ્રવ્યાનુયોગ નામથી કહેવાય છે.

૩ જ્ઞાનાધર્મકથા અને ઉત્તરાધ્યયનાદિ સૂત્રો-કથાનુયોગ કહેવાય છે.

૪ સૂર્યપન્નતિ, ચંદ્રપન્નતિ આદિકસૂત્રો—ગણિતાનુયોગથી કથન કરવામાં આવ્યાં છે.

આ ચારે અનુયોગમાં પ્રધાનપણે વ્યાખ્યા હોવાથી તેના જુદાં જુદાં નામ સ્થાપિત કરવામાં આવ્યાં છે. તે તમામનો સમાવેશ જૈનસાહિત્ય શબ્દમાં કરી શકાય છે. આવા પ્રકારનો જૈન સાહિત્યનો ફેલાવો કરવાથી ઘણા જીવો તેનો લાભ લઇ શકે અને કેટલાક તેનો મધ્યસ્થ દૃષ્ટિથી સ્વીકાર કરી સ્વઆત્મકલ્યાણ કરવા માટે પણ કટીબદ્ધ થાય, તેમાં જરા પણ સંશય રાખવા જેવું નથી.કારણ કે ગમે તે દર્શનવાળા હો, પરંતુ જે મધ્યસ્થ દૃષ્ટિથી દેખનારા છે, તેને કોઇ પણ દર્શન ઉપર અભિનિવેશ હોતો નથી. તેઓ અપક્ષપાતવાળા હોવાથી તત્ત્વના ગવેષક હોય છે અને તત્ત્વના ગવેષક હોવાથી તેઓનો મનરૂપી બાલ વૃષભ, નિપુણ અર્થનો નિશ્ચય કરનાર તત્ત્વજ્ઞાનરૂપી દુધ આપનાર ગાયની પછવાડેજ દોડે છે. વળી કહ્યું પણ છે કે—

स्वागमं रागमात्रेण द्वेषमात्रात् परागमं ।
न श्रयामस्त्यजामो वा किन्तु मध्यस्थया दृशा ॥ १ ॥

મધ્યસ્થ જીવો રાગ માત્રથીજ આ મારો આગમ સાચો માટે હું સ્વીકાર કરૂં, તેમ કરતા નથી. તેવીજ રીતે દ્વેષ બુદ્ધિથી પરાગમને છોડતા નથી. પરંતુ મધ્યસ્થ દૃષ્ટિવડે કરી તત્ત્વાતત્ત્વ, ગમ્યાગમ્ય, પેયાપેય, હિતાહિતનો બાહોશ વીચાર કરીને જ જે શુદ્ધ અને નિર્દોષ પૂર્વ પશ્ચાત્ બાધા રહિત જેમાં આત્મકલ્યાણની મર્યાદાઓ જાહોજલાલી કરી રહી હોય, જે આગમનું શ્રવણ કરતાં પણ રોમરોમ આનંદની લેહેરો ઉછળતી હોય, તેવાજ આગમોનો સ્વીકાર કરના ભાગ્યશાળી થાય છે. પરંતુ અમારા પૂર્વજો જે રસ્તે ચાલ્યા તે છોડીને હવે અમારે નવીન માર્ગ શામાટે ગ્રહણ કરવો ? બાપા દાદા કરી ગયા તેમ કરવું. એવી રીતે ગાડરીયા પ્રવાહની માફક અંધ પરંપરા ચલાવીને અજ્ઞાનરૂપી અંધ કુપમાં પડતા જ નથી. જેથી સાચાને સાચુ ગ્રહણ કરી શીઘ્ર સ્વયમેવ આત્મકલ્યાણ કરી શકે છે. જેથી આ સમેલનમાં જૈન અથવા જૈનેતર ગમે તે હો, પરંતુ તેઓનો ઉત્સાહ અમારા વીચાર પ્રમાણે અમો તો પ્રાયઃ હિતકર સમજીએ છીએ. કારણ જે જીન કેતાં-કેવલી તીર્થંકર-સર્વજ્ઞ તેનાં વચનામૃત તેનેજ જૈનસાહિત્યનો ઉલ્લેખ કરવામાં આવ્યો છે, ત્યારે સર્વજ્ઞનાં વચનામૃતો ભવ્ય જીવોની હૃદયભૂમિકામાં પ્રસાર પામી, લાખ્ખો બલ્કે કરોડો કલ્યાણના જુદા જુદા અંકુરો પ્રગટ થાય,તેમાં જરાપણ અતિશયોક્તિ નથી.ત્યારે હવે જિન કોને કહેવા?

તે બાબત પણ સામાન્ય રીતે પ્રગટ કરવી જોઇએ. રાગાદિ શત્રુઓ જે અનાદિ કાળથી સંસારી જીવોને ચાર ગતિમાં ભમાડી અનેક પ્રકારની વિડંબના પમાડી રહ્યા છે, તેને સર્વથા જીતવાથી જીન કહેવાય છે. આદિ શબ્દથી દ્વેષ, હાસ્ય, રતિ, અરતિ, ભય, શોક, દુગંચ્છા, કામ, મિથ્યાત્વ, અજ્ઞાન, નિદ્રા, અવ્રત, દાનાંતરાય, લાભાંતરાય, ભોગાંતરાય, ઉપભોગાંતરાય, વીર્યાંતરાય, આ પ્રકારના અઢારે દોષો જેઓએ સમુલથી દૂર કર્યા છે, તેને જીન કહેવાય છે. અપરનામથી મહાદેવ, શંકર, બ્રહ્મા, જગદીશ્વર ઇત્યાદિકથી પણ બોલવામાં કોઇ જાતની હરકત નથી. પરંતુ પૂર્વોક્ત અઢાર દોષો જેઓને ક્ષય થયા નથી, તેઓને **જીન અથવા મહાદેવ** કેવી રીતે કહી શકાય? અને દોષયુકતને પણ મહત્ત્વનો ઉલ્લેખ કરવામાં આવે તો નીચે બતાવેલ યુક્તિથી ઘણા દોષો આવી પડે છે. કહ્યું છે કે—

कामानुपक्तस्य रिपुप्रहारिणः प्रपश्चिनोनुग्रहशापकारिणः।
सामान्यपुंवर्गसमानधर्मिणो महत्त्वक्लृप्तौ सकलस्य तद्भवेत् ॥१॥

કામ યાને રતિક્રિડામાં આશકત અને શત્રુનો નાશ કરનાર અને પ્રપંચની રચના કરનાર તથા અનુગ્રહ અને શાપ દેનાર અર્થાત્ કોઇ ઉપર ખુશી થઇ તેને રાજ્ય આપવું, દ્વેષ કરી શાપ દઇ ભસ્મ કરવો ઇત્યાદિક દુષણવાલો પુરૂષ સામાન્ય પુરૂષ વર્ગના સમાન ધર્મિવાળો હોવાથી તેઓને મહત્ત્વપણાની રચના કરવામાં આવે તો સકલજન સમાજને મહત્ત્વ થઇ શકે. કારણ કે ઉપર બતાવેલ વિશેષણોમાં કોઇને કાંઇ તો બીજાને તેથી બીજું મળી શકે છે. જેથી તમામને મહત્ત્વપણાની પ્રાપ્તિ થઇ કહેવાય તેમ થતું નથી. જેથી ઉપર બતાવેલ દૂષણરહિતનેજ જીન, મહાદેવ કહી શકાય છે. આ પ્રકારે તમામ દોષો જેઓના નાશ થયા છે અને નાશ થયાથી જેઓને કેવળજ્ઞાન પ્રાપ્ત થયું છે અને કેવળજ્ઞાન વડે કરી લોકાલોકના પદાર્થો જેણે એક સમયની અંદર પણ આત્મ સાક્ષાત્ કર્યા છે, તેવા જીનેશ્વરોનાં વચનો ઉપર જરૂર આપણને પુરણ વિશ્વાસ રહી શકે છે. કારણ કે પુરૂષનો વિશ્વાસ હોય તો જ તેઓના વચનનો વિશ્વાસ હોઇ શકે, અને વચનનો વિશ્વાસ હોય ત્યારે જ તેઓને સાંભળવાની, ગ્રહણ કરવાની, મધ્યસ્થ સાક્ષરોની પ્રવૃત્તિ થઇ શકે. સર્વજ્ઞના વચનામૃતરૂપી મહાસાગરને જૈન સાહિત્ય કહેવાનો જ્યારે નિશ્ચય કર્યો, ત્યારે હવે વીચાર કરો કે તેની કેટલી બધી ઉત્તમત્તા રહેલી છે? તે ઉત્તમતાનું હું તો આ ઠેકાણે શું વર્ણન કરી શકું? પરંતુ વાચસ્પતિ પણ તેની ઉત્તમતાનું વર્ણન કરવાને શકિતમાન નથી. અર્થાત્ વાણીથી અગોચર છે. જીવાદિ અતિન્દ્રિય પદાર્થોનું જ્ઞાન એટલું બધું ગંભીર છે કે, તેને સર્વજ્ઞ અને સર્વજ્ઞના સિદ્ધાંતને છોડીને કોઇપણ કથન કરવાને શકિતમાન નથી. શાસ્ત્રમાં કહ્યુ છે જે—

जीवाण गइ, कम्माण परिणइ, पुग्गलाण परियट्टं ।
मुत्तूण जिणं जिणवरमयं च कोजाणिउं तरइ? ॥१॥

જીવોની ગતી એક ગતીથી બીજી ગતીમાં ગમન તથા કર્મોની પરિણુતિ જ્ઞાનાવરણીય, દર્શનાવરણીય, વેદનીય, મોહનીય, આયુઃ નામકર્મ, ગોત્ર, અંતરાય તેઓની જુદા જુદા રૂપે પરિણુતી અર્થાત્ અમુક સમયમાં આ જીવે અમુક કર્મ બાંધ્યુ, ઇત્યાદિ તથા પુદ્ગલોનું પરાવર્તન એટલે જુદાં જુદાં રૂપે બનવાં. કોઇ વખત મનુષ્યના શરીરરૂપ, કોઇ વખત ભસ્મરૂપ, કોઇ વખત વિચિત્ર ઘાટરૂપ ઇત્યાદિક જુદા જુદા પ્રકારે પરિણમવું વિગેરે. જીવને છોડી અથવા જીનેશ્વરના કથિત આગમને છોડી, કોણ જાણવાને શકિતમાન્ થઇ શકે ? અર્થાત્ અમે જો મધ્યસ્થ દૃષ્ટિથી વીચારીએ તો એમજ કહીએ કે, તે શિવાય કોઇ પણ કથન કરવાને શકિતમાન નથી. જૈન સાહિત્યમાં જીવ તથા કર્મનું સ્વરૂપ સ્પષ્ટ રીતે વર્ણન કરેલ છે, તેની નોંધ સામાન્ય રીતે લખું છું.

જીવ અને કર્મ તે બંનેનો સંયોગ ખીર–નીર પેરે અનાદિ છે. કર્મ જડ પદાર્થ છે, જીવ ચૈતન્ય ગુણુવાળો છે. અનંત પુદ્ગલ પરમાણુઓ મળી કર્મ યોગ્ય વર્ગણા થાય છે. તે આત્માની સાથ અનાદિકાળથી લાગેલ છે. જેમ જેમ જીવ ભોગવે છે, તેમ તેમ છુટી થતી જાય છે; અને પાછી નવી બંધાય છે.

એકવારનું બાંધેલ કર્મ સદાકાળ પહોંચતું નથી. જીવના જેવા જેવા પરણામ થાય છે, તેવાં તેવાં કર્મ બંધાય છે. એવી રીતે ઘટમાળા ચાલ્યા કરે છે. જેમ ચીકાસવાલા પદાર્થને રજ લાગે છે, તેમ જીવને રાગ દ્વેષની પરિણુતીરૂપ ચીકાસના યોગે કર્મના પુદ્ગલો આવીને વળગે છે, તે વખતે બંધ થાય છે. પછી જયારે શુભાશુભ ઉદય આવે છે, ત્યારે તેનાં ફળ શુભાશુભ ભોગવે છે. જેથી કોઇ વખત રાજા કોઇ વખત રંક, કોઇ વખત દેવતા, કોઇ વખત નારકી, ધની, નિર્ધનિ, શેઠ, નોકર ઇત્યાદીક જગતની વિચિત્રતા દેખવામાં આવે છે. કોઇ કહેશે જે જીવને કર્મ લાગ્યાં તે દેખાતાં નથી, તો શાથી જાણવું જે કર્મ લાગ્યાં તે બાબતમાં જાણવું કે જેમ શીતાદિ પુદ્ગલો આપણા શરીરે સ્પર્શ કરે છે, તે આપણે દેખી શકતા નથી, છતાં નિશ્ચય કરીયે છીયે; કે આ શીતસ્પર્શ–આ ઉષ્ણ સ્પર્શ, તેવીજ રીતે કર્મ દેખાતાં નથી, છતાં તેનો ઉદય આવ્યાબાદ પૂર્વોક્ત જગત્‌ની વિચિત્રતા દીઠામાં આવે છે. તેથી નિશ્ચય થાય છે કે આ શુભાશુભ કર્મનાં ફળ છે. કેવલી તો સાક્ષાત્ દેખે છે. આપણે અનુમાનથી ઉપર બતાવ્યા પ્રમાણે ચોક્કસ કરી શકીયે છીયે; આ પ્રમાણે અનાદિ કાળથી જીવ અને કર્મનો સંયોગ અને તેથી થતી જગત્ વિચિત્રતા ઘટમાળાની માફક ચાલી જ રહી છે.

. અહીં કોઇ કહેશે કે–આત્માના ચૈતન્ય ગુણુને કર્મરૂપી જે જડ પદાર્થ તે કેવી રીતે આચ્છાદન કરી શકે ? તો તે બાબતમાં જાણવું જોઇએ કે જ્ઞાન (બુદ્ધિ) અરૂપી છતાં મદીરા પાન કરનારાને જ્યારે મદીરાનો કેફ ચડે છે, ત્યારે બુદ્ધિ નષ્ટ થઇ જાય છે. નહી બોલવાનાં વચનો બોલે છે. જ્યારે મદીરાનો કેફ ઉતરે છે, ત્યારે જેવી હતી તેવી ઠેકાણે આવે છે. તેજ પ્રમાણે કર્મરૂપી મદીરાનો કેફ ચડવાથી આત્માનો જ્ઞા-

નાદિ ગુણ અવરાઇ જાય છે. જેમ સોનુ', મણિ, માણેક, હીરા વિગેરે ઉપર મેલને સમૂહ લાગવાથી તેનું સ્વરૂપ દેખાતું નથી, તેવીજ રીતે આત્મા ઉપર કર્મરૂપી મેલ લાગવાથી આત્માનું જે શુદ્ધ સ્વરૂપ સચ્ચિદાનંદમય છે તે દેખાતું નથી. જ્યારે સુવર્ણાદિને બરાબર પુર્ણ રીતે અગ્નિનો સંયોગ લાગે છે, ત્યારે પોતાના શુદ્ધ સ્વરૂપને ધારણ કરે છે, તેજ પ્રમાણે આત્માને પણ તપરૂપી અગ્નિ લાગવાથી કર્મરૂપી મેલ દગ્ધ થતાં શુદ્ધ સ્વરૂપ રૂપી અનંતજ્ઞાન, અનંતદર્શન, અનંતસુખાદિ કે જે અનાદિકાળથી આચ્છાદિત થયેલા ગુણો રહેલા છે તે પ્રગટ થાય છે. પછી કોઈ દીવસ દુઃખનો અંશ લેશમાત્ર પણ પ્રાપ્ત થતો નથી. કારણજે કેવળજ્ઞાન પામેલા કેવળજ્ઞાની સ્વ આયુઃપુરણ કરી, સિદ્ધમાં (મોક્ષમા) બીરાજમાન થાય છે, કે જ્યાથી ફરીને જન્મ લેવાનો નથી. અરૂપી, અચ્છેદિ, અભેદી, અણાહારી પદને પામ્યા પછી કોઇ દીવસ દુઃખાદિનો લેશ પણ તેઓને નથી. જ્યાં જન્મ મરણ છે, ત્યાં દુઃખાદિ હોય છે. જ્યાં જન્મ મરણનો નાશ થયો તે તો અપૂર્વ સુખમાં ગુપ્ત રહ્યા છે. જેથી સદાકાળ નીરંતર આત્મ સ્વરૂપમાંજ રમણતા કરનારા છે. આ પ્રમાણે જીવ તથા કર્મનું સ્વરૂપ અને કર્મથી વિમુકત થવાથી જીવનો અપૂર્વ ગુણો વીગેરે લેશ માત્રથી બતાવ્યા. બાકી તેનું વિશેષ સ્વરૂપ જૈન સાહિત્યમાં રહેલા કર્મગ્રન્થ, કમ્મપયડી, પંચસંગ્રહ વિગેરે ગ્રન્થોમાં ઘણુજ વીસ્તારથી વર્ણન કર્યું છે. અમો છેવટમાં અંતઃકરણથી એજ ઇચ્છીએ છીએ કે આવા પ્રકારની જૈન સાહિત્યની ઉત્તમતાને બરાબર દેખી, તેનો વીચાર કરી, તેમાં રહેલા તત્વના ગવેષક બની દરેક જીવો સ્વાત્મકલ્યાણ કરવા ભાગ્યશાળી બનો અને વારંવાર જૈન સાહિત્યરૂપી સુધારસનું પાન કરો. એટલીજ અમો પ્રાર્થના કરી વીરમીએ છીએ.

ૐ શાન્તિ.





જૈન સાહિત્યમાં કર્મ સંબંધી ગ્રન્થોનો વિસ્તાર.

(લેખકઃ-શેઠ કુંવરજી આણંદજી, ભાવનગર.)

ઘણા વખતથી હૃદયમાં એવી ઇચ્છા રહ્યા કરતી હતી કે જૈન સાહિત્યના શોધને માટે, શુદ્ધિને માટે, વૃદ્ધિને માટે, ઉત્તેજનને માટે, નિવારણને માટે તેમજ સંસ્કરણને માટે સંમેલનના રૂપમાં જૈનવર્ગના વિદ્વાન અથવા વિદ્યાવિલાસી ગણાતા શ્રાવક વર્ગે એકત્ર મળવાની જરૂર છે, અને તે પ્રસંગે સ્થાન એવું રાખવું જોઇએ કે જ્યાં વિદ્વાન મુનિ મહારાજાઓનો સમુદાય પણ હોય. આ ઈચ્છાને અનેક સુજ્ઞ બંધુઓ તરફથી તે વિચારને પુષ્ટિઆપવારૂપ અથવા સંમતિ દર્શાવવારૂપ જળ સિંચન થતું હતું. અને તેથી તે ઇચ્છારૂપી વૃક્ષવૃદ્ધિ પામ્યા કરતું હતું. એવા સમયમાં સોજતમાં એવું સમેલન કરવાના ખબર મળતાં આનંદ ઉત્પન્ન થયો અને બની શકે તો થોડો પણ તેમાં ભાગ લેવા ઇચ્છા થઈ.

આ પ્રસંગે જણાવવાની આવશ્યકતા છે કે–જૈન વર્ગ વ્યવહારિક કેળવણીમાં પણ જોઇએ તેવો આગળ વધેલો નથી, અને ધાર્મિક શાસ્ત્રોનો અભ્યાસ કરીને તેના વિદ્વાન અથવા સાક્ષર કહેવાય તેવા શ્રાવક વર્ગમાં તો બહુ અલ્પ છે, અથવા બીલકુલ નથી એમ કહું તો પણ ચાલી શકે તેમ છે. મુનિવર્ગમાંથી જો કે એવા વિદ્વાનોની સંખ્યા ઉપલબ્ધ થાય તેમ છે. પરંતુ તે બધા કોઇ કારણને પામીને એકત્ર થાય અને જૈન સાહિત્યને અંગે જરૂરના વિચારો કરે એ વખત તરતમાં પ્રાપ્ત થાય, એવો સંભવ જણાતો નથી. એટલે એવા વિદ્વાન મુનિ મહારાજાઓની એકત્રતા થાય. ત્યાં સુધી બેસી રહેવા કરતાં એ દિશામાં કાંઇપણ પ્રયત્ન કરવો એ યોગ્ય છે; એમ જણાય છે. અને તેને માટે વિદ્વાન કે સાક્ષર હો કિંવા ન હો પણ વિદ્યાવિલાસી હોય, જૈન શાસ્ત્રોપર અંતઃકરણનો પ્રેમ હોય, અને તેના ઓછાવત્તા પણ અભ્યાસી હોય, વધારે અભ્યાસ કરવાની ઉત્કંઠાવાળા હોય, તેઓ એકત્ર મળે, અને જૈન સાહિત્યના સંબંધમાં પર્યાલોચના કરે એ આવશ્યક અને ઉપયુક્ત લાગે છે.

સાહિત્ય શબ્દ સંસ્કૃતમાં કાવ્યાદિના ગ્રન્થો માટે વાપરવામાં આવે છે. પરંતુ આ સંમેલનને જૈન સાહિત્ય સંમેલન કહેવામાં આવ્યું છે, તેમાં જૈન સાહિત્ય શબ્દે જૈનધર્મના તમામ પ્રકારના શાસ્ત્રોનો સમાવેશ કરવામાં આવ્યો છે. સિદ્ધાંતો,

પંચાંગી, ગ્રંથો, પ્રકરણો, કાવ્યો, ચરિત્રો, વ્યાકરણો, કોષો, ન્યાયગ્રંથો, અન્ય અન્ય વિષયોના ગ્રંથો, બાળાવબોધો, ટબાઓ, ગુજરાતી મારવાડી કે હિંદી ભાષામાં લખેલી વાર્તાઓ, રાસો અને બીજા નાના મોટા ભાષામાં લખેલા પદ્યાત્મક સ્તવન, સઝાય પદાદિ એ સર્વનો જૈન સાહિત્યની અંદર સમાવેશ કરવામાં આવ્યો છે.

જૈન સાહિત્યને અંગે શું શું કરવા યોગ્ય છે, તે પણ અત્ર બતાવવાની આવશ્યકતા જણાય છે.

૧ લખેલા પુસ્તકોના દરેક ભંડારો જાહેરમાં લાવવા.

૨ એવા ભંડારોનો વિનાશ થતો અટકાવવો.

૩ દરેક ભંડારોની એક સરખી ટીપ તૈયાર કરાવવી.

૪ દરેક જાતિના ગ્રન્થો કે શાસ્ત્રો ક્યાં ક્યાં છે? કેવી સ્થિતિમાં છે? તે જાણવા માટે જૈન ગ્રન્થાવળી જેવી ગ્રન્થાવળી છપાવીને પ્રસિદ્ધ કરવી.

૫ પરસ્પરના વિશ્વાસથી દરેક ગ્રન્થોનો લાભ કોઇપણ સુજ્ઞ વ્યકિત લઇ શકે તેવા નિયમો કરવા.

૬ જે જે ગ્રન્થો છપાય તે જેમ બને તેમ વિશુદ્ધ છપાય તેવી પ્રેરણા, વ્યવસ્થા, ગોઠવણ કરવી.

૭ અશુદ્ધ અથવા વિપરીત છપાતા ગ્રન્થોને અટકાવવા. અથવા છપાયા બાદ પણ તેને તેવા રૂપમાં જાહેર કરવા.

૮ નવા છપાતાને છપાયેલા ગ્રન્થો વિગેરેનું સમાલોચન કરી, તેને તેના ખરા સ્વરૂપમાં જાહેરમાં મુકે તેવું એક મંડળ સ્થાપવું.

૯ છપાયેલાને છપાતા દરેક ગ્રન્થો લભ્ય થાય, તેવી સારી લાઇબ્રેરીઓ સ્થાપવાની યોજના કરવી.

૧૦ સ્વ બુદ્ધિથી નવા લખાઇને છપાતા લેખો વિગેરેની ઉપર કોઇ પણ પ્રકારનો અંકુશ મુકવો, કે જેથી શાસ્ત્ર વિરૂદ્ધ લેખ પ્રકટ ન થાય.

૧૧ જૈન સમુદાયની અંદર પરસ્પર વિરોધ ઉત્પન્ન કરે, તેવા લેખો વિગેરે ન લખવા માટે અંકુશ મુકવા પ્રયત્ન કરવો.

ઈત્યાદિ અનેક બાબતો સંબંધી વિચાર આવા સાહિત્ય સંમેલને એકત્ર મળીને કરવાના છે. અને તે સંબંધી ઠરાવો પણ કરવાના છે. આ તમામ બાબતોમાં પ્રથમ સંપવૃદ્ધિની આવશ્યકતા છે, અને પરસ્પરના સત્કાર્ય તરફ મિષ્ટ દૃષ્ટિની જરૂર છે. જ્યાંસુધી આપણામાંથી ઇર્ષા દૂર થશે નહિં, ત્યાંસુધી આપણે કોઇ પણ કાર્યમાં પૂર્ણ ફતેહમંદ થવાના નથી.

ઉપર જણાવેલા દરેક કાર્યમાં સર્વ કાર્ય કરતાં અગ્ર કાર્ય આપણા પૂર્વ પુરૂષો આપી ગયેલા છે, તે વારસો સંભાળી રાખવાનું છે. આપણા લખેલા પુસ્ત-

કોના ભંડારો કે જે વિદ્વાન મનુષ્યોને ભોગ પડતા નથી, અને બેઇંદ્રી કે તેઇંદ્રી જીવોને ભોગ પડે છે. શરદીમાં તરબોળ થઇ વિનાશ પામી જાય છે. તેના નિવારણની અત્યંત આવશ્યકતા છે. એ આપણો અમૂલ્ય વારસો છે. એની કીંમત કોઇ પ્રકારે આંકી શકાય તેમ નથી તેથી આપણે સુપુત્ર થઇને વડીલની દોલતમાં વૃદ્ધિ કરીએ એવા થવું તો દૂર રહ્યું, પણ જે આપી ગયેલ છે, જેમાંથી ઘણું તો વિનાશ પામી ગયું છે, છતાં તેમાંથી જે કાંઇ જુજ બચેલું છે, તેનું રક્ષણ કરવાની જરૂર છે–અત્યંત જરૂર છે. જો એમાંથી વિનાશ થવાનું હજુ પણ શરૂ રહેશે તો પછી કાળાંતરે આપણે શ્રીમંત ગણાઇએ છીએ, તે દરિદ્રીની ઉપમાને પાત્ર બનશું, અને સુપુત્ર કે પુત્ર કહેવાવાને બદલે કુપુત્ર કહેવાશું.

જેઓને આ વસ્તુની કિંમત નથી, અથવા જેઓ તેનું રક્ષણ કેમ થાય, તે સમજતા નથી, તેની દયા ખાઇને તેને સીધે રસ્તે લાવવાની આપણી ફરજ છે. આ બાબતમા વધારે ન લખતાં તે હકીકત સુજ્ઞોના લક્ષમાં લાવવા જેટલું જ કહીને હવે હું મારા મૂળ વિષય ઉપર આવું છું.

સંમેલન તરફથી જૈન સાહિત્યને અંગે કોઇપણ વિષય ઉપર લેખ લખી મોકલવાનું નિમંત્રણ થયું, તે વખતે વિચાર કરતાં સર્વત્ર કર્મનું જ ચિત્ર દૃષ્ટિગોચર થતાં તેને અંગે જૈન સાહિત્યમાં કયા કયા ગ્રંથો છે, અને તેમાં શું શું વિષય દાખલ કરેલ છે, તે સંબંધી આજસુધી મારા જાણવામાં જે કાંઇ આવેલ છે, તે લખી મોકલવા ઇચ્છા થઇ, અને તે ઉપરથી મથાળે લખેલા નામનો એક ટુંકો લેખ લખી મોકલવાનું મેં સ્વીકાર્યું. સદરહુ લેખ લખતાં પ્રારંભમાં પ્રસંગને અનુસરતું કાંઇક પ્રબળ ઇચ્છાના વેગને આધીન થઇને લખ્યું છે. હવે મારે લખવાના લેખની શરૂઆત કરવા ધારૂં છું.

જૈનદર્શન એ છએ દર્શનમાં મુખ્ય દર્શન છે. એ દર્શન સર્વજ્ઞ પ્રણિત છે. એનાં સિદ્ધાંતો પરસ્પર વિરોધ વિનાના અને સ્યાદ્વાદ શૈલીથી લખાયેલા છે. જૈનદર્શનમા પૂર્વે અનેક વિદ્વાન આચાર્યો થઇ ગયા છે. અને તેમણે સંખ્યાબંધ ગ્રન્થો લખેલા છે. કાળના ક્રમથી દબાઇ–ચંપાઇને તેનો ઘણો મોટો ભાગ તો વિનાશ પામી ગયો છે. શ્રી હરિભદ્રસૂરિ મહારાજાના ૧૪૪૪ ગ્રન્થો, શ્રી ઉમાસ્વાતિ વાચકના ૫૦૦ ગ્રન્થો, કળિકાળ સર્વજ્ઞ શ્રી હેમચંદ્રાચાર્યના સાડાત્રણ ક્રોડ શ્લોકો અને છેલ્લા છેલ્લા થયેલા શ્રી યશોવિજયજી ઉપાધ્યાયના કરેલા ન્યાયના ૧૦૦ ગ્રન્થો, રહસ્ય શબ્દાંકિત ૧૦૦ ગ્રન્થો અને અન્ય ગ્રન્થો, આ સિવાય બીજા સંખ્યાબંધ આચાર્યોના રચેલા સંખ્યાબંધ ગ્રન્થો, તેમાંથી અત્યારે ઘણો જ થોડો ભાગ દૃષ્ટિગોચર થાય છે. ઘણો વિભાગ વિનાશ પામી ગયો છે. પરંતુ જેટલો રહ્યો છે, તેટલો પણ આધુનિક સમયના મનુષ્યોને માટે ઘણો છે. તેટલાનો સંપૂર્ણ તો શું પણ તેમાંના એક વિષય પરત્વેના ગ્રન્થોનો પણ પૂરો અભ્યાસ થવો મુશ્કેલ છે. જીંદગી ટુંકી અને અભ્યાસ કરાવનારના સંયોગની ખામી. એ પણ એના પ્રબળ કારણો છે.

જૈન દર્શનનાં ગ્રન્થો ચાર અનુયોગમાં વહેંચાયેલા છે. દ્રવ્યાનુયોગ, ગણિતાનુયોગ, ધર્મકથાનુયોગ, ને ચરણકરણાનુયોગ, કર્મ સંબંધી ગ્રન્થોનો સમાવેશ દ્રવ્યાનુયોગમાં થઇ શકે છે. જો કે તેમાં પ્રસંગે પ્રસંગે ગણિતાનુયોગની પણ ઘણી જરૂર પડે છે. સંખ્યાતા, અસંખ્યાતા ને અનંતાનું સ્વરૂપ કર્મગ્રન્થના અભ્યાસીને જાણવું જ જોઇએ છીએ. તેમજ પલ્યોપમ, સાગરોપમાદિ જેનો કાળમાં સમાવેશ છતાં તેને માટે પણ ગણિતની જરૂર પડે છે. તે વિષયનો કર્મગ્રન્થની અંદર સમાવેશ કરવામાં આવ્યો છે. ચારે અનુયોગ તદ્દન છુટા તો પડી જ શકતા નથી. કારણકે ચરણકરણાનુયોગમાં જોડાવા માટે જ કર્મગ્રન્થના પરિજ્ઞાનની જરૂર હોવાથી પ્રસંગે તેનો પણ સમાવેશ થાય છે. જુદી જુદી કર્મ પ્રકૃતિના ઉદયાગત ફળને ભોગવનારા દૃષ્ટાંતો તેની સિદ્ધિમાં બહુજ ઉપયોગી થઇ પડે છે. તેથી પ્રસંગે તેની પણ આવશ્યકતા છે.

દ્રવ્યાનુયોગમાં ષડ્દ્રવ્યના સ્વરૂપનો સમાવેશ છે. કર્મગ્રંથની અંદર છ દ્રવ્ય પૈકીના મુખ્ય બે દ્રવ્ય–જીવ અને પુદ્ગળનું સ્વરૂપ વર્ણવેલું છે. બાકીના ધર્માસ્તિકાય, અધર્માસ્તિકાય, આકાશાસ્તિકાય, ને કાળ એ ચાર દ્રવ્યનું સ્વરૂપ પણ ઘણું ઓછું છે–તેના સ્વરૂપનો વિશેષ વિસ્તાર નથી. કારણકે તેમાં પ્રાયે ફેરફાર થતો નથી. જીવ અને પુદ્ગળ એ દ્રવ્ય તો મોટી ઉથલપાથલવાળા ને મોટી ઉથલપાથલ કરનારા હોવાથી તેમના સ્વરૂપનો વિસ્તાર બહોળો છે, તે બન્ને અચિંત્ય શક્તિવાળા છે.

પુદ્ગળ દ્રવ્યની વર્ગણા આઠ પ્રકારની છે. તે આઠે પ્રકારનો ઉપયોગ કર્મગ્રંથમાં જરૂરનો છે. પાંચ શરીરઆશ્રી પાંચ વર્ગણા ને ભાષાવર્ગણા શ્વાસોશ્વાસ વર્ગણા ને મનોવર્ગણા તે આઠ પ્રકારની વર્ગણાઓ છે. એ બધાનો નામકર્મની અંદર સમાવેશ થઇ શકે છે. અહીં મુખ્યતા કાર્મણ વર્ગણાની છે. વર્ગણાઓનું સ્વરૂપ કર્મ સંબંધી ગ્રંથોની અંદર બહુ સારી રીતે વિસ્તારથી આપવામાં આવેલું છે.

જીવના ભેદ અને કર્મને લઇને થતું તેનું વિચિત્ર સ્વરૂપ, તેજ કર્મ સંબંધી ગ્રંથોમાં ચિત્રેલું છે. જીવને કર્મ એ બન્ને અનાદિ સંબંધવાળા છે. તેમનો મેળાપ ક્ષીરનીરની જેવો, અગ્નિને લોહપિંડની જેવો. તેમજ કવચિત દુધ ને શર્કરા જેવો છે. જીવના સર્વ ભેદ પ્રભેદોનો સમાવેશ કર્મ સંબંધી ગ્રંથોમાં કરવામાં આવેલો છે. કારણકે તેને આધારે જ કર્મનું બહુ માન છે, તેના વિના છુટી પડેલી કાર્મણ વર્ગણા કાંઇ કીંમતી નથી. જીવના આધારે જ તે પોતાનું બળ બતાવી શકે છે. પોતાનું પરાક્રમ ફોરવી શકે છે અને પોતે જીવની આકર્ષણ કરેલી આવી હોય છે, છતાં એટલો બધી સત્તા જમાવી બેઠી છે કે તે જેમ નચાવે તેમ જીવ નાચે છે. આ બધો તેને મળેલા જીવના આશ્રયનો જ પ્રતાપ છે. તે શિવાય

તે જગતમાં આટલી પ્રસિદ્ધિ પામી શકે તેમ નહોતું. તેણે પોતાના આશ્રયસ્થાનને ખરેખરૂં દીપાવ્યું છે–શોભાવ્યું છે અને જગજાહેર કર્યું છે.

કર્મ સંબંધી વર્ણન તો ભગવતિજી, પન્નવણાદિ અનેક સૂત્રોમાં તેમજ મોટા મોટા અનેક ગ્રંથોમાં અને નવ તત્ત્વાદિ પ્રકરણોની વૃત્તિમાં પ્રસંગે પ્રસંગે આવેલું છે. પ્રવચનસારોદ્ધાર, લોકપ્રકાશાદિ ગ્રંથોમાં તેનું વર્ણન આવે છે. પરંતુ અહીં તો ખાસ જેની અંદર કર્મ સંબંધી જ વર્ણન આપેલું છે, તેવા, પ્રસિદ્ધિમાં આવેલા, શ્વેતાંબરીય ગ્રંથોનો વિસ્તાર બતાવેલો છે. દિગંબર આમ્નાયમાં પણ ગોમટસાર વિગેરે ગ્રંથોમાં કર્મ સંબંધી વર્ણન સારૂં આપેલું છે. પરંતુ તે સંબંધી પૂરતી માહિતી ન હોવાથી અહીં તેના ગ્રંથો બતાવવામાં આવ્યા નથી.

શ્વેતામ્બર આમ્નાયમાં કર્મ સંબંધી મુખ્ય ગ્રંથો નીચે પ્રમાણે છે.

૧ કર્મ પ્રકૃતિ.
૨ પંચ સંગ્રહ.
૩ પ્રાચીન પાંચ કર્મગ્રંથ–તથા સાર્ધશતક નામે કર્મગ્રંથ.
૪ નવ્ય પાંચ કર્મગ્રંથ.
૫ સપ્તતિકા (સત્તરી) કર્મગ્રંથ (છઠ્ઠા કર્મગ્રંથ તરીકે ઓળખાય છે તે.)
૬ સંસ્કૃત ૪ કર્મગ્રંથ.

આ શિવાય નાના નાના પ્રકરણો નિચે પ્રમાણે છે.

૧ કર્માદિ વિચાર સાર.
૨ કર્મસ્તવ વિચાર.
૩ કર્મ સંવેધ પ્રકરણ.
૪ કર્મ સંવેધ ભંગ પ્રકરણ.
૫ કર્મ સ્તવન.
૬ કર્મ વિપાક કુલક. ઇત્યાદિ.

અહીં ઉપર જણાવેલા મુખ્ય ૬ ગ્રંથો સંબંધી વર્ણન આપવાનું દુરસ્ત ધાર્યું છે. તેના કર્ત્તા, તેની ઉપર ભાષ્યચૂર્ણિ ટીકા વિગેરે શું શું થયેલું છે તે, અને તેની અંદર કયા ક્રમથી કર્મનું સ્વરૂપ બતાવવામાં આવ્યું છે–તે ટુંકામાં આ નીચે બતાવ્યું છે.

૧ કર્મ પ્રકૃતિ–કે જે કેમ્મપયડીના માગધી નામથી પ્રસિદ્ધ છે. તેના કર્ત્તા શ્રી શિવશર્મસૂરિ છે, તેઓ કયારે થઈ ગયા, તે જાણવામાં નથી. એ ગ્રંથ ઘણો પ્રાચીન છે. તેની ઉપર ચૂર્ણિ, ટીપનક અને બે વૃત્તિઓ થયેલી છે. મૂળની માગધી ગાથાઓ ૪૭૫ છે. ચૂર્ણિ પૂર્વાચાર્ય પ્રણિત છે. તેમણે પોતાનું નામ બતાવ્યું નથી. ટિપનક શ્રી મુનિચંદ્રસૂરિએ કરેલ છે. ટીકા શ્રી મલયગિરિજી મહારાજે

૮૦૦૦ શ્લોક પ્રમાણ રચી છે. તે શ્રી જૈનધર્મ પ્રસારક સભા તરફથી છપાઇને ઝ વેરી દેવચંદ લાલભાઇ પુસ્તકોદ્ધાર ફંડ તરફથી બહાર પડેલી છે. બીજી ટીકા શ્રી યશોવિજયજી ઉપાધ્યાયે તેના કરતાં કાંઇક મોટી બનાવી છે, તે ટીકા પણ છપાવવાનો પ્રયત્ન ચાલે છે.

આ ગ્રંથની અંદર કર્મ સંબંધી બંધન, સંક્રમણ, ઉદ્વર્ત્તન, અપવર્ત્તન, ઉદીરણા, ઉપશમના નિધત્તિ ને નિકાચના એ આઠ કરણ અને ઉદય તથા સત્તા મળીને દશદ્વારનું વર્ણન ઘણું સ્પષ્ટ આપવામાં આવેલું છે. આ ગ્રંથ બીજા અગ્રાયણી પૂર્વમાંથી ઉદ્ધરેલો છે.

૨ **પંચસંગ્રહ**—આ ગ્રંથ શ્રી ચંદ્રર્ષિ મહત્તર મહારાજનો બનાવેલો છે. તેનું મૂળ માગધી ગાથાબંધ છે. તેની ઉપર એક લઘુવૃત્તિ તેમણે પોતેજ બનાવી છે. અને બીજી મોટી ટીકા શ્રી મલયગિરિ મહારાજે સુમારે ૧૯૦૦૦ શ્લોક પ્રમાણ રચેલી છે. ઉપરાંત એક દીપક જિનેશ્વરસૂરિના શિષ્ય વાપદેવ મુનિએ રચેલું છે. તે ૨૫૦૦ શ્લોક પ્રમાણ છે. શ્રી મલયગિરિજીવાળી ટીકા પંડિત હીરાલાલ હંસરાજે જામનગરમાં છાપી છે. ને તેની કીંમત રૂ. ૩૦) રાખી છે. તેણે વેચવાની સગવડને માટે તેના ચાર વિભાગો પાડ્યા છે. તેમાં ત્રીજો ચોથો વિભાગ તો ઉદીરણાનું પ્રકરણ ચાલતાં મધ્યમાંથી પાડેલો છે.

આ ગ્રંથનું નામ **પંચસંગ્રહ** બે કારણોથી પાડવામાં આવ્યું છે. એકતો તેની અંદર શતક, સપ્તતિકા, કષાય પ્રાભૃત, સત્કર્મ અને કર્મપ્રકૃતિ આ પાંચ ગ્રંથોનો સમાવેશ કરવામાં આવેલો હોવાથી પાડેલું છે અને બીજું એ ગ્રંથમાં યોગ ઉપયોગમાર્ગણા, બંધક, બદ્ધવ્ય, બંધ હેતુને બંધ વિધિ આ પાંચ પ્રકરણો અથવા અર્થાધિકાર સમાવેલા હોવાથી પાડવામાં આવ્યું છે.

પાંચ ગ્રંથો પૈકી **શતક** તે પ્રાચીન પાંચમો કર્મગ્રંથ છે. કે જે કર્મપ્રકૃતિના કર્તા શિવશર્મસૂરિ મહારાજનો જ કરેલો છે. સપ્તતિકા ઉર્ફે સત્તરી તે પંચસંગ્રહના કર્ત્તા ચંદ્રર્ષિ મહત્તરનો પોતાનો જ બનાવેલો છે. અને તે અત્યારે છઠ્ઠા કર્મગ્રંથ તરીકે પ્રસિદ્ધ છે. **કષાયપ્રાભૃત ને સત્કર્મ** કે જે ગ્રંથોમાં કષાયોનું સ્વરૂપ અને સત્તાગત કર્મનું સ્વરૂપ બતાવવામાં આવેલું હોવું જોઇએ, એમ તેના નામ ઉપરથી અનુમાન થાય છે. પરંતુ તે ગ્રંથો અત્યારે ઉપલબ્ધ નથી. તેથી ચોક્કસ કહી શકાતું નથી. તે ગ્રંથો કોઇ પ્રાચીન ભંડારોમાંથી મળી શકવા સંભવ છે પાંચમો કર્મપ્રકૃતિ ગ્રંથ ઉપર બતાવેલો શ્રી શિવશર્મસૂરિ મહારાજનો કરેલો છે. આ પાંચે ગ્રંથનો સમાવેશ પંચસંગ્રહની અંદર કરેલો છે.

પાંચ અર્થાધિકાર પૈકી પ્રથમ યોગોપયોગ માર્ગણામાં જીવસ્થાન, ગુણસ્થાન અને માર્ગણાસ્થાને યોગ ઉપયોગ બતાવવામાં આવ્યા છે. અને માર્ગણાસ્થાને

ચોથો ષડશીતિ નામનો કર્મગ્રંથ—૮૬ ગાથા પ્રમાણ શ્રી જિનવલ્લભસૂરિનો કરેલો છે. તેનું બીજું નામ આગમિક વસ્તુ વિચાર સાર છે. તેની ઉપર ભાષ્ય થયેલી છે. વૃત્તિઓ ચાર શ્રી હરિભદ્રસૂરિ, શ્રી વામદેવસૂરિ, શ્રી મલયગિરિજી અને શ્રી યશોદેવસૂરિની કરેલી છે. વિવરણ શ્રી મેરૂવાચકનું કરેલું છે. અને અવચૂરિ તથા ઉદ્ધાર થયેલ છે, પણ તેના કર્ત્તાના નામ ઉપલબ્ધ નથી. મલયગિરિજીવાળી વૃત્તિ સહજ ઉપલબ્ધ છે.

પાંચમો શતક નામનો કર્મગ્રંથ શ્રી શિવશર્મસૂરિ મહારાજ કર્મપ્રકૃતિના કર્ત્તાનેજ કરેલો છે. ગાથા ૧૧૧ છે. તેનાપર ભાષ્ય ને ચૂર્ણિ થયેલો છે. પરંતુ તેના કર્ત્તાના નામ ઉપલબ્ધ નથી. વૃત્તિ મલધારી હેમચંદ્રસૂરિની કરેલી ટીપ્પન શ્રી ઉદયપ્રભસૂરિનું કરેલું અને અવચૂરિ શ્રી ગુણરત્નસૂરિની કરેલી છે.

આ પાંચ ઉપરાંત એક સૂક્ષ્મવિચાર સારોદ્ધાર સાર્ધશતક નામનો ગ્રંથ છે. આ ગ્રંથમાં અધિકારતો શતક કર્મગ્રંથને અનુસરતો જ છે. પરંતુ ગાથાની સંખ્યા વધારે હોવાથી અને શતક સાથે એક થઇ ન જાય, તેટલા માટે તેનું નામ સાર્ધશતક રાખવામાં આવ્યું છે. એના કર્ત્તા શ્રી જિનવલ્લભસૂરિ છે, પરંતુ તે ખરતર ગચ્છી નથી અને ચોથા કર્મગ્રંથના કર્ત્તા જિનવલ્લભ ને આ એક જ જણાય છે. આ કર્મગ્રંથની ઉપર ભાષ્ય થએલી છે. ચૂર્ણિ શ્રી મુનિચંદ્રસૂરિની કરેલી છે. ટીકાઓ ત્રણ શ્રી હરિભદ્રસૂરિ, શ્રી ધનેશ્વરસૂરિ ને શ્રી ચક્રેશ્વરસૂરિની કરેલી છે. ટીપ્પનક પણ થયેલ છે. પરંતુ તેના કર્ત્તાનું નામ ઉપલબ્ધ નથી.

આ સાર્ધશતક ગ્રંથ શ્રી ધનેશ્વર સૂરિની ટીકા સાથે શ્રી જૈનધર્મ પ્રસારક સભા તરફથી હાલમાં છપાય છે. અને પ્રાચીન-૪ કર્મગ્રંથ ટીકા સાથે છપાવવાનો પ્રયત્ન શ્રી આત્માનંદ સભા તરફથી શરૂ છે.

૪ નવ્ય પાંચ કર્મગ્રંથ—આ પાંચે શ્રી દેવેંદ્રસૂરિ મહારાજાના રચેલા છે. તેના નામ પ્રાચીન કર્મગ્રંથ પ્રમાણે જ છે. અને તેની ઉપર તેમની સ્વોપજ્ઞ વૃત્તિ છે. વૃત્તિનું પ્રમાણ દશ હજાર શ્લોક લગભગ છે. આ પાંચ, ને હવેપછી લખાશે તે છઠ્ઠો કર્મગ્રંથ તથા સંસ્કૃત ૪ કર્મગ્રંથ ટીકા સહિત શ્રી ભાવનગર જૈનધર્મ પ્રસારક સભા તરફથી છપાઇને બહાર પડેલા છે. સંસ્કૃત કર્મગ્રંથ ઉપર ટીકા નથી. આ પાંચે કર્મગ્રંથ ઉપર સ્વોપજ્ઞ વૃત્તિ રચેલી છે, છતાં કોઇ પણ કારણથી ત્રીજા કર્મગ્રંથ ઉપરની ટીકા ઉપલબ્ધ થતી નથી. તે ગુમ થઇ જવાથી સ્થાન શૂન્ય ન રહેવા માટે કોઇ આચાર્યે અવચૂરી બનાવીને તે સ્થળે દાખલ કરી દીધી છે. અને તેવો પ્રગટ ઉલ્લેખ પણ કરેલો છે. કર્ત્તાએ પોતાનું નામ આપ્યું નથી. આ પાંચે કર્મગ્રંથની વૃત્તિ કયા ક્રમે બનાવી હશે. તે ચોક્કસ થઇ શકતું નથી. કારણ કે તેમાં પ્રથમના ગ્રંથોમાં પાછળના ગ્રંથોની ટીકાની સાક્ષીઓ આપેલી છે. આ પાંચે કર્મગ્રંથ ઉપર બે અવ-

ચૂરિઓ બનેલી છે. એક શ્રી મુનિશેખરસૂરિની રચેલી છે, ને બીજી શ્રી ગુણરત્નસૂરિની રચેલી છે. બીજા કર્મગ્રંથ ઉપરથી કર્મસ્તવ વીવરણ નામનું જુદું પ્રકરણ શ્રી કસ્તુરસંયમ ઉપાધ્યાયે રચેલું છે. આ કર્મગ્રંથની પ્રવૃત્તિ બહુ વિશેષે પ્રચલિત છે. તેના કર્ત્તાએ ટીકા બહુ સરલ બનાવી છે. તેઓ તેરમાં સૈકામા વિધમાન હતા. કારણુ કે સંવત ૧૩૨૯માં તેઓ સ્વર્ગવાસી થએલા છે.

૫ સત્તરી અથવા સપ્તતિકા નામે કર્મગ્રંથ કે જે હાલ છઠ્ઠા કર્મગ્રંથ તરીકે પ્રસિદ્ધિમાં છે. પરંતુ તે પાંચ નવ્ય કર્મગ્રંથ કરતાં ઘણો પ્રાચીન છે. તેના કર્ત્તા શ્રી ચંદ્રર્ષિ મહત્તર છે, કે જેઓ પંચસંગ્રહના પણ કર્ત્તા છે. તેમણે આ કર્મગ્રંથ ઉપર સ્વોપજ્ઞ વૃતિ પણ રચી છે. ભાષ્ય શ્રી અભયદેવસૂરિએ રચી છે. ચૂર્ણિ રચાયેલ છે પણ તેના કર્ત્તાનું નામ ઉપલબ્ધ નથી. સ્વોપજ્ઞ ઉપરાંત બીજી બે વૃત્તિ શ્રીમલયગિરિજી તથા મુનિશેખર સૂરિજીકૃત છે. તેમાંની મલયગિરિજીની વૃત્તિ વિશેષ ઉપલબ્ધ હોવાથી પ્રચલીત છે. ટિપનક ખરતર ગચ્છી રામદેવસૂરિએ રચ્યું છે. અને અવચૂરિ શ્રી ગુણરત્નસૂરિએ રચી છે; કે જેમણે નવ્ય પાચ કર્મગ્રથ ઉપર પણ અવચૂરિ રચેલી છે. આ ગ્રંથમાં બંધ-ઉદયને સત્તા સ્થાનકો બતાવીને તેના સંવેધ દર્શાવેલા છે. કૃતિ મહાચમત્કારી અને અદ્‌ભુત છે.

આ કર્મગ્રંથ બીજા અગ્રાયણી પૂર્વની પાંચમી વસ્તુ માંહેના વીશ પ્રાભૃતમાં ચોથો કર્મપ્રકૃતિ નામે પ્રાભૃત છે. જેના ૨૪ અનુયોગદ્વાર છે, તેમાંથી ઉદ્ધરેલ છે. કર્મપ્રકૃતિ ગ્રંથ શ્રી શિવશર્મસૂરિ મહરાજે પણ આ પ્રાભૃતમાંથી જ ઉદ્ધરેલ છે. કોઇ આઠમા કર્મ પ્રવાદ પૂર્વમાંથી તે ઉદ્ધરેલ છે એમ કહે છે. પણ તે માત્ર નામને અંગે કરેલી કલ્પના છે. અને અમે લખેલ છે તે તો ટીકાકારે કરેલા ઉલ્લેખ ઉપરથી લખેલ છે. કર્મપ્રવાદ પૂર્વમાં તો આખા પૂર્વમા કર્મની જ હકીકત હોવાનો સંભવ છે. પરંતુ અત્યારે તો પૂર્વ કે તેમાંથી ઉદ્ધરેલ ગ્રંથ કાઇ પણ લભ્ય ન હોવાથી તે વિષે કાંઇ લખી શકાતું નથી. આ સપ્તતિકા કર્મગ્રંથમા બંધ, ઉદય, સત્તા સ્થાનના સંવેધ અને તેના ભંગ બતાવ્યા પછી અાતે ઉપશમશ્રેણી તથા ક્ષપકશ્રેણીનું સ્વરૂપ બતાવેલું છે.

પાંચ નવ્ય કર્મગ્રંથ પૈકી પહેલાની ગાથા ૬૧ છે. તેમાં કર્મપ્રકૃતિના નામો ને તેના સ્વરૂપની વ્યાખ્યા છે. બીજા કર્મ ગ્રથની ગાથા ૩૫ છે. તેમા ચૌદ ગુણ ઠાણે બંધ ઉદય ઉદીરણાને સત્તામા કેટલી કેટલી કર્મપ્રકૃતિઓ હોય તે બતાવેલ છે. ત્રીજા કર્મગ્રંથની ગાથા ૨૫ છે. તેમાં ગત્યાદિ મૂળ માર્ગણા ૧૪ ને ઉત્તર માર્ગણા ૬૨ માં કેટલા કેટલા ગુણઠાણા હોય ને તે તે ગુણઠાણે બંધમાં કેટલી કેટલી પ્રકૃતિઓ હોય તે બતાવેલું છે. ચોથા કર્મગ્રંથની ગાથા, નામ પ્રમાણે ૮૬, જોઇએ પણ ત્રણ ગાથા ક્ષેપક ભળવાથી હાલ ૮૯ ગાથા છે. તેમાં જીવસ્થાન, ગુણસ્થાન,

માર્ગણાસ્થાન, ઉપયોગ, યોગ, લેશ્યા, બંધ, અલ્પ બહુત્વ, ભાવ, સંખ્યાતા, અસંખ્યાતા ને અનંતાનું સ્વરૂપ, એમ બાર દ્વાર છે. પાંચમા કર્મગ્રંથની ગાથા નામ પ્રમાણે સો જ છે. તેનું નામ લઘુશતક રાખેલું છે. તેમાં કર્મપ્રકૃતિના ૧૬ પ્રકાર, ચાર પ્રકારની બંધ વિધિ, ચાર પ્રકારે બંધના સ્વામી અને ઉપશમ શ્રેણી તથા ક્ષપકશ્રેણીનું સ્વરૂપ એમ ૨૬ દ્વાર છે. આ લઘુ શતક કમ્મપયડી, પંચસંગ્રહ તથા વૃહત્ શતકાદિ ગ્રંથોમાંથી ઉદ્ધરીને બનાવ્યો છે. છઠ્ઠા કર્મગ્રંથની નામ પ્રમાણે ગાથા ૭૦ જોઇએ. તેમાં ભાષ્યની ગાથાઓ ભેળવીને ૮૯ કર્યાનો લેખ છે. ઉપરાંત ૪ ગાથાઓ બીજી ભળવાથી હાલ ૯૩ ગાથાઓ બાળાવબોધમાં છે. ટીકાંમાં તો ૭૫ ગાથાઓ છે. આ કર્મગ્રંથમાં શું શું અધીકાર છે–તે ઉપર જણાવેલ છે.

૬ સંસ્કૃત ચાર કર્મ ગ્રંથ આગમિક જયતિલક સૂરિએ રચેલા છે. તેની અંદર નવ્ય પાંચે કર્મગ્રંથનો સમાવેશ કરેલો છે.

પહેલો પ્રકૃતિ વિચ્છેદ નામે ગ્રંથ ૧૩૯ શ્લોક પ્રમાણ છે. તેમાં પહેલા અને બીજા કર્મ ગ્રંથનો સમાવેશ છે. બીજો સૂક્ષ્માર્થ સંગ્રહ નામે ગ્રંથ ૨૦૨ શ્લોક પ્રમાણ છે. તેમાં ચોથા કર્મગ્રંથનો સમાવેશ છે. ત્રીજો પ્રકૃતિ સ્વરૂપ નિરૂપણ નામે ગ્રંથ ૧૮૧ શ્લોક પ્રમાણ છે. તેમાં પાંચમા કર્મ ગ્રંથનો સમાવેશ છે. અને ચોથો બંધ સ્વામિત્વ નામનો ગ્રંથ ૪૭ શ્લોક પ્રમાણે છે. તેમાં ત્રીજા કર્મ ગ્રંથનો સમાવેશ છે. આ પ્રમાણે ક્રમ ફેરવવાનું કારણ સમજી શકાતું નથી. કુલ શ્લોક સંખ્યા ૫૬૯ ની છે. ને તે મૂળ પાત્ર શ્રી જૈનધર્મ પ્રસારક સભા તરફથી ૭ કર્મ ગ્રંથની ટીકાની પછી છપાવેલો છે. શ્લોક બધા અનુષ્ટુપ્ છે.

ઉપર પ્રમાણે મુખ્ય ૭ અને પેટા વિભાગ ગણીએ તો ૧૮ ગ્રંથોનું મૂળ ભાષ્ય, ચૂર્ણિ, વૃત્તિ, અવચૂરિ, દીપક, ઉદ્ધાર, વિવરણ વિગેરેનું પ્રમાણ સવાલાખ શ્લોક લગભગ થવા જાય છે. કર્મ સંબંધી વિવરણ જૈનદર્શનમા એટલું બધું સૂક્ષ્મ પ્રકારનું બતાવેલું છે, કે જેના અંશ જેટલું પણ અન્યદર્શનમાં બતાવેલું નથી. કર્મ સંબંધી વિચાર એવો સૂક્ષ્મ અને બહોળો તેમજ ગંભીર છે, કે તેને માટે જૈન શાસ્ત્રો અપ્રતિમપણું ધરાવે છે. જ્યાંસુધી જૈનોનું તત્વજ્ઞાન અને કર્મ સંબંધી ફીલોસોફી અન્યદર્શનીઓના વાંચવામાં આવેલ નથી, ત્યાં સુધી તેના મહત્વની તેને જેમ ખબર નથી તેમજ એ વિષયમાં ચંચુપાત નહીં કરેલા જૈન બંધુઓને પણ તેના મહત્વની ખબર પડતી નથી. આ વિષય એટલો બધો રસિક છે, કે તેનો જેને રસ લાગે તેને તે રસ અપૂર્વ જણાય છે, પરંતુ જ્યાં સુધી તેનો રસ લાગતો નથી, ત્યાં સુધી તે તદ્દન શુષ્ક જણાય છે. આ વિષયમાં પ્રવેશ કર્યા પછી અને તેમાં રસ પડયા પછી સર્વત્ર જ્યાં દષ્ટિ નાખે ત્યાં, કર્મનું ચિત્ર જ દષ્ટિગોચર થાય છે. તે વિના બીજું ચિત્ર જ દેખાતું નથી.

કર્મ સંબંધી વિષયમાં ૬૨ માર્ગણા વિગેરેને અંગે અનેક પ્રકારના ભંગો

થાય છે. તેના યંત્રો જુદા જુદા અનેક પ્રકારના લખેલા પુસ્તકોના સંગ્રહોમાં મોજુદ છે. તેવો સંગ્રહ પણ છપાવીને પ્રસિદ્ધ કરવા લાયક છે—હાલમાં એ સંબંધમાં કાંઈક પ્રયત્ન ચાલે છે. તેનું ફળ થોડા વખતમાં બહાર આવવા સંભવ છે.

આપણી જૈન કોન્ફરન્સ ગત વર્ષમાં મુલતાન ખાતે મળી હતી. તેની અંદર તે પ્રદેશ દૂર હોવાને કારણે તેમજ શીતરૂતુ હોવાને કારણે આ તરફથી કોઈ પણ ગૃહસ્થે ભાગ લીધો નહોતો. ચાલુ વર્ષમા હજુ તેને માટે કાંઇ હીલચાલ જણાતી નથી. ઘણા સુજ્ઞ ભાઈઓનો વિચાર માત્ર કેળવણી કોન્ફરન્સ મેળવવાનો બહુ વખતથી જણાય છે. તો આ સાહિત્ય સંમેલન તે કેળવણીનું જ એક અંગ છે. અને કેળવણી કોન્ફરન્સ મળે તો સાહિત્ય સમેલનનો પણ તેમાં સમાવેશ થઈ શકે તેમ છે, સબબ આ સમેલનમાં કેળવણીના હિમાયતી સુજ્ઞોએ અવશ્ય આવવાની આવશ્યકતા છે જો આપણું સાહિત્ય સારી સ્થિતિમાં હશે, વૃદ્ધિ પામતું હશે, અને ઘટતું નહીં હોય તો આપણી ઉન્નતિ અવશ્ય થશે, એમ માનવું. કોમનું હિત ઇચ્છનારા બંધુઓએ આવા સંમેલનોમાં આવીને તેનો પ્રવાહ ખરે રસ્તે વહેવરાવવાની જરૂર છે. આ સંબંધમાં વિશેષ ન લખતા જૈન સાહિત્ય સંમેલનની ફતેહ ઇચ્છીને આ ટૂંકો લેખ સમાપ્ત કરવામાં આવે છે.





જૈન સાહિત્યની ખીલવણી કયા માર્ગે થઇ શકે?



(લેખક–શેઠ દેવચંદ દામજી કુંડલાકર.)

સમ્પાદક–'જૈન' ભાવનગર.

સાહિત્ય–એ બુદ્ધિગમ્ય વિષયની વિશાળ સંજ્ઞા છે, સર્વ જીવાયોનિમાં મનુષ્ય જે બુદ્ધિબળવડે શ્રેષ્ઠતા ભોગવે છે, તેજ બુદ્ધિબળની પ્રસાદી એ સાહિત્ય કહી શકાય. અને તેથી સાહિત્યની ખીલવણી એ ખરૂં કહીએ તો મનુષ્યની ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિનું સ્થાન છે.

બુદ્ધિને વિચારના વિશાળ પ્રદેશમાં સ્ફુરાવવાનું કામ કવિનું છે; કેમકે તેમને જે કાવ્ય ઘટનાનું કામ કરવાનું છે, તે કાવ્ય રચના તૈયાર કરતાં કાવ્યના હેતુની અસર વાંચનારના હૃદય ઉપર સચ્ચોટ થવા માટે તેમણે કાવ્યની કૃતિના આરંભમાં જે વિષય અથવા હેતુ પરત્વે કાવ્યઘટના કરવાની હોય, તે વિષયના સ્વરૂપમાં તદાકાર થવું જોઇએ છીએ. અને તેથીજ કાવ્ય એ કોઇપણ વિષયને અસરકારક અને સ્ફુટ ઠસાવવાને ભાષાનું ઉત્કૃષ્ટ હથિયાર છે, કે જે ઉપરથી કવિતાને સાહિત્યનો વિશાળ પ્રદેશ યાને અગ્ર ભાગ કલ્પી સંસ્કૃત ગિરામાં સાહિત્યનો અર્થ કાવ્ય કરવામાં આવ્યો છે, અગર જો કે વસ્તુતઃ તે ગદ્ય કે પદ્ય; કોઇપણ ધોરણે, કોઇપણ ભાષાના, કોઇપણ વિષયની ઉત્કૃષ્ટ સંકલના તે જ સાહિત્ય છે.

ખુશિ થવા જેવું છે કે–આવી વિશાળ ભાવનાની સિદ્ધિ અર્થે અને જૈન સાહિત્યની ખીલવણી માટે જૈન સાહિત્યના અપરિસિમ પ્રદેશના સ્વરૂપને પ્રકાશમાં લાવવા જૈન પુત્રોએ જાગૃત થવાની જરૂર લાંબા વખતથી જોવાતી હતી; એટલુંજ નહિ પણ સાહિત્ય સંશોધન અને સાહિત્ય પ્રકાશ માટેનો યત્ન જુદી જુદી કેટલીક ઉપસ્થિત થયેલી સંસ્થાઓ અને વ્યક્તિઓ તરફથી પોતપોતાથી બની શકતો સુગે મોંએ શરૂ હતો, ને તેવા યત્નના પરિણામે **ભાવનગરના** શ્રી જૈનધર્મ પ્રસારક સભા–આત્માનંદ સભા–**બનારસની** શ્રી યશોવિજયજી પાઠશાળા–**મુંબઇનું**. શ્રી જૈન જ્ઞાન પ્રસારક મંડળ–તથા શેઠ દેવચંદ લાલભાઇ પુસ્તકોદ્ધાર ફંડ–તેમજ **પાલીતાણા** શ્રી જૈનધર્મ વિદ્યા પ્રસારક વર્ગ–તથા **મહેશાણા** શ્રી જૈન શ્રેયસ્કર મંડળ–અને તેવા જુદા જુદા ખાતાએ દ્દઢવાથી જે યત્ન શરૂ રાખેલ છે, તેના પરિણામે જૈન પ્રજામા સાહિત્યના ઉદ્ધાર માટે અલ્પાંશે પણ આર્થિક મદદ આપવાનું શરૂ થયું છે, ને ક્રમે ક્રમે તે કાર્ય અમુક બંધારણથી થવાની જરૂર હતી તેના માટે

થવા જોઈતા તેવા સાહિત્યસેવકોના સંમેલનની જરૂરને આ પ્રસંગે પાર પડેલી જોઇને અપૂર્વ આનંદ સર્વ કોઇને થાય તે નિર્વિવાદ છે.

વિશેષ ખુશિ થવા જેવું એ છે કે, મરૂ ભુમિમાં જૈન સાહિત્યનાં કેટલાંક પ્રકરણો જન્મ પામ્યાં છે. અને ખાસ કરીને સોજતમાં જ પૂર્વાચાર્યોએ ચાતુર્માસ કરી, રાસાઓની ઘટના કરી છે. તેજ સ્થળમાંથી આ સંમેલનનું ચ્યવન કલ્યાણક થવા પામ્યું છે. અને પાટસ્થળમાં પ્રસુતિ પ્રસંગે જૈન સાહિત્યના મહાન ઉપાસક શ્રીમદ્ ગુરૂવર્ય યશોવિજયજી મહારાજના સાહિત્યસિદ્ધિ ક્ષેત્રમાંથી પ્રકાશીત થયેલ આચાર્ય શ્રી વિજયધર્મસુરિ મહારાજના હસ્તે પ્રથમ કળસાધિભીનિવેશન થવા પામેલ છે, અને વળી તે પ્રાથમિક પ્રસંગે વિદેશમાં અને વિજાતીમાં વિચરવા છતાં વિવેકથી જૈન સાહિત્ય માટે સંશોધન કરતા ડા.-હર્મનજેકોબી તથા હિંદની જૈન સાહિત્ય સંશોધક સંસ્થાઓના કાર્યવાહકોની હાજરીનો અલભ્ય લાભ પ્રાપ્ત થયેલો છે. આ સર્વે સાનુકુળ સંજોગોથી આપણે આશા રાખી શકીશું કે સાહિત્ય સમેલનની આ યોજના નિયમીત શરૂ રહી પ્રતિદિન વિશેષ ફળવતી થવા પામશે.

જૈનસાહિત્ય કેટલું વિશાળ છે, તે માટેની કલ્પના જૈન પુત્રો પૈકી પણ હજારે બલકે લાખે એકના મગજમાં ચોક્કસ નથી, તો પછી અન્ય પ્રજા તેના વિશાળ સ્વરૂપને ક્યાથી જ કલ્પી શકે? કેમકે જ્યાં સુધી જૈન સાહિત્યના ઉત્કૃર્ષને માટે જૈન પ્રજા જ ભગિરથ પ્રયત્ન ન કરે, ત્યાંસુધી તેનાથી અજ્ઞાત સંશોધકો આવા વિશાળ ક્ષેત્રને ગેરઈન્સાફ આપે, તેમાં તેવા સંશોધકો કરતાં આપણે વધારે દોષને પાત્ર હતા, પરંતુ હવે આ પ્રયત્નથી તેવા સંશોધકોને તે તરફ લક્ષ ખેચવા સ્વાભાવિક ફરજ આવી પડે તે બનવા જોગ છે.

જૈન સાહિત્યનું ભંડોળ જૈનપ્રજા માટે એટલું બધું વિશાળ છે, કે તેના એકેક અંગનો વિચાર કરતાં વર્ષો જોઇએ, વ્યવહારિક, નૈતિક, કે ધાર્મિક કોઈપણું હકીકત તપાસશું તો તેમા સમાયેલ ગાભિર્ય, અને તાત્વીક સ્વરૂપ પરત્વે ચંચુ પ્રવેશ કરવાને પણ આપણે ક્વચિત જ શક્તિવાન થઈશું.

આવા અનેક વિષયો પૈકી કોઇ કોઇને માટે આપણે આ સંમેલનમાં નિબધો રજુ થયેલા જોઇએ છીયે. વળી આપણને વિચાર કરવાનો જે અવકાશ છે, તે તરફ જોઉં છું ત્યારે કલ્પના થાય છે કે આપણે એક પણ વિષયને માટે સંપૂર્ણ વિચાર કરી શકીએ તેમ નથી, તો પણ એકાદ બે વિષય હાથમાં લઇ તેના ગાંભિર્ય માટે કંઇ કહેવા યત્ન કરીશ તો અસ્થાને તો નહિજ ગણી શકાય તેમ માનું છું.

પ્રથમ યોગ તરફ નજર કરીએ તો યોગ્યના વિષયને ગુણસ્થાનકના ક્રમ સાથે આરોહિત કરી, કેટલો વિશાળ ચર્ચવામાં આવ્યો છે, તે યોગના ગંભિર વિષયનું ગુણ-

સ્થાનકના સ્વરૂપમાં ચર્ચેલું સ્વરૂપ જોવાથી જ જાણી શકાય. જૈન પ્રજાના લક્ષમાં પણ નહિ હોય તેવી રીતે નિત્યકર્મમાં બાર અતિચારનું સ્વરૂપ બોલાય છે તે પણ યોગનું અંગ છે, મન વચન અને શરિરના સામાન્ય અને વિશેષ પ્રકારે અપરિમિત ગમનનો અટકાવ અને માનસિક શુદ્ધિના માર્ગનું નિરિક્ષણ એ યોગની સીડી છે. નવતત્વના સ્વરૂપની સંકળના તે પણ યોગ છે વ્યવહારમાં પ્રવર્તતિ તપશ્ચર્યા એ પણ યોગ છે. યોગના વિષયને શરીર બળ સાથે ઘટાવતાં યોગ સાધ્ય ક્રિયાઓ વૈદકિય વિચારોને અવલંબીને જ તૈયાર કરવામાં આવી હોય તેવી જોવાતી યોજનાઓ અને નિયમોનો જ્યારે વિચાર કરીએ છીએ, ત્યારે જ તેની મહાન અને ગહન સંકલના માટે ખ્યાલ આવી શકે છે.

વ્યવહાર દ્રષ્ટિથી ન્યાય, અને તર્કના ગ્રંથો પણ આપણા સાહિત્યમાંથી વિસરી જવામાં આવ્યા નથી.

એ તો નિર્વિવાદ છે કે કળાકૌશલ્યની કિમ્મત ચિતારો એક પીછીની ટાંકથી જેવા કિમતી ભાવો રજુ કરી બતાવે છે,તેવા બલ્કે કોટીગણા ઓછા ભાવ પણ સેંકડો રંગરેજના કુંડેથી ઉદ્ભવી શકે નહિ. તથા એક શીલ્પશાસ્ત્રી ઈમારતને લગતી ઘટના તથા હાજતો ને અનુકુળ રીતે હુબહુ પોતાના મગજથી કલ્પી તૈયાર કરી શકે તેવી પદ્ધતિસર સંકલના સેંકડો મજુરોના શ્રમથી ઉત્પન્ન થઇ શકે નહિ. તે પ્રમાણે આપણા પૂર્વ પુરૂષોએ કળાકૌશલ્યના ચિતારા અથવા તો શીલ્પશાસ્ત્રીના બુદ્ધિના દૃષ્ટાંતિક બળે જે અગમ્ય અને અલભ્ય સાહિત્ય તૈયાર કરેલ છે,તેના સ્વરૂપને જ શમજી શકિયે તો પુરતું છે.

આપણે સામાન્ય રીતે જોઇએ છીએ કે બાળકને જન્મથી જ અનુકરણ કરવાનો સ્વભાવ છે. પહેરવેશ, વર્તન, બોલી, રીતભાત, ખોરાક અને ક્રિયા વગેરે દરેકમાં જોશો તો નકલ એ જ મોટા સમુદાયની અક્કલ છે. નીતિના સૂત્રો–કથરતાં બાળકો પાસે ન આવવા પામે તો બાકી જોવાતાં–અનુભવાતાં સુત્રો તરફ તેનું મન પ્રેરાય તે સ્વાભાવિક છે અને તેથી વર્તનની ઊચ્ચતા અને જીવનની સરલતા માટે પણ ઉમદા સાહિત્યનો અવકાશ વિશેષ જરૂરનો છે.

જૈન સાહિત્યનો વિષય એટલો બધો વિશાળ છે કે જેના પુસ્તકો લખવામાં અસાધારણ પ્રમાણમાં શાહીના ઉપયોગથી ફક્ત વલ્લભીપુરમાં જ સાહિત્ય લેખન થવા પામ્યું હતું, તેમ ઇતિહાસ સાક્ષી પૂરે છે. અને તેવા અસંખ્ય પ્રમાણમાં વારસા છતાં જો આપણે તે અંધારામાં જ પડી રહેલા જોઇ બેસી રહીએ તો પછી તેમાં આપણા જ દુર્ભાગ્ય સિવાય કોને દોષ દઇ શકાય ?

પ્રથમ જણાવ્યું તેમ જૈન કથાનુયોગ વાંચતાં પણ અનેક નવિન કલ્પનાઓ અને સાહિત્યની પ્રાચિનતા સમજી શકાય છે. ચંદ રાજાનાં માતા વીરમતી તેના વડ સાથે વટવૃક્ષ ઉપર બેસી તેને ઉરાડીને સેંકડો ગાઉનું આવાગમન એક રાત્રીમાં કરી શકયાનું તેમાં આપણે જોઇશું. વાતના સ્વરૂપમાં આગળ વધતાં એક દોરાના પ્રભા-

વથી મનુષ્યમાંથી કુકડો અને જળના પ્રભાવથી કુકડામાંથી મનુષ્ય બનવાની બીના ને તુર્તમાં આપણે બાજુ રાખીએ. પણ પ્રથમ એક રાત્રીમાં એક વટવૃક્ષ સેંકડો ગાઉનું આગમન કરી આવે તે શબ્દો તરફ તમે શકની નજરથી નથી જોતા ! આ હકીકતમાં કવિની કલ્પના અથવા અલંકારનું રૂપક છે તેમ તમે શું નથી કહેતા ? પણ સબુર. આપણે વર્તમાન પત્રોમાં વિમાનની શરૂ થયેલી મુસાફરી અને તારના દોરડા સિવાય થતી વાતચીતની વાત વાંચી હશે. મને પૂછવા દેશો કે આ હકીકતને તમે શકની નજરથી જુઓ છો ? કે કવીની કલ્પના અથવા અલંકાર માનો છો ? આપણી દૃષ્ટિમાં કોઇ એવા પ્રકારનાં પડલ ચઢી ગયા છે. કે જે વાત પોતાની શક્તિની પૂર્વની જણાય તેને કાલ્પનીક માની લેવાની ન માફ થઇ શકે તેવી ભૂલ કરી નાંખીએ છીએ. અને અંતે પોતાના જ પૂર્વ પુરૂષોનાથી થવા પામેલ આવા અનેક સિદ્ધિ પ્રયોગોના વર્તમાન સ્વલ્પ સ્વરૂપને પ્રત્યક્ષ નીહાળી તેના ગુણાનુવાદમાં તલ્લીન થઇ જઇએ છીએ, આ ઉપરથી હું એમ નથી કહેવા માગતો કે બુદ્ધિશાળી પુરૂષોના બુદ્ધિબળ માટે તેમના તરફ માનની નજરથી ન જોવું. પણ પોતાના ખજાનામાં કરોડો રૂપિયાની મુડી છતાં ખજાનો ખોલવાની ચાવી હાથમાં પકડવાના પ્રમાદમાં પડી રહી, પાંચ પચીશની મુડી જોતાં મગજ મતિમૂઢ થઇ જાય છે તે હકીકતનો વિચાર કરતાં ખેદ થાય છે, કેમકે રેલવે, તાર, અને તેવાં વિજળી વગેરેથી ચાલતા સર્વે પ્રત્યક્ષ યંત્ર વિદ્યાના પ્રયોગો આપણે જૈન કથાનુયોગમાં પૂર્વે સાધ્ય હતા તેમ સાંભળીએ છીએ અને તેથી એમ માનવું ખોટું નથી કે આપણા સાહિત્યે કૌશલ્ય માટે પણ મોટો હિસ્સો વારસામાં મુકયો હોય. ! પછી ભલે તે આપણી પ્રમાદદૃષ્ટિથી ભંડારોમાં ઉધયીને આધિન હોય, કે પછી આપણી અજ્ઞાન ચક્ષુને તે ન ઉકલી શકતો હોય, પરંતુ આપણા માટે તેવો પ્રસાદ મુકાયેલ હોવો જોઇએ તે નિઃશંક છે.

હજુ જરા આગળ વધીને જોઇશું તો ગુરૂવર્ય સુરિશ્વર શ્રી મહારાજે બાર દુકાળ વખતે શિષ્ય પરિવારને સાથે લઇ અધ્યયન વાસ્તે ખાસ યોજના કરી હતી. અને ક્ષણ વારમાં સેંકડો મૈલની મજલ કરાવી હતી. આ સર્વેનો ગંભીર અર્થ શું ? વળી યાદ કરો કે સ્થુલીભદ્ર મહારાજ વનમાં ધ્યાનારૂઢ હતા, તે વખતે તેમની બેન ગુરૂ મહારાજને પુછીને કહેલે સ્થળે વાંદવા જતાં ત્યાં સિંહનું સ્વરૂપ ધારણ કરી સ્થુલીભદ્ર મહારાજ દેખાયા. અગરજોકે આવી અગાધ સત્તાનો નિરર્થક ઊપયોગ થતાં જોઇ ગુરૂ મહારાજે શિક્ષણનો પ્રબંધ બંધ કર્યો હતો. પરંતુ મારે કહેવાનું એ છે કે જૈન સાહિત્યે કોઈ બાબત રહેવા દીધી હોય તેમ જણાતું નથી.

ત્રીજો દાખલો લઇશું તો હિરવિજયજી સૂરીમહારાજના પરાક્રમના દાખલા શું ઓછા છે ? મુસલમાન પાદશાહે પણ જીવ દયાના ઢંઢેરા બહાર પાડી તામ્રપત્રો ઉપર કેટલાક હક્કો લખી આપેલા છે તે કૌશલ્ય પ્રકરણની અવધિ નહિ તો શું ?

ઐતિહાસિક દૃષ્ટિથી જોઇશું તો પણ જૈન સાહિત્યે દેશના પ્રાચીન ઇતિહાસને ટકાવી રાખવા એકલે હાથે કામ કર્યું છે. ગુજરાતનો છેલ્લી દશ સદીનો ઇતિહાસ મેળવવાને જો કોઇપણ સાધન હોય તો જૈન ગુરૂ મંડળના રહેલા નોંધ જ છે, એ વાત ગુજરાતી સાહિત્યપરિષદ્‌ના બંને પ્રમુખો મી. ત્રિપાઠી અને ધ્રુવ વગેરેને પણ કબુલ રાખવી પડી છે.

કાવ્યના વિષયમાં પણ જૈન પંડિતો અગ્રપદે છે. જૈન રાસા–સ્તવનો અને નીતિના પદોનો મોટો સંગ્રહ આપણા માટે વારસામાં પડયો છે. અને તે એટલો વિશાળ છે કે તેને મી. ઇચ્છારામ સૂર્યરામ, મી. મનસુખ રવજી વગેરેએ પ્રકાશવા છતાં હજુ પણ એકાદ વ્યક્તિ તો શું પણ એકાદ સંસ્થા તે સર્વેને પ્રકાશમાં લાવતાં થાકી જાય.

કથાઅંગ પણ આપણા માટે વિશાળ છે. જનરૂચિ ધાર્મિક ખોરાક પચાવવા ઓછી શક્તિવાન થઇ ગઇ છે. અને તેવા વખતે મોટે ભાગે કથાવિભાગ તરફ વલણ વધ્યું છે. અને તેને માટે જૈન સાહિત્યે સારો ફાળો આપવો શરૂ રાખ્યો છે, છતાં પણ કથાઅંગના ઘણા પ્રકરણો નવાં અને નવાં બહાર આવતાં જાય છે, તે પણ તેના મોટા સંગ્રહનો પૂરાવો છે.

એકંદરે વ્યવહાર અને વૈરાગ્ય–એ બંને પરસ્પરના વિમાર્ગોના માટે પણ એક જ સાહિત્ય ખોરાક પુરો પાડતું હોય તો તે જૈન સાહિત્ય છે.

આવા વિશાળ સમુદ્રની સફર એક જ પવનથી કે એક જ દિવસમાં અથવા એકી સટે સલામત પાર પડી જવી મુશ્કેલ છે, અને તેથી તેના માટે વખતોવખત વિચારોનો ક્રય વિક્રય થવા જરૂર છે. વળી અત્યારે પણ જૈન સાહિત્યના જુદા જુદા અંગો માટે લંબાણથી જુદા જુદા નિબંધોદ્વારા લખાયું–વંચાયું છે. અને તે દરેક હકિકત એટલી ગહન ને વિશાળ છે કે મારા જેવા અલ્પજ્ઞની બુદ્ધિ બહારનો તે વિષય થઇ પડે. પરંતુ આ સર્વેની ખીલવણી કયા માર્ગે સમયાનુકૂળ સરલ રીતે થઇ શકે, તેના સંબંધે મારા ટુંક વિચારો રજુ કરીશ તો હું માનું છું કે તે અસ્થાને ગણાશે નહિ.

આ પ્રસંગે મારે કહેવું જોઇએ કે છેલ્લા દશ વિશ વર્ષથી જૈન સાહિત્યની ખીલવણી માટે જૈન પ્રજા કંઇક જાગ્રત થતી હોય તેવો ભાસ જોવાય છે. જુદા જુદા મંડળો–સભાઓ–અને મુનિવરો જૈન સાહિત્યને પ્રકાશમાં લાવવાને શ્રમ કરી રહ્યા છે, પરંતુ જેમ વિવાહના વાધવાનમાં ભ્રષ્ટાચારના માનનું ભાન રહેતું નથી, તેમ સાહિત્ય ખીલવણીના ઉત્સાહમાં ગમે તેટલા ખર્ચે પણ કંઇક નવું મેં કર્યું તેમ કહેવરાવવાના લોભમાં શ્રદ્ધાહીન કે પૈસાના બદલામાં પંડિત લખાવવા જતાં કોઇ કોઈ વાર સાહિત્યની ખીલવણી તેના ઉદય કરતાં અવનત ભાવોમાં વહી જતી જોવા-

થાના દાખલા પણ આપણે જોવા પડયા છે. અને તેથી તેવા સાહિત્ય ઉત્કર્ષને ઇચ્છતા વર્ગે મળીને કંઇક પદ્ધતિ અથવા બંધારણ મુકરર કરવા જરૂર છે.

સાહિત્યની ખીલવણી માટે મને તો મુખ્ય માર્ગ એ જણાય છે કેઃ—

૧ જૈન સાહિત્યના ઉપાસક મંડળના એકત્રપણાથી એક સાહિત્ય સમાજ સ્થાપવી, તેમાં જૈન સાહિત્યના પ્રકાશક-ઉત્પાદક અને ઉત્તેજક વર્ગના મેમ્બરોની ચુંટણી કરવી. અને દર વર્ષે તે મંડળે એકત્ર થઇ તેના માટે નવા વર્ષના કાર્યક્રમ મુકરર કરી, વહેંચણી કરી લેવી.

अ આવા મંડળ માર્ફત પ્રાચીન ભંડારો સમજાવટથી, કે રાજ્ય મદદથી ખુલાવવા અને તેના ઉદ્ધાર-રક્ષણ અને પ્રકાશ માટે ઘટતી યોજના કરવી.

व બની શકે ત્યાં સુધી શાસ્ત્રના ગ્રંથો જૈન પંડિતોથી શોધાવવા અને જૈન વિદ્વાન્ મુનિ વર્ગની દષ્ટિ નીચેથી પસાર કરાવી પ્રકાશમાં લાવવા.

क તેવા કામ માટે નાણાના થતા ભંડોળનો દરેક વાર્ષિક રીપોર્ટ રજુ કરવો અને નવું બજેટ ઘડવું.

૨ નૈતિક વિષય અને ધર્મજ્ઞાનના ફેલાવા માટે સમાજને કયો માર્ગ વધારે પસંદ છે, તેનો વિચાર કરતાં લોકરૂચિને હમેશનું હાજી હા હવે ફચતું નથી. શાસ્ત્રશ્રવણમાં પણ બગાસા આવે છે તો વાંચનનો અવકાશ ક્યાંથી જ હોય? નિર્ધનસમુદાય પેટપીડામાં ધર્મને વિસરે છે અને શ્રીમંતવર્ગ શોખ શૃંગારમાં શ્રદ્ધા હીન થાય છે. તેવા સંજોગોમાં સાહિત્યનો સ્વાદ ચખાડવા માટે સાનુકૂળ પ્રયોગની જરૂર છે. રાસાની યોજના છેલા આઠસો વર્ષથી શરૂ થઈ છે. તેમ મારી ગણત્રી છે. કેમકે તે પૂર્વે વૈરાગ્ય-નીતિ અને ભાવના માટે મૂળ ગ્રંથો બસ હશે. પણ આયુષ્ય પ્રમાણમાં ન્યુનતા, બુદ્ધિબળમાં ઘટાડો અને નવ નવા રસની અપેક્ષા વધતી ગઇ હોય ત્યારે રાસાની યોજના પૂર્વાચાર્યોએ જૈન પ્રજાને મૂળવાત પર રસ ટકાવી રાખવા કરી હોય તેમ માનવા જેવું છે. આગળ જતાં પૂજા ભણાવવામાં બારવ્રત-શત્રુંજય માહાત્મ્ય-વગેરેને સમાવી બે સદી પરના જમાનાને અનુકૂળ ફેરફારથી ધર્મશ્રદ્ધા ટકાવવા યત્ન થયો જણાય છે.

હવે લોકરૂચિ નાટક ચેટકની ધુનમાં ફરી હોય તેમ જોવાય છે. દેરાસરમાં પ્રાચીન ગાંભિર્ય અને હૃદય ઉર્મિ ઉલસિત કરી ભાવનાને સતેજ કરનારાં સ્તવનો કવચિતજ સંભળાય છે; ત્યારે નાટકી હાલરડાં વધી પડયા છે. લોકોને જુનું તે સુનું મટી હવે નકલી નવું જોઇએ છીએ. પ્રવાહ મૂર્ખ સ્વતંત્રતામાં તણાય છે. અને તેથી શીખનાર કરતાં શીખવનારને ફિકર વધી છે. અણસમજુ કરતાં સમજુને જવાબદારી આવી છે. કોઇ કોઇ વાર સર્વે જોઇ શકયા હશો કે વિવિધ ધર્મના આખ્યાનો બજાર વચ્ચે ગવાતાં સાંભળવાને સેંકડો માણસો કલાકો સુધી ધુળમાં બેસવાનું પસંદ કરે

છે, તેજ સ્વચ્છ ઉપાશ્રયમાં આવતાં ડરે છે. બેસતાં બાવરા થાય છે. આવા સંજોગોમા આપણા પાસે કથાનુયોગને અપૂર્વ ભંડાર મોજુદ હોયને પૂર્વાચાર્યોએ જેમ રાસા ઉત્પન્ન કર્યા છે તેમ હવે કથારૂપે વર્તમાન રૂચીકર રાગ રસથી ગાઈ નૈતિક-ધાર્મિક જ્ઞાનનો ભાસ કરાવવા મને જરૂરનું જણાય છે.

૩ જૈન ઇતિહાસ અને દ્રષ્ટાંતો કેટલાંક એવાં ઊદાહરણોને વૃત્તાંતો પૂરાં પાડે છે કે તેના કાલ્પનીક ચિત્રો તૈયાર થાય તો તે વાત હમેશને માટે સ્મરણિય રહી શકે. આવા સાધનની ગેરહાજરીમાં જૈન પ્રજાના ઘરો વિવિધ ચિત્રોથી ભરેલી દીવાલોથી જોવાય છે, તે ઉપરની ગોઠવણથી દૂર થવા વકી રાખી શકાય તેમ માનું છું.

જણાવવું જોઇએ કે સાહિત્ય સમ્મેલન જેવા ઉત્કર્ષ કામની શરૂઆત શાસ્ત્રવિશારદ વિજયધર્મસૂરિશ્વરના પ્રયાસથી ઉપસ્થિત થવા પામી છે. જેને માટે જેટલી પ્રશંસા કરૂં તે ઓછી છે, આશા છે કે તેઓશ્રી આ કામને વધારે વધારે ઉત્સાહથી પુષ્ટિ આપી તેનોવિજય કરશે.

ૐ શાંતિ. શાંતિ. શાંતિ.





જૈન સાહિત્યની ઉત્તમતા.



(લેખક—શાસ્ત્રી નર્મદાશંકર દામોદર–ભાવનગર.)
સંસ્કૃત અધ્યાપક ભાવનગર હાઇસ્કુલ.

જૈન સાહિત્ય સંમેલનના પ્રમુખ સાહેબ અને જૈન સાક્ષરો તથા જૈન સાહિત્યના ઉપાસક ગૃહસ્થો, હું એક બ્રાહ્મણ કોમમાં જન્મ્યો છું, અને વેદધર્મનો અનુયાયી છું. પરંતુ મારી વિદ્યાર્થી અવસ્થાના છેલ્લા ભાગથી મારૂં આજ સુધીનું જીવન જૈનવર્ગની સેવામાં જ વ્યતીત થયું છે. તે દરમીયાન મારી બુદ્ધિનો જો કાંઇ પણ વિકાસ થયો હોય તો જૈન સાહિત્યની સેવાથી જ થયો છે, એમ હું માનું છું. મારી આજીવિકાનો આરંભ ભાવનગરની પ્રખ્યાત શ્રી જૈન ધર્મ પ્રસારક સભામાંથીજ થયો છે. અને મને જે કાંઇ આર્થિક અને બોધ સંબંધી ઉદય પ્રાપ્ત થયો હોય તો તે ભાવનગરની શ્રી જૈનધર્મ પ્રસારક સભા અને તેના ઉત્સાહી અને ધર્મમૂર્તિ પ્રમુખ શેઠ કુંવરજી આણંદજીને આભારી છે.

હાલ હું ભાવનગરના નામદાર મહારાજા સાહેબનો આશ્રિત બન્યો છું, કે જે આશ્રયનું કારણ પણ ભાવનગરની પ્રખ્યાત શ્રી જૈનધર્મ પ્રસારક સભા અને જૈન સંઘ છે. આ પ્રસંગે મારે આનંદ સાથે જણાવવું જોઇએ કે જૈન સાહિત્યના અગાધ મહોદધિનું યત્ કિંચિત મથન મેં જે કરેલું છે, તેનું મુખ્ય કારણ જૈન મુનિઓનો ગાઢ પરિચય છે. તે પરિચયનો મહાન્ લાભ શ્રી જૈનધર્મ પ્રસારક સભાથી જ મને મળેલો છે. તેમાં મુખ્યત્વે કરીને જૈનોના બે સ્વર્ગવાસી મહાત્માઓના નામ મારે કૃતજ્ઞતાથી જણાવવા જોઇએ. તેઓમાં એક મહાત્મા શ્રી વિજયાનંદસૂરિજી અને બીજા શ્રીમદ્ વૃદ્ધિચંદજી મહારાજ. તેમાં મહાત્માશ્રી વૃદ્ધિચંદજી મહારાજની કૃપાની શીતળ છાંયા મને વિશેષ મળી છે. તે સ્વર્ગવાસી મહાત્માએ પોતાના શિષ્ય પરિવારમાં પઠન, પાઠનને માટે મારી યોજના કરી તેથી આર્હત સાહિત્યરૂપ સુધાસાગરના કેટલાએક બિંદુઓ મને પ્રાપ્ત થયા હતા. મને આ પ્રસંગે કહેતાં આનંદ ઉપજે છે કે, જે મહાત્માએ ભારત વર્ષની મહાટી સરસ્વતીની રાજધાની કાશીનગરીમાં યશોવિજય પાઠશાળાની સ્થાપના કરીને તે પ્રભાવક સૂરિવરની ચિરસ્મૃત થએલી ઉજ્વળ કીર્તિને પાછી સતેજ કરી છે, જે મહાત્માના પ્રસાદથી પવિ-

ત્ર ગંગા નદીના તટ ઉપર આર્હત સાહિત્યની જયઘોષણા થઇ રહી છે અને જે મહાત્માની યોજનાથી આજે આપણે જૈન સાહિત્યની ઉન્નતિનો પાયો રોપવાને અહિં એકઠા થયા છીએ, તે મહાત્મા વિજયધર્મસૂરિના અધ્યયનનો આરંભ પણ મારે હાથે થયેલો હતો અને તેજ વખતે તેની મનોવૃત્તિ અને બુદ્ધિમાં આ વખતે પ્રત્યક્ષ દેખાતા ભવિષ્યના શુભ ચિન્હો હું યથામતિ જોઇ શકયો હતો.

પ્રિય સાહિત્યપ્રેમીઓ, હવે હું આપની સમક્ષ પ્રસ્તુત વિષયને ચર્ચવાનો આરંભ કરૂં છું. જૈનના સાહિત્ય મહાસાગરનો હું પારંગત બન્યો નથી, તથાપિ તેને માટે મેં જે કાંઇ વાંચ્યું છે, તે ઉપરથી જ મને તેની ઉત્તમતાનો ઉંચો ખ્યાલ આવ્યો છે.

વેદધર્મનું સાહિત્ય સર્વોત્તમ છે, એ વાત મને મારા ધર્મને લઇને દૃઢ હતી, પરંતુ જ્યારથી જૈનસાહિત્યના મહાસાગરમાં મારો પ્રવેશ થવા માંડયો, ત્યારથી મારા તે વિચારોમાં કેટલોક ફેરફાર થતો જતો હતો, તે છતાં પણ જૈન વિદ્વાનોએ લખેલા કેટલાએક કાવ્યોના નામ જૈન રઘુવંશ, જૈન કુમારસંભવ, નેમિદૂત અને જૈન રામાયણ ઇત્યાદિ વેદધર્મના સાહિત્યનું અનુકરણ જોઇ મને જૈનસાહિત્ની અપૂર્ણતા વિષે શંકા આવતી હતી, પરંતુ જ્યારે કેટલાએક જૈન મહાકાવ્યોના ગ્રંથો મારા જોવામાં આવ્યા, ત્યારે તે મારી શંકા દૂર થઇ ગઇ. અને "જૈન ધર્મનું સ્વતંત્ર સાહિત્ય ઘણું છે" એવી મને પ્રતીતિ થઇ હતી. મારે ભાર દઇને કહેવું જોઇએ કે, ભારતવર્ષની વિદ્યાકળાનો મહાન્ વિકાસ જૈન સાહિત્ય કરી શકે તેમ છે, સાહિત્યના ગ્રંથોમાં મહા કાવ્ય, ગદ્ય, તથા પદ્ય, કાવ્યના અંગો વિષે જે જે લક્ષણો બાંધેલા છે, તે બધા લક્ષણોથી પરિપૂર્ણ જૈન સાહિત્ય છે. અર્થાલંકાર, શબ્દાલંકાર, ધ્વનિ, વ્યંગ વગેરે કાવ્યના અંગોનું ગૌરવ જૈન સાહિત્યમાં પૂર્ણ રીતે દેખવામાં આવે છે. વેદ ધર્મના સાહિત્યને શિખરે પોહોંચાડનારા ગદ્ય અને પદ્યના મહાન્ લેખકોએ જે કીર્તિ મેળવી છે, તેવી જ જૈનધર્મના લેખકોએ મેળવી છે, એમ કહેવું જોઇએ. બાણ કવીની ઉચ્ચતા ભારતવર્ષ ઉપર અદ્વિતીય ગણાય છે, તથાપિ તેવા લેખકો જૈન સાહિત્યમાં તદન નથી, એમ કહી શકાય તેમ નથી. આ પ્રસંગે કેટલાએક જૈન કવિયોના નામો આપ્યા હોય તો તે અપ્રાસંગિક નહીં ગણાય, તથાપિ લેખના વિસ્તારના ભયથી હું તે આપવા ઇચ્છા રાખતો નથી. સાહિત્યના ગ્રંથો કહે છે કે, કાવ્ય ગ્રંથોમાં તો એક એક શબ્દશક્તિ ઉપર જ બધા ચમત્કારનો આધાર હોય છે. છતાં શબ્દ માત્રજ કાવ્ય નથી–શબ્દ માત્ર જ વિચાર નથી–શબ્દ માત્ર કુશળતા નથી, એતો સિદ્ધજ છે. અમુક વિચાર અને અમુક કલ્પનાને રૂચે એવી ભાષા વાપરવાની બહુજ આવશ્યકતા છે. પણ તે કોઇ શબ્દો નવા રૂચવાથી કે શબ્દોનો અદલો બદલો કરવાથી સાધવાની નથી. જેમ બને તેમ ઉંચી પ્રતિના વિચારો

જેમાં સમાયલા હોય તેવા લેખોથી જ સાહિત્યની પુષ્ટિ થાય છે. એવા લેખો જૈન સાહિત્યમાં ઘણાં મળી આવે છે.

જૈન સાહિત્યનો મધ્યાન્હકાળ વિક્રમના તેરમા સૈકામાં હતો, એમ મને અનુભૂત થયું છે. મહાત્મા **દેવસૂરિના** ઇતિહાસ ઉપરથી જણાય છે કે, તે સમયે જૈન સાહિત્યના ઘણાં લેખો લખાયા હશે, તે સમયે દિગંબરી જૈન સંપ્રદાય પણ સાહિત્યની સેવા કરવામાં અગ્રપદ લેતો હતો, મહાત્મા **દેવસૂરિના** શિષ્ય માણિકયચંદ્રસૂરિના કાવ્યમાં ઘણો ચમત્કાર જોવામાં આવે છે. તેમના કાવ્યો રસભરિત અને અલંકારોથી અલંકૃત છે. તેમનું એક કાવ્ય આ પ્રસંગે આપવું ઉચિત ધારૂં છું.

कः कठीरवकंठकेसरमहाभारं स्पृशत्यंघ्रिणा।
कः कुंतेन सितेन नेत्रकुहरे कंडूयनं कांक्षति।
कः संनह्यति पन्नगेश्वरशिरोरत्नावतंसः श्रिये
यः श्वेतांबरदर्शनस्य कुरुते वंद्यस्य निंदामिमाम् ॥ १ ॥

ભાવાર્થ:—જે માણસ શ્રી જૈન શ્વેતાંબર દર્શનની નિંદા કરે છે, તે માણસ અવિચારી છે. કારણ કે જો તે અવિચારી ન હોય તો કેશરીસિંહની યાળના ભારનો ચરણથી કોણ સ્પર્શ કરે ? તીક્ષ્ણ ભાલા વડે નેત્ર ઉપર ખુજલી કરવા કોણ ઇચ્છે ? અને શોભાને માટે મોટા નાગના મસ્તકના મણિનું શિરોભૂષણ કરવા કોણ તૈયાર થાય ? અર્થાત્ જે જૈન શ્વેતાંબર દર્શનની નિંદા કરે છે, તે તેવા સાહસમાં ઉતરે છે. ૧

આ પદ્યથી તે સૂરિવરની પ્રતિભાશકિત અદ્ભુત જણાઇ આવે છે. આ શિવાય બીજા ચમત્કારી કાવ્યો જૈન સાહિત્યમાં ભરપૂર છે.

જૈન કવિઓએ પ્રાયે કરીને પોતાની પ્રતિભાનો પ્રવાહ ધર્મ અને વૈરાગ્ય તરફ વિશેષ વહેવરાવ્યો છે, છતાં પણ તેમાથી પ્રત્યેક પુરૂષાર્થનું ઉત્તમ પ્રકારે ધ્યાન આપી મનુષ્યત્વની ઉપયોગિતા ઉત્તમ પ્રકારે સિદ્ધ કરેલી છે બાહ્ય અને આંતર એવાં બે કારણોથી પોતાના વિચાર અને આચારમાં નિમાયેલ મનુષ્યત્વની સાર્થકતા સિદ્ધ કરવાને માટે જૈન વિદ્વાનોએ જે પોતાની લેખની નચાવી છે, અને પોતાની દિવ્ય પ્રતિભાની શકિત દર્શાવી છે, તે બીજા સાહિત્યની તુલનામાં પૂર્ણ રીતે ઉતરી શકે છે, એમ ખુલ્લી રીતે કહેવું જોઇએ દેશ, કાળ, સંબંધી, આદિ બાહ્ય કારણો અને શારીરિક અને માનસિક સામર્થ્ય તેમ પ્રકૃતિ ઉપર પડેલા કર્મના સંસ્કારરૂપ આંતર કારણો જૈન સહિત્યમા ઓછાવત્તે ભાગે જોવામાં આવે છે, તેમાં વિશેષ ખુબી એ છે કે તે સર્વનું પર્યવસાન શ્રેયઃ સાધનમાં જ આવે છે.

મનુષ્યના કર્ત્તવ્યને માટે જૈન સાહિત્યે પાડેલું અજવાળુ સર્વ સાહિત્યમાં પ્રશંસનીય થયા વિના નહીં રહે, એમ મારૂં માનવું છે. ઘણાં બીજા લેખકોએ

કર્ત્તવ્યનો બોધ ઉત્તમ પ્રકારે દર્શાવ્યો છે, પરંતુ તેમાં સ્વાર્થ અને સ્વપરાયણતા સાધવાનો માર્ગ વિશેષ જોવામાં આવે છે, કે જે માર્ગ કર્તવ્યના ઉચ્ચ હેતુને વ્યર્થ કરી નાંખે છે. કારણકે સ્વાર્થ સિદ્ધ થાય એનો કર્ત્તવ્યનું ફળ છે, અને ફળ ઉપર દૃષ્ટિ રાખીને કર્ત્તવ્ય કરવું, તે ઉત્તમ કર્ત્તવ્ય ગણાતું નથી. જૈન સાહિત્યમાં એવા કર્ત્તવ્યનો બોધ જોવામાં આવતો નથી એ વિશેષ છે. પ્રત્યેક જીવન અને જીવન માત્રનો ઉદ્દેશ ઊન્નતિ અને વૃદ્ધિ છે, અને તે ઉન્નતિ અને વૃદ્ધિ કેવળ વ્યવહારિક સમૃદ્ધિની પ્રાપ્તિથી નથી, પણ માનસિક અને આત્મિક સમૃદ્ધિની પ્રાપ્તિમાં જ તે ઉન્નતિ અને વૃદ્ધિ રહેલી છે, એમ જૈન સાહિત્ય જણાવે છે. તેથી જૈન સાહિત્યની ઉત્તમતા સર્વ પ્રકારે સિદ્ધ થાય છે.

જૈન સાહિત્યની અંદર વ્યવહાર અને નીતિના પણ ઉચ્ચ તત્વો પ્રરૂપેલા છે, જે ઘણે પ્રસંગે મારા વાંચવામાં આવેલાં છે. જૈન સાહિત્યના મહાન્ ઉદધિમાં તરંગની જેમ ઉછળતા વ્યવહાર નીતિના પ્રસંગો ઘણાં જ આકર્ષક છે. વ્યવહારશુદ્ધિના તત્વો જૈન લેખકોએ એવા પ્રતિપાદન કરેલા છે, કે જેને માટે સર્વ આર્ય વિદ્વાનોએ ખરેખર મગરૂર થવાનું છે. ધર્મના પક્ષપાત અથવા દુરાગ્રહ દૂર રાખીને ગમે તે ધર્મ કે પંથનો વિદ્વાન્ જો એ તત્વોનું નિરીક્ષણ કરે તો મને લાગે છે કે, તેના હૃદયના ઉંડા પ્રદેશમાં આનંદ ઉપજ્યા વગર રહેશે નહીં, અને તે વાત તેને શિરઃ પ્રેમથી સ્વીકારવી જ પડશે.

જૈન સાહિત્યમાં દૃષ્ટાંત આપવાની રીતિ ઘણી જ અસરકારક છે, એમ મારે કહેવું જોઇએ. ઉપનયની ઘટનાઓ જૈન સાહિત્યમાં અદ્વિતીય છે અને તે પદ્ધતી ઉપરજ ઉપદેશના સાહિત્યનું વિશેષ ગૌરવ જોવામાં આવે છે. **ઉપમિતિ ભવ પ્રપંચ** કથાની અદ્‌ભુત યોજના પ્રત્યેક વિદ્વાનના હૃદયને આકર્ષી શકે છે. પનરમા સૈકામાં થયેલા મહાનુભાવ **મુનિ સુંદર સૂરિના** લેખોમાં દૃષ્ટાંતોની ખુબી અદ્‌ભુત જોવામાં આવે છે. મેં તેમના બધા લેખો વાંચ્યા નથી, પરંતુ **અધ્યાત્મ કલ્પદ્રુમના** લેખ ઉપરથી માલુમ પડે છે કે, સાહિત્યના સર્વ અંગોની પુષ્ટિ એ મહાત્માના લેખમાં મલી શકે તેમ છે. મારે સૂચના રૂપે કહેવું જોઈએ કે ભારત વર્ષ ઉપર ‘ સહસ્રાવધાની ’ તરીકે પ્રખ્યાત થયેલા એ આચાર્યના દરેક લેખો અનુવાદસહિત પ્રસિદ્ધ કરવા યોગ્ય છે.

સાહિત્યકારો કવિતાના મુખ્ય બે ભેદ માને છે, **શ્રવ્ય કાવ્ય** અને **દૃશ્ય કાવ્ય.** જૈનસાહિત્યમાં દૃશ્યકાવ્યના કરતાં શ્રવ્યકાવ્ય વિશેષ ઉપદેશકારક થઇ પડે છે, એ વાત સર્વ સાહિત્યવેત્તાઓએ સિદ્ધ કરેલી છે. જૈન વિદ્વાનોએ એ વાત લક્ષમાં રાખીનેજ પોતાની પ્રતિમાનો પ્રભાવ બતાવ્યો છે. સારા ઉદાહરણો આપી સદાચાર અને કલ્યાણનો જ સંબંધ સમજાવવો. દુરાચારનો દુઃખમય અંત બતાવી દુરાચારથી દૂર રહેવા ઉપદેશવું, આ તેમનો મુખ્ય ઉદ્દેશ તેમની કવિતામાં સ્ફુરી

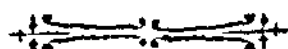
આવે છે. તેમની કવિતાનું ધ્યાન યથાર્થ, તાદૃશ અને રમણીય છે, છતાં જનસ્વભાવને ઉત્તમોત્તમ વૃત્તિઓના ઉત્કૃષ્ટરૂપ બતાવી ઉચ્ચ માર્ગે દોરવામાં સફલ થાય તેવું હોય છે. જૈન કવિઓની હૃદયપટ ઉપર અસર કરવાની કળા ખરેખર અપ્રતિમ છે. તેમની રસજ્ઞતા ઉંચા પ્રકારની છે. ઘણાં પ્રસંગો એવા પણ આવે છે કે જે સામાન્ય બુદ્ધિમાં ઉતરવા પણ કઠિન થઈ પડે છે. તેઓ પોતાની કવિતારૂપરમણીને સર્વ રસમય બનાવે છે, પરંતુ મર્યાદામાં રહીને તેની અંદર શાંત રસની પ્રધાનતા રાખે છે. તેઓ આ વિશ્વરચના સાથે ઉપેક્ષારૂપે સંબંધ બતાવે છે, પારલૌકિક માર્ગ તરફ ગાઢ અને ઉદાર પ્રેમભાવ દર્શાવે છે, અને આ લોકની વાસનાઓને તોડી પાડે છે. છેવટે મારે અનુભવથી એટલું જ કહેવું જોઇએ કે જૈન સાહિત્યની ઉત્તમતા સર્વ પ્રકારે સિદ્ધ થઇશકે છે,તેથી એ સાહિત્ય આર્યદેશને અત્યંત ઉપયોગી છે. જો તેનો પૂર્ણરીતે વિકાશ કરવામાં આવે, તો ભારત વર્ષની આર્ય પ્રજાને મહાન્ લાભ થયા વિના રહેશે નહીં. આ નવીન સંસ્થાના સમારંભથી એ આશા પૂર્ણ થવાના શુભ ચિન્હો દેખાય છે. એ આશા જગત્પતિ પરમાત્મા પૂર્ણ કરો, એવી પ્રાર્થના કરી, હું મારો આ લઘુ વિષય સમાપ્ત કરૂં છું અને આશિરવાદરૂપે નીચેનું પદ્ય ઉચ્ચારૂં છું.

जैनवाङ्मयपीयूषवर्षिणी वहुहर्षिणी ।
सर्वदा सर्वदा जीयात् जैनसाहित्यसंसदा ॥ १ ॥





જૈન કથા સાહિત્ય.



(લેખક—શાસ્ત્રી જેઠાલાલ હરિભાઇ, ભાવનગર.)

શ્રી જૈન સાહિત્ય સંમેલન સમિતિ તરફથી પ્રસિદ્ધ થયેલા અગ્યાર જૂદા જૂદા વિષયોમાંના કોઇ પણ વિષય પર સ્વાનુભવિત લેખોની માગણી થતાં કિંચિત્ અનુભવના પ્રમાણમાં આ લેખક પોતાનો ઉત્સાહ પ્રદર્શિત કરવા પ્રથમ પ્રયાસ કરે છે, અને આશા રાખે છે કે અસંગત, અસંભાવિત તથા શૈલી વિરૂદ્ધ કાંઇ પણ લખાણ દૃષ્ટિપથ પડે તે સુધારીને વાંચવા વાચકવૃંદ તસ્દી લેશે.

સામાન્ય રીતે " સાહિત્ય " શબ્દની પ્રવૃત્તિ કાવ્ય, અલંકાર, રસ તથા નાટક ચંપૂ વિગેરેમાં થઇ શકે છે, પરંતુ અત્રેની સમિતિ તરફથી વિભાગ કરાયેલા વિષયો જોતાં " સાહિત્ય " શબ્દ સમૂહના અર્થમાં ગણેલો જણાય છે; એટલે કે જૈનધર્મને લગતા દરેક ગ્રંથોનો આ શબ્દમાં સમાવેશ કરેલો છે; તેથી તેના વિષયોના ઘણા વિભાગો થઇ શકે છે, કે જેમાંના અગ્યાર વિભાગોનાં નામ પ્રસિદ્ધ કરેલાં છે. સ્થૂળ દૃષ્ટિથી જોતાં તે અગ્યાર વિષયોમાંના કેટલાક વિભાગોનો સંકર માલમ પડે છે. જેમકે પહેલો વિષય " જૈન સાહિત્યની ઉત્તમતા " આમાં જ અવશિષ્ટ દશે વિષયોનો સમાવેશ થઇ શકે છે. તથા ત્રીજો વિષય " જૈન કથા સાહિત્ય " અને ચોથો " જૈન સાહિત્યમાં ઇતિહાસનાં સાધનો " એ બે વિષયોનો અભેદ થઇ શકે છે. તેમજ છેલ્લો " પ્રાકૃત જૈન સાહિત્ય " નામનો વિષય ઉપરના દરેક વિષયોમાં ભિન્ન ભિન્ન રીતે અંતર્ગત થઇ શકે છે. વિગેરે. તો પણ સૂક્ષ્મ દૃષ્ટિએ જોતાં તે વિભાગોમાં અમુક અમુક તફાવત પણ રહેલો છે. જેમકે કથા ભાગમાં ધર્મ તથા અધર્મના ફળને પામેલા મનુષ્યાદિકનું વર્ણન કરવામાં આવે છે, અને ઇતિહાસના વિષયમાં તે તે સમયને લગતા રાજાદિકના વૃત્તાંતો આપવામાં આવે છે, તે ઐતિહાસિક વિભાગ કહેવાય છે. એ રીતે વિભાગોનું તારતમ્ય હોવા છતાં પણ લેખકની લેખિની તેના અભેદનું સૂચવન કરે તો તે સ્થૂળ દૃષ્ટિની અપેક્ષાએ અસ્થાને નહીં ગણાય.

ઉપર પ્રમાણે સ્થૂળ દૃષ્ટિએ જેમ સંકર ધારી શકાય છે, તેમ વ્યાકરણ, કોષ, કાવ્ય, નાટક, ચંપૂ, ન્યાય, કર્મ, તત્ત્વ, જ્યોતિષ, વૈદક, ક્રિયાકાંડ, તપસ્યા, વિગેરે

વિષયો કે જેના અંતર્ગત અનેક વિષયો રહેલા છે, તેવા મોટા વિભાગો આ અગ્યાર વિભાગોથી પૃથક્ સંભવે છે, તો પણ સૂક્ષ્મ દૃષ્ટિએ ત્રીજા, આઠમા, નવમા કે બીજા કોઇ વિભાગમાં તેમનો અંતર્ભાવ કરી શકાય છે. અર્થાત્ પૃથક્-પૃથક્ વિષયો પર લખવા ઇચ્છતા સાક્ષર લેખકો સંખ્યાબંધ હોય તો પણ વિષયોની સંપૂર્ણતા ન થાય તેટલા વિષયોનો આ અગ્યાર વિભાગોમાં સમાવેશ થાય છે.

આ સર્વ મુખ્ય તથા અવાંતર વિષયોપર વિચાર કરી બાળકથી વૃદ્ધ સુધી અને મુગ્ધથી વિદ્વાન સુધી સર્વજનોને ઐહિક તથા પારમાર્થિક હિતકર જાણી " જૈન કથા સાહિત્ય " નામના ત્રીજા વિભાગ સંબંધી કાંઇક લખવાનું દુરસ્ત જણાયાથી કથામૃત સાગરમાંથી શક્તિ અનુસાર એક પ્યાલો ભરી તેમાંના અમુક બિંદુઓથી વાચકવૃંદના નેત્રોને જાગૃત કરવા ઇચ્છું છું.

મારા આ ઇચ્છિત વિષયમાં જૈન કુમારસંભવ, હીરસૌભાગ્ય વિગેરે કાવ્યો, ધર્માભ્યુદય, અનર્ઘરાઘવ વિગેરે નાટકો, કુવલયમાળા વિગેરે ચંપૂઓ, ત્રિષષ્ટિશલાકા પુરૂષ ચરિત્ર, પાંડવ ચરિત્ર વિગેરે ચરિત્રો, અર્હન્નીતિ, નીતિસાર વિગેરે નીતિના ગ્રંથો, શત્રુંજય માહાત્મ્ય, ગિરનાર માહાત્મ્ય વિગેરે માહાત્મ્યો, જ્ઞાન પંચમી, મૌન એકાદસી વિગેરે પર્વ કથાઓ, સુભાષિતસાર, સુભાષિતાર્ણવ વિગેરે સુભાષિત ગ્રંથો, શક્રસ્તવ, શંખેશ્વર પાર્શ્વસ્તવ, વિગેરે સ્તવો, મહાવીરસ્તુતિ, યમકસ્તુતિ, વિગેરે સ્તુતિઓ, ભકતામર સિંદૂર પ્રકરણ વિગેરે સ્તોત્રો, રોહિણી કથા વજ્રસ્વામી કથા વિગેરે કથાઓ, કુમારપાળ પ્રબંધ, વસ્તુપાળ પ્રબંધ વિગેરે પ્રબંધો, ધર્મોપદેશ કુલક, રત્નત્રય કુલક વિગેરે કુલકો, ઉપદેશમાળા, ઉપદેશ પ્રાસાદ વિગેરે ઔપદેશિક ગ્રંથો પ્રશ્ન શતી, પ્રશ્નાવળી (મહ્રગુરુી) વિગેરે ચમત્કારીક શ્લોકો, વિગેરે વિગેરે વિષયોના ગ્રંથોનો સમાવેશ થઇ શકે છે. આ વિષયોના જાણીતા (પ્રસિદ્ધ) ગ્રંથોની સંખ્યા પણ એટલી બધી છે કે જેમના નામ માત્ર પણ લખતાં એક મોટું પુસ્તક થાય. " બીજા દર્શનો કરતાં જૈન દર્શનના ગ્રંથોની સંખ્યા ઘણી મોટી છે." આવી કિંવદંતી જે શ્રવણ પથમાં આવતી હતી તે કેટલીક મુદતથી સ્થાનભ્રષ્ટ થઇ દ્રષ્ટિપથમાં આવી છે, એમ કહેતાં કાંઇપણ અતિશયોકિત ધારતો નથી.

આ વિષયોના ગ્રંથોમાં કઇ કઇ હકીકતો આવે છે, તેનું દિગ્દર્શન કરતાં પણ મોટો ગ્રંથ થઇ જાય એ સ્વાભાવિક છે, તથાપિ લખવાની આવશ્યકતા હોવાથી અમુક હદ સુધીની દિશા યથાશકિત પ્રદર્શિત કરવાને બુદ્ધિ લેખિનીને પ્રેરે છે.

"કાવ્ય" શબ્દનો અર્થ "कवेः कर्म काव्यं"કવિનું જે કર્મ તે કાવ્ય (કવિતા)" એવો થાય છે, કવિની યોગ્યતા કોને હોય છે ? તે પ્રશ્ન થતાં એક કિંવદંતી "शास्त्रेषु प्रज्ञाः कवयो भवन्ति" "શાસ્ત્રોને વિષે (થકી) પ્રજ્ઞ થયેલા (વિદ્વાનો) કવિઓ થાય છે" આવી છે. વળી "रंभागीतानि काव्यानि" "કાવ્યો એ સ્ત્રીઓનાં ગીત સમાન છે,"

તથા "काव्यालापाँश्च वर्जयेत्" "કાવ્યના આલાપો વર્જવા યોગ્ય છે." આ રીતે કાવ્યની ધાર્મિક ગ્રંથોની અપેક્ષાએ નિકૃષ્ટતા સંભળાય છે. ત્યારે બીજી તરફ काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥१॥" "કાવ્ય યશને માટે છે, ધનની પ્રાપ્તિને માટે છે, વ્યવહારના જ્ઞાનને માટે છે, અકલ્યાણની ક્ષતિને માટે છે, શીઘ્રતાથી ઉત્કૃષ્ટ નિવૃત્તિને માટે છે, તથા કાંતાની સમાન રસિક વચનોથી ઉપદેશદાયક છે" વિગેરે વચનોથી સત્કાવ્યની શ્રેયઃસાધકતા પણ કહેવામાં આવી છે. તાત્પર્ય એ જણાય છે કે સત્ અને અસત્ એમ કાવ્યના બે વિભાગ પાડી ઉત્કૃષ્ટતા તથા નિકૃષ્ટતા કહેવામાં આવે છે. પરંતુ જૈન કાવ્યોમાં આવા વિભાગ પડી શકતા નથી. કારણ કે અસત્ કાવ્યના વિભાગમાં એક પણ ગ્રંથ કે શ્લોક પ્રયાસથી પણ મળવો મુશ્કેલ જણાય છે, એટલુંજ નહીં પણ સત્કાવ્યની કોટિ કરતાં પણ આ જૈન કાવ્યોને માટે ઉત્કૃષ્ટ નામની જરૂરીયાત જણાય છે. કારણ કે જૈન કાવ્યોના કર્તા માત્ર કવિજ છે એમ નથી. પરંતુ ધર્મના મર્મને જાણનાર ધુરંધર આચાર્યો છે. કવિતા (શ્લોકો) શીખ્યા એટલે કાવ્ય કરવું એવો હેતુ જૈન વિદ્વાનોનો હોય એમ બિલકુલ અનુમાન થઇ શકતું નથી. પરંતુ જેણે તે ઉપરાંત ધર્મનું તત્ત્વ પણ જાણ્યું હોય તેણે જ કાવ્ય કરવું, એવો અભિપ્રાય ગ્રંથો જોતાં સ્પષ્ટ જણાઇ આવે છે. કવિતા કરતાં આવડે અથવા ન આવડે, પરંતુ જો તત્ત્વ નિરૂપણ કરતાં આવડે તો કોઇપણ પ્રકારે ભવ્ય પ્રાણીઓના ઉપકાર માટે સાધન કરી આપવું, એવો ખાસ અભિપ્રાય સિદ્ધ થઇ શકે છે. શાંતિનાથ ચરિત્ર, ત્રિષષ્ઠિશલાકા પુરૂષ ચરિત્ર વિગેરે પદ્યબંધ ચરિત્રો ખાસ મહાકાવ્યની ગણનામાં આવી શકે છે. માત્ર ત્રિષષ્ઠિ જેવામાં કેવળ અનુષ્ટુપ્ શ્લોકો હોવાથી આપણે તેને ચરિત્રને નામે કહીયે છીયે. કાવ્યમાં અને પદ્યબંધ ચરિત્રમાં આવો સૂક્ષ્મજ તફાવત છે. કાવ્યનાં લક્ષણો જેવાં કે ઋતુ, પર્વત, નદી, સમુદ્ર, નગર, રાજા, રાણી, રાજ્ય, સૈન્ય, યુદ્ધ, મંત્રી, અમાત્ય, મંત્ર, રાજનીતિ વીગેરેના ઉત્તમ વર્ણનો આવાં ચરિત્રોમાં યથાર્થ જોવામાં આવે છે. એક તીર્થંકર, ચક્રવર્તી, વાસુદેવ કે અન્ય રાજાના ચરિત્રમાં એકજ કર્તા ઋતુ પર્વતાદિકનું વર્ણન પ્રસંગે પ્રસંગે ભિન્ન ભિન્ન કરે, તેમાં કાંઇ મુશ્કેલી નથી. પરંતુ ત્રિષષ્ઠિ જેવા ગ્રંથમાં એકજ કર્તાએ ત્રેસઠ મહાપુરૂષોનાં ચરિત્ર કહેતાં દરેકનાં પ્રસંગમાં બેત્રણ વાર કે તેથી પણ અધિક વાર ઋતુ પર્વતાદિકનું વર્ણન જૂદા જૂદા રૂપકમાં ઉત્તરોત્તર અધિકાધિક રસ અને અલંકારોથી ભરપૂર કરવું તથા નૂતન નૂતન ધાતુ, શબ્દ, કૃદંત, તદ્ધિત, સમાસ, કારક વિગેરેના વિચિત્ર પ્રકારે પરમ શુદ્ધ સામાન્ય અને વિશેષ પ્રયોગો બતાવી વ્યાકરણનું સૂક્ષ્મતમ રહસ્ય પ્રદર્શિત કરવું, તથા રૌઢિક, યૌગિક, યોગરૂઢિક અને પારિભાષિક શબ્દોના વિચિત્ર પ્રયોગોથી વિદ્વાનોના હૃદયને રંજન કરવાં, તે સર્વ વાગ્દેવીની સંપૂર્ણ કૃપા વિના સંભવિત નથી. મહા કાવ્યનાં લક્ષણો પૂરાં પાડવા ઉપરાંત સાથે સાથે અવિચ્છિન્ન રસવાળી, સત્ય અને સંભવિત

કથાઓ પૂર્વક જીવાજીવાદિક પદાર્થો સંબંધી, શુભાશુભ કર્મ સંબંધી, શ્રાવકનાં બાર વ્રત સંબંધી, દશ પ્રકારના યતિધર્મ સંબંધી, મિથ્યાત્વાદિક ગુણસ્થાન સંબંધી, વિગેરે ગુરૂગમ પ્રકરણોનું રહસ્ય સરળતાથી, કોમળતાથી અને રસિકતાથી એવી રીતે સમજાવવું કે જેની પ્રક્રિયાનો બોધ અજ્ઞાન માણસને પણ સહેલાઈથી થઇ શકે. ટુંકમાં કહીયે તો જૈન ફીલોસોફીના દરેક વિભાગોનું સંક્ષિપ્ત સારભૂત રહસ્ય યથાસ્થિત પ્રદર્શિત કરીને ભવ્ય જીવોના ચારે પુરૂષાર્થની પુષ્ટિ કરવી. એ સર્વ બાબતો ઉપર સૂક્ષ્મ વિચાર કરવાથી તેના કર્તાને કલિકાલ સર્વજ્ઞતાના નામથી ઓળખીયે, તેમાં કાંઇ આશ્ચર્ય નથી. કાવ્ય ઉપરાંતના ધર્મ સંબંધી આવા અનેક વિષયો હોવાથી એવા ગ્રંથોને કેવળ કાવ્યની ગણનામાં ગણી શકીશું નહીં, પરંતુ પુરાણોના વિષયો પણ પૂરા પાડેલા હોવાથી તે પુરાણ પણ કહી શકાશે અને આવા જ હેતુથી તેવા ગ્રંથો ચરિત્રના નામથી ઓળખાય છે. વ્યાકરણ, કોષ અને ન્યાયના સ્વોપજ્ઞ ગ્રંથકર્તાને આવા વિષયોવાળાં ચરિત્રો કરવામાં શો પ્રયાસ છે ?

ખાસ કાવ્યના અભ્યાસીઓને જો કે આવાં મહા કાવ્યની ગણતરીવાળાં ચરિત્રો કાવ્યના સંપૂર્ણ ફળને આપી શકતાં નથી. કારણ કે આવાં ચરિત્રોમાં અવાંતર કથા ભાગ વધારે આવે છે, મુખ્ય વાત પણ વિસ્તારથી આવે છે, તથા વર્ણન ભાગ સંક્ષિપ્ત આવે છે, અને કાવ્યમાં કથા ભાગ સંક્ષિપ્ત તથા અધ્યાહૃત હોય છે, અને વર્ણન ભાગ વિસ્તારવાળો હોય છે. વળી કાવ્યમાં દરેક કાવ્યનો અમુક ભાગ જ અભ્યાસ તરીકે શીખવાથી તેની ગરજ પૂરી પડે છે, અને આવાં ચરિત્રોમાં ભાષાજ્ઞાન ઉપરાંત ધર્મને લગતા અનેક વિષયોના જ્ઞાનનો સમાવેશ હોવાથી સાદ્યંત ગ્રંથો શીખવા પડે છે. તોપણ પ્રથમ જૈન કુમાર સંભવ સટીક, પછી દ્વિસંધાન કાવ્ય સટીક, વિજય પ્રશસ્તિ કાવ્ય સટીક, ધર્મશર્માભ્યુદય સટીક વિગેરે, અને છેવટ હીરસૌભાગ્ય કાવ્ય સટીક. આવા ક્રમે અભ્યાસ કરવામાં આવે, તો મારા ધારવા પ્રમાણે રઘુવંશાદિક પંચકાવ્યો શીખવાની જરૂર રહે નહીં. અને કાવ્ય ભણવાનું ફળ કે જે કોઇની મદદ વિના અન્ય ગ્રંથો લગાવવાની શક્તિ,તે સ્વાભાવિક રીતે જ ઉત્પન્ન થઇ શકે. અને ત્યારપછી મોટાં ચરિત્રો સ્વયં વાંચે તો ધર્મના જ્ઞાન સાથે કાવ્યનો બોધ સંપૂર્ણ થાય. જૈન કુમાર સંભવ કાવ્ય મૂળ અર્થ સાથે છપાયેલું છે, પણ તેની ટીકા છપાએલી નથી. પરંતુ તે ટીકા ઘણીજ સરળ છે, તથા તે કાવ્ય આરંભના અભ્યાસીઓને ઘણું ઉપકારક છે. દ્વિસંધાન વિગેરે કાવ્યો વચલા વર્ગના અભ્યાસી માટે ઘણાં સારાં છે, અને હીર સૌભાગ્ય કાવ્ય નૈષધની ગરજ સારે તેવું છે. જો કે સાધુઓ તથા શ્રાવકો વિગેરે હાલ અભ્યાસમાં ખંતીલા થતા જાય છે. પરંતુ ઘણો ભાગ અભ્યાસના ક્રમથી ઉન્માર્ગગામી હોવાથી અનભ્યસિત ગ્રંથો લગાવવામાં અત્યંત બીરૂ રહે છે, તેથી બીજાની સહાય વિના સ્વયં વાંચી શકતા નથી. તેમણે બનારસની શ્રી યશોવિજયજી સંસ્કૃત પાઠશાળા જેવા કે પ્રસન્ન બટુકની પાઠશાળા જેવાના

ક્રમ ઉપર દૃષ્ટિ રાખવી ઉચિત છે. વળી ક્રમ સાથે સમયની પણ અવશ્ય જરૂર છે, એટલે કે અમુક અભ્યસ્ય ગ્રંથ અવકાશ અને ક્ષયોપશમનાં પ્રમાણમાં અમુક મુદતે જ પૂરો થવો જોઇએ, પરંતુ તેમ નહીં થતાં શીઘ્ર વિદ્વાન થઇ જવાના લોભથી કે અન્ય કારણથી શક્તિ ઉપરાંત આગળ આગળ વધતા જાય છે, કે જેનું પરિણામ "આગળ પાઠ અને પાછળ સપાટ" જેવું થાય છે, અને તેથી કરીને અધ્યાપકના સ્થાનને પામવાની તો શક્તિ આવી શકતીજ નથી, પરંતુ પોતાની પાછળના અભ્યાસીને પાઠની આવૃત્તિ કે ચિંતનિકા પણ કરાવી શકતા નથી, અને પોતાના અભ્યાસનો મિનિટો જતી રહે છે, એવી વિપર્યસ્ત બુદ્ધિથી તેની શંકાનું સમાધાન કરવા માટે પણ સ્મૃતિનો કે સમયનો ભોગ આપવામાં પછાત રહે છે. સિદ્ધાંતકૌમુદી જેવા મોટા વ્યાકરણને કંઠે કરી, રઘુવંશાદિક પાંચે કાવ્યોના દશ દશ પંદર પંદર સર્ગ પણ સમાસ વ્યુત્પત્તિ સહિત મુખે કરી તથા અનુકૂળતા પ્રમાણે નાટકાદિક વાંચીને સારસ્વત ચંદ્રિકાદિક વ્યાકરણો ભણાવી ન શકે, તથા સામાન્ય ચરિત્રો પણ સ્વયં વાંચી વંચાવી ન શકે એવી વ્યક્તિ પણ દૃષ્ટિ પથમાં આવે, તે એક લાખ રૂપીયા જેટલી રકમ રોકી વેપાર કરનાર શેઠ દાળ, ભાત, રોટલી અને શાક ખાવા જેટલો પણ લાભ પેદા ન કરે તેના જેવું છે, તેના કરતાં તો તેલપળી કરી નિર્વાહ ચલાવનાર ફરતીયાની જેમ સારસ્વત જેવા નાના વ્યાકરણની પંચ સંધિ કે ષટ્લિંગ જેટલું કરી ગદ્યાત્મક કે પદ્યાત્મક ચરિત્રાદિક વાંચી ગુર્વાદિક પાસે પ્રકરણ અને સૂત્રાદિક ધારી બહુશ્રુતના અંશની પણ ગરજ સારે તે હજાર દરજ્જે શ્લાઘ્ય ગણી શકાશે. લાખનો વેપાર ખેડનાર વેપારી શાસનનો સંઘનો કે કુટુંબનો પણ ઉદ્ધાર કરવા અશક્ત હોય તો તેનો વેપાર જેમ વ્યર્થ છે, તેમ ક્રમસર ઉંચો અભ્યાસ કરનાર જો પાંચ પચીશને વિદ્વાન ન કરી શકે તો તેનો અભ્યાસ પણ વ્યર્થ છે. આવી અશકિતનું કારણ ચોયણા પડિ ચોયણાદિકના અભાવ સિવાય બીજું કાંઇ કલ્પી શકાતું નથી. બીજી બાજુનો અનુભવ જોતાં વ્યાકરણ કાવ્યદિકનો નહીં જેવો અથવા સામાન્ય અભ્યાસ કરનાર વ્યકિત નિરંતર અભ્યાસીઓને અભ્યાસ કરાવતાં મોટા અનુભવી વિદ્વાન જેટલું પણ જ્ઞાન ધરાવી વિદ્વાનોને પણ સહાયકારી થાય છે, એટલુંજ નહીં પણ પોતાના બહોળા અનુભવને લીધે પૂર્વાચાર્યોને અનુસરતી નવી કૃતિઓ પણ બનાવી પરોપકાર પરાયણ બને છે. ઉન્માર્ગે જનારી લેખિનીને સમમાર્ગે લાવવા ઇચ્છનાર લેખક જણાવે છે કે અમુક વ્યાકરણ કે અમુક કાવ્યાદિક શીખવવાથી જ બોધ થાય છે એવો એકાંત વાદ ધારવો યોગ્ય નથી. પરંતુ જૈનાચાર્યકૃત તે તે વિષયના ગ્રંથો પણ શીખવાથી ભાષા જ્ઞાન ઉપરાંત ધર્મજ્ઞાનનો મોટો લાભ પ્રાપ્ત થાય છે, અને તેથી કરીને એક પંથને દો કાજ થઇ શકે છે. માત્ર ગ્રંથોના અનુક્રમની તથા શિક્ષણ પદ્ધતિની ખાસ જરૂર છે. અને તે સાથે તેવા અપ્રસિદ્ધ મૂળ ગ્રંથોને છપાવી પ્રસિદ્ધમાં લાવવાની આવશ્યકતા જણાય છે. કાવ્યનો ક્રમ ઉપર જણાવવામાં આવ્યો છે. પરંતુ તે પહેલાં

ક્ષયોપશમાનુસાર કોઈ પણ નાનું કે મોટું વ્યાકરણ સુદઢ કરવું જોઇએ. તેમાં પણ અશકત પુરૂષે પંચસંધિ, નામ અને ધાતુનું પ્રકરણ અવશ્ય પાકું કરવું જોઇએ, અને ત્યારપછી કાવ્યાદિક શીખતી વખતે શીખેલા વ્યાકરણનો ઉપયોગ કરવા ઉપરાંત નવા નવા પ્રયોગો જે દ્દષ્ટિપથ થાય, તે સંબંધી ટુંકી રીત જાણીને તેવા પ્રયોગો ધ્યાનમાં રાખવાથી કેટલીક મુદતે તેના જ્ઞાનમાં વધારો થતો જાય છે, અને તેથી કરીને નવા ગ્રંથો લગાવવા સુગમ પડે છે. કોઇ પણ જૈન કાવ્ય કે ચરિત્ર એવું નથી કે જેમાં ધર્મને લગતી પ્રક્રિયા ન હોય. હિતોપદેશ અને પંચતંત્ર જેવા સરળ ભાષાના ગ્રંથ બદલ શાંતિનાથ ચરિત્ર (ગદ્યબંધ) અને પાર્શ્વનાથ ચરિત્ર (ગદ્યબંધ) જેવાં ચરિત્રો કે જેમાં ધર્મના નિરૂપણ સાથે તીર્થંકરનું જીવન ચરિત્ર સાદ્યંત આપી પ્રસંગોપાત ચાલતા સમયમાં પણ સંભવિત લાગે તેવી સત્ય કથાઓ તથા પ્રસ્તાવિક નીતિના શ્લોકો આપી વાચક વર્ગને ભાષા, નીતિ, વ્યવહાર અને ધર્મનું જ્ઞાન થાય તેવી રચના કરેલી છે. જો કે આ પાર્શ્વનાથ ચરિત્ર જેવા ગ્રંથ કે જે હિતોપદેશાદિકથી પણ વધારે સરળ ભાષામાં છે, તો પણ તેમાં પ્રસંગોપાત જીવાદિકનું નિરૂપણ, અનંતકાયનું નિરૂપણ, ભક્ષ્યાભક્ષ્યનું નિરૂપણ તથા અતિચારાદિકનું નિરૂપણ કરેલું હોવાથી તે તે સ્થળે તેના અનુભવીના સહાયની જરૂર પડે છે, પરંતુ તે તો પ્રથમ જ કહેવામાં આવ્યું છે કે કોઇ પણ ગ્રંથ ધર્મ સંબંધી તત્ત્વના નિરૂપણ વિનાનો છેજ નહીં, અને એવાં તત્ત્વો સહેલાઈથી અને વિનોદથી જાણતાં એવી સહાય લેવી પડે, તે થોડી મુડીએ મોટો લાભ પ્રાપ્ત કરવાં જેવું હોવાથી સર્વ કોઇને ઇષ્ટ જ હોય છે.

મલયાસુંદરી અને રત્નપાળ જેવાં પદ્યબંધ ચરિત્રો ચમત્કારિક કથાઓને લીધે એવાં રસિક અને બોધદાયક છે કે જેને વાંચતાં એટલોબધો આનંદ આવે છે કે સ્વાધ્યાયાદિકથી કંટાળેલા મગજને ઉલટી વિશ્રાંતિ મળે છે.

તેજ પ્રમાણે નાટક અને ચંપૂઓ કે જેના ખાસ ગ્રંથો ઘણી ઓછી સંખ્યામાં પ્રસિદ્ધ છે, તે પણ પોતપોતાનાં લક્ષણો પૂરાં પાડવા ઉપરાંત ધર્મનાં તત્ત્વોનું જ્ઞાન આપનારાં છે. કુવલયમાળા નામનો ગ્રંથ કે જેને ચંપૂમાં ગણવામાં આવ્યો છે, પરંતુ તે કાદંબરી જેવી નવલકથાની તથા ભાષાની પ્રૌઢિમાની પણ ગરજ સારે તેવો છે. તે પણ વિદ્યાવિલાસીઓને ધર્મ માર્ગમાં લઇ જવા માટે સરળ ઉપાય રચેલો છે. કારણ કે તેમાં સંસારવૃદ્ધિના મુખ્ય કારણરૂપ ક્રોધ, માન, માયા, લોભ અને મોહ એમાંના પ્રત્યેકને આધીન થયેલા પાંચ ભિન્નભિન્ન જીવોનાં દ્દષ્ટાંતો એવા વિસ્તારથી અસરકારક આપ્યાં છે કે વાચકમાં તેમાંનો કોઇપણ દોષ જેટલે અંશે હોય તે તે બરાબર સમજી શકે છે, એટલું જ નહીં પણ તે દોષ ગમે તેટલો રૂઢ થયેલો હોય તો પણ એક વખત તો તે છેવટ સ્મશાન વૈરાગ્યની જેમ પણ તે દોષથી મુકત થવા પ્રયાસ કરે છે. બલકે મુકત પણ થાય છે. તે ગ્રંથનું ભાષાંતર સર્વ કોઇને

ઉપકારક હોવાથી છપાઇને પ્રસિદ્ધ થયેલું છે, પરંતુ સંસ્કૃત ભાષાના વિલાસીઓને માટે એવા મૂળ ગ્રંથો પણ પ્રસિદ્ધ કરવા ઉચિત છે.

અર્હન્નીતિ, નીતિ કલ્પતરૂ, નીતિ વાક્યામૃત, જેવા નીતિના ગ્રંથોમાં કાયદા સંબંધી સૂક્ષ્મ ખુલાસા આપ્યા છે. તે વિષયમાં લેખકનો પરિચય નહીં હોવાથી તથા ચાલુ લેખને અતિ ઉપયોગી ન હોવાથી તે સંબંધી વધારે નહીં લખતાં માત્ર એટલી જ સૂચના અગત્ય જેવી લાગે છે કે હિંદુઓની જેમ કોર્ટમાં જૈન કાયદાઓ પણ દાખલ કરવામાં આવે તો તે સંબંધી પણ જૈન સમૂહની પ્રવૃત્તિ શાસ્ત્રાનુસાર થઇ કહેવાય.

શત્રુંજય વિગેરે માહાત્મ્યના ગ્રંથો તથા જ્ઞાનપંચમી વિગેરે પર્વ કથાઓના ગ્રંથો ખાસ કરીને તે તે સ્થળ અને દિવસોના માહાત્મ્ય સંબંધી છે. એટલે કે તે તે સ્થળે અને તે તે દિવસે યાત્રા તપસ્યાદિક ધર્મકરણી કરવાથી તેનું શું શું ફળ થાય છે? તેને આરાધવાથી તથા વિરાધવાથી કેવા શુભાશુભ કર્મ બંધાય છે? અને ગત્યંતરમાં તેનો ઉદય કેટલા પ્રમાણમાં આવે છે? એ વિગેરે બાબતોને સુદૃઢ કરવા સંભવિત અને સત્ય દૃષ્ટાંતો આપ્યાં છે, પરંતુ અન્ય ગ્રંથોની જેમ તેમાં અતિશયોક્તિ કે અસંગતતાનો લેશ પણ પ્રદર્શિત કરવામાં આવ્યો નથી.

સુભાષિત ગ્રંથોમાં સૂક્ત મુક્તાવળી, અન્યોક્તિ મુક્તાવળી, સદ્ભાષિતાવળી, સાહિત્ય શ્લોક, સુભાષિત, સુભાષિતાર્ણવ, સુભાષિત સમુદ્ર, સુભાષિત સાર ઉદ્ધાર, સૂક્તિ સંગ્રહ વિગેરે ઘણા ગ્રંથો છે. તેમજ સિંદૂર પ્રકરણ, હિંગુલ પ્રકરણ, કર્પૂર પ્રકરણ, કસ્તૂરિ પ્રકરણ વિગેરે પણ સુભાષિત સંબંધી જ છે. આ સર્વે ગ્રંથોમાં પ્રસ્તાવિક શ્લોકો, વ્યાવહારિક નીતિ સંબંધી શ્લોકો, તથા ધાર્મિક નીતિના શ્લોકો ઉપદેશકારક ઘણા સારા આપ્યા છે. કેટલાક ગ્રંથોમાં અલંકાર સહિત રસિક લખાણ પણ છે, કે જે વાંચવાથી સુભાષિત ભાંડાગાર જેવા ગ્રંથોની બિલકુલ જરૂરીયાત રહેતી નથી.

સ્તવો, સ્તુતિઓ અને સ્તોત્રોમાં કેવળ તીર્થંકરોના ગુણોનું કીર્તન કરવા પૂર્વક તેમના અતિશયોનું વર્ણન કરી, સત્ય દેવનું સ્વરૂપ કેવું હોઇ શકે? તે પ્રદર્શિત કરી અર્થાપત્તિથી તથા સાક્ષાત્ પણ અન્ય દેવોનું અદેવત્વ સિદ્ધ કરી ભકિત રસને અત્યંત દૃઢ કર્યો છે કે જે ગાતાં શ્રદ્ધાળુના હૃદયમાં ભકિત નામનો દશમો રસ ઉભરાઇ નીકળે છે. આવા સ્તવાદિકનું નિરંતર મનન કરવાથી આત્મામાં તેવા ગુણોનો કેટલેક અંશે પણ પ્રાદુર્ભાવ થઇ શકે છે. તથા ગુણગ્રાહી થવાની જિજ્ઞાસા વૃદ્ધિ પામે છે.

કુમારપાળ પ્રબંધ, કથા પ્રબંધ, સાંબ પ્રદ્યુમ્ન પ્રબંધ, વિક્રમ પંચદંડ પ્રબંધ, વિગેરે પ્રબંધોમાં મુખ્યત્વે કરીને ઇતિહાસ સંબંધી એટલે કે જીવનચરિત્ર સંબંધી

વિશેષ હકીકતો આવે છે, પરંતુ રસ, અલંકાર, વર્ણનો વિગેરે સંક્ષિપ્ત અથવા ક્વચિત જ આવે છે, તથા અવાંતર કથાઓ આવતી નથી. આટલો જ ચરિત્રોમાં અને પ્રબંધોમાં તફાવત જણાય છે. પરંતુ ધર્મ સંબંધી હકીક્ત તો દરેકમાં આવે છે જ.

ધર્મોપદેશકુલક, રત્નત્રયકુલક, દાનકુલક, શીળકુલક, તપકુલક, ભાવકુલક, પુણ્યકુલક, પાપકુલક, અભવ્યકુલક, ગૌતમકુલક, સંવિજ્ઞ વિનયકુલક, સ્થાપનાકુલક વિગેરે ઘણાં કુલકો છે. પ્રાયે ઘણો ભાગ માગધી ગાથાબંધ છે. તેમાં ગાથાઓની સંખ્યા પ્રાયેઃ નાની સંખ્યામાં હોવાથી તે કુલક તરીકે ઓળખાય છે. તેઓનાં નામ અન્વર્થ હોવાથી તે તે વિષયોનું નિરૂપણ તે તે કુલકોમાં કર્યું છે. તેમાંના કેટલાકની ઉપર નાની મોટી ટીકાઓ વિગેરે થયેલ છે. આમાં ખાસ અસરકારક ઉપદેશનો જ વિષય હોવાથી તે કંઠે કરવા લાયક છે.

ઔપદેશિક ગ્રંથો જેવા કે ઉપદેશમાળા, ઉપદેશપ્રાસાદ, ઉપદેશ કંદલી, ઉપદેશ કલ્પદ્રુમ, ઉપદેશ ચિંતામણિ, ઉપદેશ તરંગિણી, ઉપદેશ પંચાશિકા, ઉપદેશામૃત (કુલક) ઉપદેશ રત્નમાળા, ઉપદેશ રત્નાકર, ઉપદેશ પદ, ઉપદેશ રસાયન, ઉપદેશ રહસ્ય, ઉપદેશશતક, ઉપદેશ સત્તરિ, ઉપદેશ સપ્તતિકા, ઉપદેશ સંગ્રહ, ઉપદેશસાર વિગેરે ઘણા છે. તેમનાં અન્વર્થ નામજ કહી આપે છે કે તેમાં મુખ્યત્વે કરીને ધર્મનો ઉપદેશ જ સમાયેલો છે. આ ગ્રંથોમાં ભિન્ન ભિન્ન પદ્ધતિથી ધર્મ સંબંધી ઉપદેશ આપેલો છે. તેમાં ઉપદેશમાળામાં મૂળ ગાથાઓ માગધી ભાષામાં છે, તેની ઉપર સંસ્કૃત ભાષામાં ઘણી ટીકાઓ છે તેમાં મૂળ ગાથામાં જ આપેલા દૃષ્ટાંતોને ટીકાકારે સંક્ષિપ્ત કે વિસ્તૃત કથારૂપે વર્ણવ્યા છે, કે જે વાંચવાથી આનંદની સાથે ઉપદેશકનો ઉપદેશ હૃદયમાં ઠસી જાય છે, ઉપદેશ પ્રાસાદમાં ચોવીશ સ્તંભો નામના વિભાગ પાડેલા છે, અને સર્વે સ્તંભોના મળીને ત્રણસોને એકસઠ પ્રબંધો (વ્યાખ્યાનો) આપેલા છે. દરેક પ્રબંધને પ્રારંભે એક બે કે તેથી વધારે ઉપદેશક શ્લોક આપવામાં આવ્યા છે. તે શ્લોકની વ્યાખ્યા કરી તેને દૃઢ કરવા માટે પ્રાયે મૂળ શ્લોકમાં જ આપેલાં દૃષ્ટાંતો સંક્ષેપથી કથા ભાગ આપી સમજાવ્યાં છે. કથા ભાગમાં પ્રસંગે પ્રસંગે નીતિ તથા ધર્મના શ્લોકો તથા સૂત્રનાં પ્રમાણો પણ મૂકવામાં આવ્યાં છે, આ ગ્રંથમાં સંખ્યાબંધ કથાઓ ઉપરાંત જૈનધર્મનાં ઘણાં તત્ત્વોનો સમાવેશ કરવામાં આવ્યો છે, તેમનાં માત્ર નામ જ નીચે પ્રમાણે છે.—

તીર્થંકરના ચોત્રીશ અતિશયો, સમકિતના ત્રણ ભેદ, તેને પામવાના બે હેતુ, સમકિતના સડસઠ બોલ, તે પૈકી પરમાર્થ સંસ્તવ વિગેરે ચાર શ્રદ્ધા, સમકિતનાં શુશ્રૂષાદિક ત્રણ લિંગ, દશ પ્રકારનો વિનય, વિનયની પ્રશંસા, અવિનયનું ફળ, સમકિતની મન, વચન અને કાયા રૂપ ત્રણ શુદ્ધિ, સમકિતના શંકા, આકાંક્ષા

વિગેરે પાંચ દૂષણ, પ્રવચન ધર્મકથક વિગેરે આઠ પ્રભાવકો, સ્થૈર્ય પ્રભાવના વિગેરે સમકિતનાં પાંચ ભૂષણો, શમ, સંવેગ વિગેરે સમકિતનાં પાંચ લક્ષણો, સમકિતની છ યતના, રાજાભિયોગ ગણાભિયોગ વિગેરે છ આગારો, સમકિતની છ ભાવના, સમકિતનાં છ સ્થાનો, સમકિતના રોચકાદિક ત્રણ પ્રકારો, સમકિતનું વસ્તુસ્વરૂપ, બુદ્ધિના આઠ ગુણો, શ્રાવકનાં બાર અણુવ્રતો પૈકી પહેલું અહિંસા નામનું અણુવ્રત, તેના પાંચ અતિચાર, શ્રાવકને સવા વિશ્વાસની દયા હોય તેની ગણતરી, અહિંસા ઉપર પુરાણાદિકનાં પ્રમાણો, હિંસાના ચાર પ્રકાર, સ્થાવરોમાં જીવત્વની સિદ્ધિ, હિંસાના બીજા અનુબંધાદિક ત્રણ પ્રકાર, હિંસા તથા અહિંસાનું ફળ, બીજું અણુવ્રત મૃષાવાદ ત્યાગ, અસત્યના ચાર પ્રકાર, બીજા વ્રતના પાંચ અતિચાર, સત્યની પ્રશંસા, અચૌર્ય નામનું ત્રીજું અણુવ્રત, તેના પાંચ અતિચાર, ત્રીજું વ્રત ન પાળવાથી થતી હાની, ત્રીજા વ્રતની પ્રશંસા, બ્રહ્મચર્ય નામના ચોથા અણુવ્રતનું સ્વરૂપ, તેની પ્રશંસા, ભાવ બ્રહ્મચર્ય તથા ભાવ તપનું સ્વરૂપ, ચોથા અણુવ્રતના પાંચ અતિચાર, બ્રહ્મચર્ય પાળવાથી થતા ગુણ, ચોથાવ્રતનો ભંગ થવાથી બીજાં વ્રતોનો પણ ભંગ, પરિગ્રહ પ્રમાણ નામના પાંચમા અણુવ્રતનું સ્વરૂપ, પરિગ્રહનું પ્રમાણ કરવાની આવશ્યકતા, તે ન કરવાથી થતા દોષ, પાંચમા વ્રતના પાંચ અતિચાર, છઠું દિગ્વિરતિ નામનું અણુવ્રત, તેના પાંચ અતિચાર, છઠ્ઠું વ્રત પાળવાથી તથા ન પાળવાથી થતા ફાયદા ને નુકસાન, સાતમા ભોગોપભોગ નામના અણુવ્રતનું સ્વરૂપ, નાગરવેલના પાનનું અગ્રાહ્યપણું, બાવીશ અભક્ષ્યોનું સ્વરૂપ, મધનું પુરાણોમાં પણ ત્યાજ્યપણું, બીજાં અભક્ષ્યોનું વર્ણન, રાત્રિભોજન વિરમણ, તે પર અન્ય શાસ્ત્રોની પણ સંમતિ, દ્વિદળ સંબંધી વિશેષ વ્યાખ્યા, ચલિત રસ સંબંધી વિશેષ વ્યાખ્યા, વાસી અન્નના ત્યાગ વિષે, અજાણ્યા ફળની અભક્ષ્યતા, અનંતકાયનું સ્વરૂપ, કંદમૂળની ત્યાજ્યતા, વનસ્પતિનું પ્રમાણ, સાતમા વ્રતના વીશ અતિચાર, વીશે અતિચારોનો વિસ્તાર, આઠમા અનર્થ દંડ પરિહારનું સ્વરૂપ, તેના ચાર ભેદ, આર્ત્ત રૌદ્ર ધ્યાનનું સ્વરૂપ, નિદ્રાઓના પ્રકાર, પ્રમાદાચરણ વિષે, આઠમા વ્રતના પાંચ અતિચારો, સામાયિક નામના નવમા વ્રતનું સ્વરૂપ, તેના પાંચ અતિચાર, સામાયિકના ત્રણ પ્રકાર, ધર્મધ્યાનના ચાર ભેદ, સામાયિકના બત્રીશ દોષ, પાંચ પ્રકારનાં અનુષ્ઠાન, સામાયિકનાં ઉપકરણો, સામાયિકનું ફળ, દેશાવકાસિક નામના દશમા અણુવ્રત વિષે, તેના પાંચ અતિચાર, અઠ્ઠાઇનું સ્વરૂપ, પર્યુષણાની અઠ્ઠાઇ આરાધવાનાં પાચ સાધનો, વાર્ષિક અગ્યાર કૃત્યો, ત્રણ પ્રકારની યાત્રા, અગ્યારમું પૌષધવ્રત, પ્રતિક્રમણનું સ્વરૂપ, તેના આઠ પર્યાયો, આઠે પર્યાયનો વિસ્તાર, ઇર્યાવહીનું સ્વરૂપ, પૌષધ વ્રતના પાંચ અતિચાર, પૌષધવ્રતનું ફળ, અતિથિસંવિભાગ નામના બારમા વ્રતનું

સ્વરૂપ, તેના પાંચ અતિચાર, ગૃહસ્થનો ભોજન વિધિ, સાધર્મી વાત્સલ્ય, દાનના પ્રકાર, દેની અનુમોદના, તેનું ફળ, તીર્થયાત્રાનું ફળ, શત્રુંજય ઉપર થયેલા સોળ ઉદ્ધારનું વર્ણન, તેની યાત્રાનું ફળ, સ્નાન વિધિ, જિનપૂજા વિધિ, ચૈત્ય કરાવવા વિષે, મૂર્ત્તિનું સ્વરૂપ, ચૈત્યનો અર્થ, દેવદ્રવ્ય ભક્ષણના દોષ, ઉત્સર્ગ અપવાદનું સ્વરૂપ, નવકાર ગણવાનો સમય તથા તેનું ફળ, તીર્થંકર નામકર્મ બાંધવાના હેતુઓ, તીર્થંકરના પાંચ કલ્યાણકનું વર્ણન, સમવસરણવર્ણન, દેશનાનું વર્ણન, એકેંદ્રિયાદિકનું વર્ણન, ત્રસ જીવોને લગતા આશ્રવો, આવી ચોવીશીના ત્રેસઠ શલાકા પુરૂષોનું વર્ણન, ઉત્સર્પિણીના ચોથા, પાંચમા અને છઠ્ઠા આરાનું વર્ણન, ચાલુ પાંચમા આરાના ભાવ, કલ્કીનું વર્ણન, દીપોત્સવીનું વર્ણન, બેસતે વર્ષે જુહાર કરવાનું કારણ, જ્ઞાન ભણવા વિષે, જ્ઞાનપંચમીની આરાધના, દાન, શીળ, તપ અને ભાવ વિષે, સત્સંગ, અંતરંગ છ શત્રુ, છ લેશ્યાનું સ્વરૂપ, સહસા કાર્ય ન કરવા વિષે, કાર્યની સિદ્ધિમાં કાળાદિક પાંચ કારણો, કાળાદિક કરતાં કર્મનું બળવાનપણું, દ્રવ્યવંદન અને ભાવવંદન વિષે, જ્ઞાન અને વિજ્ઞાન યુક્ત ક્રિયા, નવ નિયાણાનું સ્વરૂપ, તેની વ્યાખ્યા, ઉપદેશને અયોગ્ય ચાર પ્રકારના મનુષ્યો, નિહ્નવોની ઉત્પત્તિ, ક્રોધાદિક કષાયનું સ્વરૂપ, ક્રોધ પિંડાદિકનું સ્વરૂપ, દશમા અદ્ધા પચ્ચખ્ખાણના ભેદ, ઉત્તરગુણ પ્રત્યાખ્યાનના દશ ભેદ, વ્રત ખંડનનું ફળ, મૌન એકાદશીની કથા તથા તેનું માહાત્મ્ય, મિથ્યાત્વના ભેદ, ભગવંતની આશાતનાનું માઠું ફળ, જ્ઞાનાચાર દર્શનાચારનું ભેદો સહિત વર્ણન, આઠ પ્રકારના પ્રભાવકો, પાંચ સમિતિ, ત્રણ ગુપ્તિ, તપાચારમાં તપસ્યાદિકનું વર્ણન, તેના બાર પ્રકારો, પાંચ મહાવ્રતો, તેની પચીશ ભાવના, વીર્યાચાર વિષે, તેમાં પૂર્ણતા, મગ્નતા, સ્થિરતા, શમતા વિગેરે વિષે, પાંચ ઇંદ્રિયોનું સ્વરૂપ, જ્ઞાનયુક્ત ક્રિયાનું ફળ, તૃપ્ત અતૃપ્ત, લેપ્ય અલેપ્ય વિષે, નિઃસ્પૃહતા, વિદ્યા અવિદ્યા, વિવેક ગુણ, માધ્યસ્થ્ય ગુણ, નિર્ભયતા, આત્મપ્રશંસા ત્યાગ, તત્ત્વદૃષ્ટિ, સંપત્તિની ક્ષણભંગુરતા, કર્મની વિચિત્રતા, ચિત્તની એકાગ્રતા, લોકસંજ્ઞાનો ત્યાગ, ચક્ષુસ્વરૂપ, મૂર્છા, ત્યાગ, અનુભવ, યત્ન, દ્રવ્યપૂજા, ભાવપૂજા, ધ્યાન, દુર્ધ્યાન, તપ, સાત નય, મનુષ્ય ભવની દુર્લભતા, ઉત્પાતિકી બુદ્ધિ, બે પ્રકારનાં આયુષ્ય, અશરણ ભાવના, સંસારની અસારતા, હુતાશિની પર્વ, ચાર પ્રત્યેક બુદ્ધ, તીર્થ સ્તવના, ધર્મ માહાત્મ્ય, ગુરૂપટ્ટાવળી, હીરવિજયજીસૂરિનું સંક્ષિપ્ત ચરિત્ર, વિગેરે વિગેરે ઘણા વિષયોનો આ ગ્રંથમાં સમાવેશ છે. આ વિષયો સ્થૂળપણે દેખાડેલા છે. તેમના અવાંતર ભેદોની ગણના કરવાથી લેખ પુસ્તકના રૂપમાં થઇ જાય માટે સંક્ષિપ્ત લખ્યું છે.

વાચક જૈન વર્ગ જાણી શકશે કે આવો એક જ ગ્રંથ સંપૂર્ણ સમજાયો હોય તો ધર્મ સંબંધી બહોળું જ્ઞાન પ્રાપ્ત કર્યું કહેવાય. તે વાત અમુક અપેક્ષાએ ઠીક છે. કારણકે આ સિવાય ઘણી વધારે સંખ્યાવાળી બાબતો જૈનધર્મમાં સ-

માયેલી છે. આ રીતે બીજા ઔપદેશિક ગ્રંથોમાં પણ ભિન્ન ભિન્ન વિષયો એટલા બધા છે કે લેખક તેમનાં નામ પણ લખી શકે નહીં. લેખકને જૈનધર્મના વિષયોના પ્રમાણમાં એક બિંદુ જેટલો પણ અનુભવ નથી. છતાં છે તેટલો પણ અનુભવ પ્રકાશમાં મૂકી શકાય તેમ નથી.

છેલ્લો ભાગ પ્રશ્ન શતી, પ્રશ્નાવળી, (મહુગુસ્રી) વિગેરે ચમત્કારિક શ્લોકબદ્ધ ગ્રંથો કે જે લેખકની દૃષ્ટિએ ટુંક મુદતથી જ આવ્યા છે. તે પહેલાં લેખકની ધારણા એવી હતી કે સમસ્યા પૂર્ત્તિ, દુર્ઘટ કાવ્ય પ્રબંધાદિકવાળાં કાવ્ય, એકાક્ષરાદિક, કાવ્ય, વિગેરે કવિતાના ચમત્કારિક ગ્રંથો જૈનાચાર્યોએ કરેલા જ નથી. પરંતુ મ્હેસાણા યશોવિજયજી પાઠશાળાની પ્રેરણાથી તેવા ગ્રંથો જોવા, વાંચવા તથા છપાવવા માટે પ્રેસ કોપી કરવાનો પ્રસંગ મળતાં જે ગ્રંથો જોવામાં આવ્યા છે. તે જોતાં આ લેખક તો આશ્ચર્યજ પામ્યો છે. ઉક્ત પાઠશાળા તરફથી છપાયેલા સ્તોત્રરત્નાકર ભાગમાં શ્રી મહાવીર, નેમિનાથ તથા સરસ્વતીની સ્તુતિ ગર્ભિત ભક્તામરસ્તોત્રના ચતુર્થપાદની સમસ્યાપૂર્ત્તિ કરેલી છે. પ્રશ્નશતી, પ્રશ્નાવળી, વિચિત્ર કાવ્ય (રારારે) વરસંવર, સહસામહુસા, વિગેરે ગ્રંથો કે જે હજુ છપાય છે. તે પૈકી પ્રશ્ન શતીમાં કુલ ૧૬૦ શ્લોકો છે, દરેક શ્લોકમાં પાંચ સાત કે ન્યૂનાધિક પ્રશ્નો છે. તેમનો જવાબ શ્લોકથી બહાર છે. અને તે ટુંકા અક્ષરોમાં છે. તે જવાબો શૃંખલા જાતિ, હારપ્રબંધ વિગેરે પ્રબંધોથી આપવામાં આવ્યા છે. પ્રશ્નાવલીમાં પણ મૂળ શ્લોકમાં માત્ર પ્રશ્નો જ પૂછયા છે અને તેના જવાબ તરિકે " ક કા કિ કી કુ કૂ કે કૈ કો કૌ કં કઃ " એ રીતે અમુક અમુક વ્યંજનની બારાક્ષરીઓ જ આપી છે. તેમાંથી પ્રશ્નોના જવાબો ઘણીજ ખુબીથી કાઢવામાં આવ્યાછે. આ રીતે કુલ બાર શ્લોક પ્રશ્નના છે, અને તેના જવાબમાં જુદા જુદા બાર વ્યંજનોની બારાક્ષરીજ છે, " રારારે " વિગેરે વિચિત્ર કાવ્યોમાં એકાક્ષરી વિગેરે શ્લોકો છે. આ સર્વે ગ્રંથો ટીકા કે અવચૂરિ સહિત છે. જેથી તેનો અર્થ કરતાં કાંઇક સુગમ પડે છે.

તે ઉપરાંત નહિ છપાયેલી કલ્યાણમંદીરના ચતુર્થપાદની સમસ્યા પૂર્ત્તિ કે જેમાં ઘણી ખુબી વાપરી છે. તેમાં પ્રસંગોપાત કથા પણ સંક્ષેપ આપી છે. તે ગ્રંથ કુલ શ્લોક ૨૨૦૦ ના પ્રમાણ જેટલો છે. આ સર્વ ચમત્કાર કરતાં વધારે આશ્ચર્યકારક એ છે જે અષ્ટલક્ષીની એક પ્રત જોવામાં આવી છે કે જેની અંદર " राजानो ददते सौख्यं " આ એક પાદના જ આઠ લાખ અર્થ વ્યાકરણ અને કોષાદિકના પ્રમાણથી કરેલા છે. જેમાં સ્વમત પરમતના સર્વ દેવોની સ્તુતિ વિગેરેનો સમાવેશ કરેલો છે. તેનું પ્રમાણ પંદર સો શ્લોક જેટલું છે. તેના કર્ત્તા ખરતર ગચ્છના સમયસુંદર ગણિએ અર્થની ખુબી આશ્ચર્યકારક જ કરી છે. આ સર્વે ચમત્કારિક ગ્રંથો વાંચવાથી વાચકવર્ગને કોઇ અપૂર્વ વિદ્યાવિલાસનો આનંદ મળે તેવા છે. આ

વિગેરે નહીં છપાયેલા ગ્રંથોને છપાવવાની જરૂરીયાત સૌ કોઈને લાગે તેવી છે કારણ કે છાપવાથી ગ્રંથોની સવડ થવા ઉપરાંત તેની શુદ્ધતા તથા પદચ્છેદાદિકને લીધે તે ગ્રંથ લખાવતાં આઠ આના જેટલી સુગમતા થઈ જાય છે. પરંતુ તે બાબતમાં મનની ધારણા પ્રમાણે કાંઈક સૂચના આપવી દુરસ્ત ધારૂં છું કે—

ગ્રંથો છપાવતી વખતે ઘણી કાળજી રાખવાની જરૂર છે. જો કે હાલમાં ગ્રંથો છપાવવા માટે મોટી મોટી સારી સંસ્થાઓ લ્હી છે, અને તેની સંખ્યામાં વૃદ્ધિ પણ થતી જાય છે. તથા તેમાં ખાસ વેપારને જ માટે કામ કરનારા એક બે ગૃહસ્થો સિવાય અન્ય સંસ્થાઓ તો કેવળ જ્ઞાનના ઉદ્ધારને માટે જ દ્રવ્ય, સમય તથા મહેનતનો ભોગ જ આપનારી છે, અને તેથી કરીને તે તે સંસ્થાઓના કાર્યવાહકો પોતાની શકિત કરતાં પણ વધારે કાળજી વાપરે છે, અને વણિક જાતિને સુલભ એવા દ્રવ્ય સંકોચને જરા પણ સ્થાન આપતા નથી. પરંતુ જે જે વિષયના ગ્રંથો છપાવવાનું કામ પોતે કરે છે, તે તે વિષયોના પોતે સારા માહિતગાર હોવા જોઇએ, અને જે જે વિદ્વાનો પાસેથી કામ લેવામાં આવે, તે તે વિદ્વાનોએ મૂળ પ્રતના પાઠમાં કાંઇપણ ફેરફાર કર્યો છે કે નહીં ? તેનું ખાસ લક્ષ રાખવું જોઇએ. અને જો કોઇ વખત ફેરફાર કરવાની જરૂર લાગે તો બે ત્રણ પ્રત મળ્યા છતાં પણ તે મૂળ પ્રતનો પાઠ અંદર અથવા ફુટનોટમાં જણાવવો જ જોઈએ. ઉંચામાં ઉંચી વિદુષી સંસ્થાઓમાં પણ કવચિત્ મૂળ પ્રતનો પાઠ સંગત છતાં અસંગત લાગવાથી પ્રત્યંતરને પૂછ્યા સિવાય ફેરફાર કરી પ્રત્યુત અસંગત કરેલો દષ્ટિપથમાં આવે છે. વ્યાકરણ કાવ્યાદિક જેવા દષ્ટ પરિમિત વિષયમાં પણ સર્વજ્ઞપણું કહેવરાવવાની જ ઇચ્છાથી આવું પરિણામ કલ્પી શકાય છે. માટે છપાવવાના દરેક અંગમાં પૂર્ણ કાળજી રાખવી જોઇએ. આ કાળજીમાં વિદ્વાન અને કાર્યવાહક ઉપરાંત તે તે વિષયના વિદ્વાન મુનિરાજની તો સૌથી પ્રથમ જ આવશ્યકતા છે. અને તેની પ્રેસકોપી તથા છેલ્લું પ્રુફ જોવા માટે તેવા મુનિરાજની અવશ્ય જરૂર છે. આ રીતની કાળજીથી ગ્રંથ છપાયા પછી પણ જે જે ઠેકાણે પ્રથમ તે ગ્રંથ વાચના ભણાવવામાં આવે તે તે ઠેકાણે તેની અસલ એક બે પ્રતો તથા જે પરથી કામ કર્યું હોય તે પ્રત તેને પૂરી પાડવામાં આવે, અને વાંચનાર પૂર્ણ લક્ષથી તેની શુદ્ધિપત્રિકા કરી કાર્યવાહકને મોકલે તો તે ગ્રંથ પરમ શુદ્ધ થઈ શકે, નહીં તો છાપેલા પુસ્તકોમાં રહી ગયેલી ભૂલો એમની એમ રહી જાય છે, અથવા વાંચનાર પોતાની બુદ્ધિ અને જ્ઞાનના પ્રમાણમાં જેમતેમ સુધારી નાંખે છે. તેથી ગ્રંથકર્તાના અસલ પાઠનો લોપ થાય છે. જ્યાં જ્ઞાતા કાર્યવાહકની અને વિદ્વાન મુનિરાજની મદદથી અન્ય વિદ્વાનો કાર્ય કરતા હશે, ત્યાં આવી ભૂલો આવવા સંભવ રહેતો નથી.

આ ઉપરાંત એક નવીન વિચાર પણ જણાવવાની ઇચ્છા થાય છે કે લખેલા ગ્રંથોને માટે કાંઇ કહી શકાતું નથી, પરંતુ છાપેલા ગ્રંથો મુનિરાજોના ચાતુર્માસ્યા-

દિક થઈ શકે તેવા દરેક ગામોમાં મુનિરાજોની ગામના પ્રમાણુમાં સંભવિત સંખ્યાનુસાર તથા અભ્યાસના સંભવાનુસાર એક એક બબે કે તેથી વધારે સંખ્યાવાળા દરેક જાતના ગ્રંથો તે તે ગામોના પુસ્તકાલય તરીકે રાખવામાં આવે, તેમાં ભેટના ગ્રંથો વગર કીંમતે અને વેચાણુના ગ્રંથો તે.તે ગામના ખરચે અથવા તેવી કોઇ નવીન (ભાવી) સંસ્થાની મદદે રાખવામાં આવે, અને પછી જે મુનિરાજો ત્યાં રહે, તેઓ પુસ્તકો વાંચે ભણે, અને તે તે ગ્રંથો સંબંધી શુદ્ધાશુદ્ધ વિગેરે માટે જે જે સૂચના કરે, તે. તે ગ્રંથ છપાવનાર કાર્યવાહકોના જાણુવામાં આવે, તો કોઇપણુ મુનિરાજને કે ગૃહસ્થીને ગ્રંથોની અગવડતા રહે નહીં. તેમજ મુનિરાજોને તે સંબંધી ખટપટ એટલે હેરવણી ફેરવણીની ઉપાધિ કરવી પડે નહીં, અને જ્યાં જ્યાં જાય ત્યાં ત્યાં પોતાને ખપ કરતાં પણુ વધારે ગ્રંથોની સવડતા મળેલી જોઇ શકે.

હું ધારૂં છું કે આ વિચાર નવીન છતાં કેટલેક દરજ્જે વાચક વર્ગને સારો જણુાય તેવો છે. માત્ર તેમાં કેટલીક અગવડતા (મુશ્કેલી) ધારી શકાશે, પરંતુ સૂક્ષ્મ વિચાર કરવાથી મહાન્ કાર્યો કરનારને આવા કાર્યમાં મુશ્કેલી લાગે એ સંભવતું નથી. આવા મારા વિચારને માટે કેટલાક મુનિરાજ તથા કાર્યવાહક સંમત થયા છે, અને તેમના તરફથી ગ્રંથો છપાયે આ વિચારને સ્થાન આપવાનું પહેલું પગલું ભરવા ઇચ્છા પણુ રાખી છે.

" જૈન સાહિત્ય કથા " ના વિષયમાં દાખલા સહિત કેટલાંક સ્થળો પ્રદર્શિત કરવા લેખકની શરૂઆતમાં ઇચ્છા હતી. પરંતુ લેખ મોટો થઇ જવાના ભયથી માત્ર ગ્રંથોની અને તેના અમુક વિષયોની જ ભલામણુ કરવી પડી છે. કારણુ કે કથા વિભાગમાં કાવ્યાદિકનો સમાસ હોવાથી અને તેને અંગે અનેક વિષયોની અપેક્ષા હોવાથી કેવળ કથા ઉપરાંત ઘણા વિષયો લેવાની જરૂરીયાત જણુાઇ છે, તેથી શું લખવું અને શું ન લખવું ? એ વિષે કિંકર્ત્તવ્યતામાં મૂઢ થયેલા લેખકે લેખ વધી જવાથી રસ અલંકાર જેવા લગતા વિષયો પણુ મૂકી જ દીધા છે, અને લીધેલા વિષયો પણુ બનતા પ્રયત્ને " વિગેરે " શબ્દથી ભલામણુ કરી સંક્ષિપ્ત કર્યા છે. આશા છે કે વાચક વર્ગ દૂધમાંથી ઘૃતની જેમ સાર ગ્રહણુ કરી લેખકનો પ્રયાસ સફળ કરશે.

इति शम् ! तथास्तु !





ॐ नमः सिद्धेभ्यः

ગુજરાતી જૈનોની સાહિત્ય સેવા.

(લેખક પોપટલાલ કેવળદાસ શાહ રાજકોટ.)

સાહિત્યની સેવા બજાવવા માટે આજે જે સંમેલન કરવાનું કાર્ય બજાવવામાં આવ્યું છે, તે સ્તુતિપાત્ર છે. એમ પ્રારંભમાજ મારે જણાવવું જોઇએ. જાતીય સાહિત્યની ઉન્નતિ કર્યા વગર જાતિની ઉન્નતિ થવાની નથી. જે વખતે જૈનોના સમર્થ વિદ્વાનો જાતીય સાહિત્યની ઉન્નતિ કરી રહ્યા હતા ને વખતની જૈનોની જાહોજલાલીનો ખ્યાલ કરો તો એ વાત સ્પષ્ટ સમજાશે. તે વખતનો પુસ્તકસંગ્રહ ત્યાર પછીના કાળમાં માત્ર ઉધઇને જ ખાવાવી દેવામાં આવ્યો છે. એ પણ કાળની બલિહારી જ છે. કલિકાળ સર્વજ્ઞ પદધારક હેમાચાર્ય જેવા સમર્થ વિદ્વાને સાડાત્રણ કરોડ શ્લોક લખી સાહિત્યની કેટલી બધી સેવા બજાવી છે ! હિંદના કોઇપણ ભાગ કરતાં હિંસાથી વધારે દૂર રહેલો ગુજરાત પ્રાંત હજી પણ એવા સમર્થ ધર્માચાર્યની –સર્વ જીવ રક્ષાની–બોધક અસરથી–જીવદયામાં અગ્રગણ્ય ગણાય છે. એ બધો પ્રતાપ ધાર્મિક સાહિત્યનો છે. જુદા જુદા દેશોનો ઇતિહાસ તપાસો. જાપાન, અમેરિકા, યૂરોપ, વગેરે દેશો તરફ નજર કરો તો જણાશે કે એ સઘળા દેશો જાતીય સાહિત્યની અભિવૃદ્ધિથી જ આગળ વધ્યા છે.

કેટલી બધી ભાષામાં બાઇબલના તરજુમા થયા છે, જુઓ. કેટલાં બધાં નાનાં મોટાં પુસ્તકો ખ્રિસ્તી મીશનરીઓએ બીજી કોમોને પોતાનો ધર્મ સમજાવવા પ્રગટ કર્યા છે. પોતાનું જાતીય સાહિત્ય ફેલાવવા માટે કેટલી ભાષાનો તેઓ અભ્યાસ કરે છે. તે જુઓ. પોતે જેને જ્ઞાન માને છે, તેનો અને સામાન્ય ભણતરનો ફેલાવો કરવામાં તેઓ કેટલું બધું નાણું ખરચે છે અને કેવા કેવા પ્રબંધો રચે છે, તે જુઓ. એ બધું જોવા જાણવાથી જણાશે કે જાતીય સાહિત્યની અભિવૃદ્ધિ અર્થે સતત ઉદ્યોગ કરવાની જરૂર જ છે.

પ્રભુ કૃપાથી જેઓ ધનવાન–લક્ષ્મીવાન બન્યા છે, તેઓ લક્ષ્મીના રક્ષક માત્ર બની સાહિત્યનો યોગ્ય આદર કરતા નથી એ વાત માત્ર જણાવવાનું અસ્થાને નહિ ગણાય પોતાનાં બાળકોને વિશ્વવિદ્યાલયની ઉપાધિઓ મેળવવાની સગવડ

કરી દેવામાં તેઓ કેટલું બધું દ્રવ્ય ખરચે છે ? પણ જાતીય સાહિત્યનો અભ્યાસ કરવા કરાવવામાં કે એ સાહિત્યને ઉત્તેજન આપવામાં તેઓ કેમ-પછાત રહે છે તે સમજાતું નથી. સાહિત્યમાં તેમને કશો સ્વાદ લાગતો નથી અને તે શુષ્ક કે નકામી બાબત તેમને મન ગણાય છે. માગી માગીને વાંચનારો વર્ગ જ્યારે પશ્ચિમના દેશોમાં નથી ત્યારે તેવો વર્ગ આપણા દેશમાં છે અને તે માત્ર સાધારણ માણુસો નહિ, પણ લક્ષ્મીના પુત્રો પણ થોડા ઘણાખરા તેઓ અનેક બીજી બાબતોમાં નાણાં ખરચે છે પણ સર્વ સામાન્ય જાતીય સાહિત્યની વૃદ્ધિ માટે યોગ્ય શ્રમ લેતાં નથી.

ખ્રિસ્તિ ધર્મના મુખ્ય ત્રણ અને તેના વળી કેટલાક શાખા મતો હોવા છતાં ખ્રિસ્તિ ધર્મનું સામાન્ય સાહિત્ય ફેલાવવાને તેઓ સર્વે કેવો સરસ પ્રયત્ન કરી રહ્યા છે તે તરફ નજર કરો. તેઓની પરસ્પરની સહિષ્ણુતા-નિહાળો. શું તેઓમાં એવા વિદ્વાનો નથી પડયા કે જેઓ એક બીજાના ખંડન મંડન સવિસ્તાર અનેક ગ્રંથો લખી શકે અને ફેલાવી શકે? દુનીઆના સર્વ ભાગમાં ફરીને તેઓ પોતાનું જાતીય સાહિત્ય ફેલાવવા તરફ કેવી મહેનત લે છે, તે જુઓ. અને તે ઉપરથી આપને જૈન ધર્મને છિન્ન ભિન્ન થઇ જતો અટકાવી સર્વ સામાન્ય ધાર્મિક સાહિત્યની જરૂર જણાતી હોય તો ખંડન મંડનના સાહિત્યની વૃદ્ધિથી અટકવાનો વિરમવાનો હવે ખાસ ઠરાવ કરો.

ગમે તે શાખામતમાંના ખ્રિસ્તિ છોકરાઓને કે છોડીઓને યૂરોપ અમેરિકામાં તેમના સામાન્ય ધર્મની કેળવણી કેવી રીતે આપવામાં આવે છે, તેમની તપાસ કરો. અને કોઇપણ રીતે દેશપરદેશમાં જાતીય સાહિત્ય (આજના જમાનાને રૂચિકર થઇ પડે તેવી ઢબે તૈયાર કરી, ફેલાવવાનો અબળ પ્રયત્ન કરો. બૌદ્ધધર્મનું સાહિત્ય દેશ પરદેશમાં કેટલું બધું પ્રસિદ્ધિને પામ્યું છે, તે તપાસો. શું તેમાં શાખામતો નથી ? ભાઇઓ યુદ્ધનાં-ખંડન મંડનનાં સાહિત્યો કરતાં હવે જૈન સમાજને કેવા સાહિત્યની જરૂર છે, તેનો વિચાર કરો, ધોરણો બાંધો, યોજનાઓ ઘડો અને એ યોજનાઓ અમલમાં મૂકો. હાથે હાથ મેળવી કામ કરો. તકરારો તથા ટંટાફિસાદોને તિલાંજલિ આપો. લડાઇઓ બંધ પાડવા લવાદો નીમો. હવે તો માત્ર ધર્મવૃદ્ધિ માટે દેશ પરદેશમાં અને અન્ય કોમમાં કામ આવે એવાં સાહિત્યની વૃદ્ધિ કરો. અમેરિકાનો ધનપતિ એન્ડ્રુ કારનેગી હેગમાંના શાંતિ મંદિરને ઉત્તેજન આપવા મહેનત કરે અને જગતમાંથી કેમ યુદ્ધો ઓછાં થાય તથા મનુષ્યનું લોહી ન રેડાય એ વાતની ચિંતા રાખી શાંતિ પ્રસરાવવા શ્રમ લે ત્યારે જગતના નાના મોટા સર્વે જીવને શાંતિનું સામ્રાજ્ય આપનાર-અભયદાન દેનાર જૈનવર્ગ તે સંબંધીના સાહિત્યનો ફેલાવો કરવામાં કંઇ શ્રમ ન લે તો પછી આવા સાહિત્ય સંમેલનનો વ્યવહારૂ લાભ શો ? સંમેલનોથી શું સર્યું ?

સાંપ્રત સમયમાં કેવા સાહિત્યની જરૂર છે તે ટુંકામાં બતાવી સાહિત્ય સેવા થીજ આપણી ઉન્નતિ કરી શકાશે. એટલું ટુંકામાં જણાવી જૈન સાહિત્ય તથા સર્વ દેશી સાહિત્યની અભિવૃદ્ધિ અર્થે ગુજરાતે શું શું કર્યું છે તે ટુંકામાં જણાવીશ.

સોરાષ્ટ્ર દેશમાં આવેલા વલ્લભીનગર કે વળામાં જૈન શાસ્ત્રો પુસ્તકારૂઢ કરવાનો શ્રી દેવર્દ્ધિક્ષમાશ્રમણે લગભગ તેર વર્ષ સુધી યત્ન કરીને જગત્ જીવોના કલ્યાણ માટે તીર્થંકર દેવની વાણી જાળવી રાખી એવા પરમ પવિત્ર અને પરમાવશ્યક કર્તવ્યનો ચિરસ્થાયી યશ ગુજરાતને અપાવ્યો છે, તે આપણે કદી પણ વિસરી જવાના નથી.

ત્યારપછી શીલાંગાચાર્ય જેવા સમર્થ સાક્ષરે આચારાંગાદિ આગમો ઉપર ટીકાઓ લખી તેઓનો વિનય અને પ્રભુપરાયણ વૃત્તિ નીચેના શ્લોક પરથી જણાઇ આવશે.

आचार शास्त्रं सुविनिश्चितं जगत् जगादवीरो जगते हितायय:
तथैव किंचिद्गदत: सत्त्वैवमे पुनातु धिमान् विनयार्पिता गिर:

અગિયારમા સૈકામાં થયેલા અભયદેવસૂરિએ પણ કેટલાંક આગમો ઉપર ટીકા લખી તેમના વખતમાં (સં. ૧૧૧૧ માં) અપભ્રંશ (ગુજરાતી કેવી હતી તે જણાવવા આ નીચે એ પ્રાકૃતની એક લીટી લખી છે.

एम पसीय सुपासनाइ थंभणपुर ठ्यि

(એમ પ્રસન્ન થાઓ સુપાર્શ્વનાથ સ્તંભનપુર સ્થિત)

હાલ આપણે જેને ગુજરાત કહીએ છીએ તેનો વિસ્તાર અસલ આજના જેટલો નથી. ડૉ. દેવદત્ત ભાંડારકર કહે છે કે અસલ ગુજરાતની રાજધાની કનોજ હતું. આ બહુ જુના વખતની વાત છે. પરંતુ એમ જણાય છે કે પછી ધીમે ધીમે ગુર્જર પ્રજા નીચલા પ્રદેશમાં ઉતરતી ગઈ ને ઉત્તરગુજરાતનો વિસ્તાર ઘટી દક્ષિણ પશ્ચિમમાં વધવા લાગ્યો. બીઆવર વગેરે સ્થળમાં આજે પણ હજી ભરવાડણને ગુર્જરી કહી બોલાવવામાં આવે છે. જેને આપણે હાલ ગુજરાત કહીએ છીએ. તેનો મહીની નીચેના ભાગનો ભાગ ગુજરાત તરીકે (અણહિલવાડ પાટણમાં ગુજરાતની રાજધાની થયા છતાં) ઘણા વખત સુધી ગણાયો નહોતો. સોલંકી રાજાના વખતમાં મહી ને નર્મદા વચ્ચેનો મુલક લાટદેશ ગણાતો હતો. આ બધું જણાવવાનો હેતુ એ છે કે ગુજરાતી ભાષાની ઉત્પત્તિથી આજ સુધી ગુજરાતીઓની સાહિત્ય સેવાની આત્ર જે રૂપરેખા આ નાના નિબંધમાં દોરવાની છે, ને જેમાં રાસા વગેરેની રચનાની વાત આવવાની છે તેનો સંબંધ સ્પષ્ટ જાણવામાં આવે. ગુજરાતી ભાષામાં લખાયેલા રાસા તથા બીજાં લખાણો જૈન સાધુઓને જુદે જુદે સ્થળે ચાતુર્માસાદિ કરી એ ચાતુર્માસમાં એ રાસા ગુજરાતી ભાષામાં રચ્યા છે. બિકાનેર, સોજત, પાલી,

મારવાડ, મેડતા, સાદડી, નાગોર, પાલણપુર, અણહીલપુર, ખંભાત, અમદાવાદ, વગેરે સ્થળે રહી રાસાઓ વગેરે રચ્યા છે. પ્રાકૃતમાંથી અપ્રભ્રંશ ને અપભ્રંશમાંથી ગુજરાતી ભાષા થઇ છે. ધીમે ધીમે વિકાર પામતાં એ ભાષાનું આજનું સ્વરૂપ બંધાયું છે.

એક વિદ્વાનના કહેવા પ્રમાણે ૧૫ મા સૈકા પહેલાંની ગુજરાતી ભાષાને પ્રાચીન ગુજરાતી, ત્યારપછી મધ્ય કાલીન ગુજરાતી અને પછી હાલની ગુજરાતી એમ ભાગ પડે છે. હાલની ગુજરાતીમાં જૈન મુનિરાજો તથા શ્રાવક ભાઇઓ ગદ્ય પદ્ય લખે છે તેની વિગતમાં ઉતરવાનું (હમણાના જૈન કલહના માન અને મોટાઇની મારા મારીના કાળમાં) માંડી વાળવાનું યોગ્ય ધાર્યું છે. તો પણ અહીં ટુંકામાં જણાવીશ કે બીજાઓની પેઠે આપણે જૈનો પણ ગુજરાતી સાહિત્ય સેવામાં કંઇને કંઇ ફાળો આપ્યા કરીયે છીએ. મધ્યકાલીન ગુજરાતીમાં પુષ્કળ રાસાઓ જૈનોએ રચ્યાં છે. અને સમર્થ સાધુઓ એ કાળમાં સાહિત્ય સેવા બજાવી ગયા છે.

પ્રાચીન ગુજરાતીના સમયમાં સાહિત્યની સેવા બજાવનાર પંડિત હેમાચાર્યનું નામ સૌથી પ્રથમ મુકાયું છે. હિંદી ભાષાનો આદિ કવિ ગણાતો ચંદ, ઇગ્લાંડનો આદિ કવિ ચોસર અને ગુજરાતીનો આદિ કવિ નરસિંહ મહેતો એ બધાની પહેલાં આ સમર્થ પંડિત થયો છે, તેમના વખતની ગુજરાતીનો નમુનો જોઇએ.

ઢોલ્લા મઇં તુંઇં વારિઉં, મા કુરૂ દીહમાણું
નિદ્દઇ ગમઇ રત્તડી, દડવડ હોઇ વિહાણુ
(ઢોલ્લા મે તને વારિયો, મા કર દીર્ઘ માન
નિદ્રાએ જશે રાત્રી, દડવડ થાશે વહાણું)

ત્યાર પછી સં. ૧૩૨૭ માં રચાયેલા સપ્ત ક્ષેત્રી રાસને અને સં ૧૩૪૭ માં રચાયેલા પ્રબંધચિંતામણિ ગ્રંથને મૂકી શકાય. મેરૂતુંગાચાર્યે પ્રબંધચિંતામણિમાં અનેક પ્રબંધો આપી ઇતિહાસનું જ્ઞાન મેળવનારને ઇતિહાસ લખનારને કેટલીક સગવડ કરી આપે છે. ગુજરાતનો ઇતિહાસ રજપૂત કાળનો તૈયાર કરવામાં ઘણે ભાગે જુદા જુદા જૈન લેખકોનાં લખાણો જ વિશેષ ઉપયોગી થયાં છે.

એજ આરસામાં રત્નસિંહસૂરિ તરફથી ઉપદેશમાળા નામનો ગ્રંથ રચાયો છે. તેમાં જુદી જુદી બાબતો પર ઉપદેશ આપનારી ૫૪૦ ગાથાઓ તેમાં છે. તે વખતની ભાષા જાણવા માટે તેમાંની એક ગાથાની છ લીટીમાંથી માત્ર બે લીટી આ નીચે આપી છે.

નિય પુત્તહ રણુસીહરાય પડિબોહણુ સારહિં
કરઇ એસ ઉવએસમાલ. જીણ વયણુ વિયારહિ
(નિજ પુત્ર રણુસિંહરાય પ્રતિ બોધન સારૂ
કરી આ ઉપદેશ માળ જીન વચન વિચારે)

૧૪ શતકમાં તેજસિંહના એક ગ્રંથ સિવાય બાકીના બધા ગ્રંથો ગુજરાતીમાં જૈન સાધુઓના રચેલા હોવાનું તથા એ શતકમાં ચાલેલા રાજદ્વારી ક્ષોભના વખત માં જૈન ગચ્છોના ચાર પાંચ સાધુઓ ફકત સાહિત્યના એટલા આધારભૂત હતા એમ પ્રથમ ગુજરાતી સાહિત્ય પરિષદ્‌ના નિષ્પક્ષપાતી પ્રમુખ સાક્ષરે પોતાના ભાષણમાં જણાવ્યું હતું. બેશક " આ ગ્રંથો પણ મોટા ભાગે ધર્મ સાહિત્યના અને સંસ્કૃત સાથે પ્રાકૃતમાં પણ છે."

૧૫ મા શતકમાં સં ૧૪૧૦ ની લગભગમાં જયાનંદસૂરિએ ક્ષેમ પ્રકાશ અને ગુણરત્નસૂરિએ ભરત બાહુબલિ રાસ રચ્યો છે. તેજ અરસામાં રસામાં સં ૧૪૧૧ ને ૧૪૧૨ માં વિજયભદ્ર (ઉદયવંત) કવિએ હંસરાજ વચ્છરાજનો રાસ, શીલ રાસ અને ગૌતમ રાસ લખ્યા. તેમાં વપરાયેલી છટાદાર ભાષાને લીધે ગુજરાતી ભાષાના આદિ કવિ તરીકે વિજયભદ્ર મુનીને મુકવા હોય તો મૂકી શકાય. તેમના નાના પણ સુલલિત ગૌતમ રાસથી આપણે અજાણ્યા નથી. તેમની ભાષાનો નમુનો આ નીચે આપ્યો છે.

પુનિમ દિન જિમ સસિપાલ સોહે, સુરતરૂ મહિમા જિમ મન મોહે.
પુરવ દિસિ જિમ સહસ કરૂ.
પંચાયણુ જિમ ગિરિવર રાજે, તરવમ ઘર જિમ મયગલ ગાજે.
તિમ જિનશાસન મુનિ પવરૂ.
(પુનમ દિન જેમ શશિયલ શોભે, સુરતરૂ મહિમા જેમ જગ મોહે.
પૂર્વ દિશે જેમ સહસ્રકર.
પંચાનન જેમ ગિરિવર રાજે, નરપતિ ઘર જેમ મદગલ (મેગલ) ગાજે.
તેમ જીનશાસન મુનિ પ્રવર.)

એ સિવાય એ શતકમાં મુનિસુંદર, સોમવર્ધન સર્વેએ કંઇક લખ્યું તે હવે આપણે લંબાણુ નહિ કરતાં માત્ર ૧૬ મા શતકનું સાહિત્ય ઉપરટપકેથી તપાસી આ નિબંધ પૂર્ણ કરીશ.

આ સૈકામાં મતિશીખર, જ્ઞાનસાગર, ભક્તિવિજય, હીરકળશ, સોમવર્ધન, રાજકુશળ, જયસુંદર શિષ્ય, હર્ષકુશળ, લબ્ધિસાગર, લાવણ્યસમય, ધર્મ દેવગણિ, દેવકુલસિંહ, સહજ સુંદર વગેરે જૈન કવિઓએ યથાશક્તિ ગુજરાતી સાહિત્યની સેવા બજાવી છે.

યથાયોગ્ય બ્રહ્મચર્ય પાળનાર સુદર્શન શેઠનો રાસ, પ્રદેશી રાજાનો રાસ, ચંદ રાજાનો રાસ, વસ્તુપાળ તેજપાળનો રાસ, આ સૈકામાં લખાયા. ખાસ જાણવા જેવું તો એ છે જે સિંહાસનબત્રીશી, સુડા સાહેલીને ચિત્રસેન પદ્માવતી, જેવી કથાઓ કે જે કથાઓ ૧૮ માં સૈકામાં શામળભટ્ટ કવિએ લખ્યાનું જ ગુજરાત જાણે છે તે પ્રથમ જૈન કવિઓએ આ ૧૬ મા સૈકામાં લખી હતી. પ્રેમાનંદ કવિએ નળાખ્યાન લખ્યાં પહેલાં બે વરસે લખાયેલો શ્રીપાળનો રાસ જેમ તે કાળે જશો-વિજય જેનેદિ નય વિજયજીએ લખ્યો હતો. તેમ આ ૧૬ માં સૈકામાં એ નામનો એક રાસ સં. ૧૫૩૧ માં ને એક ૧૫૫૭ માં જુદા જુદા જૈન કવિઓએ રચ્યો હતો. ઇ. સ. ૧૫૨૧માં સિદ્ધચક્રરાસ રચાયો હતો. એ સિદ્ધચકનો મહિમા દર્શાવવા જ શ્રીપાળરાસ રચ્યો છે. ગૌતમ સ્વામીનો રાસ સં. ૧૫૭૦ માં લાવણ્ય સમયે લખ્યા છે તે વખતની ભાષા જાણવા બે લીટી આ નીચે આપી છે.

જે વઇરી વિરૂઆ વંકડા, તસ નામે નાવે ઢુંકડા;
શાળ દાળ સુરહા ધૃત ગોળ, મન વાંછિત ફોફળ તંબોળ.
ઘરેસુ ઘરૂણી નિર્મલ પ્રીત, ગૌતમ નામે પુત્ર વિનીત.

હવે લંબાણ નહિ કરતાં આ વિષય પૂર્ણ કરવાનો છે.

આ નિબંધનું નામ "ગુજરાતી જૈનોની સાહિત્ય સેવા" એવું લખ્યું છે, પણ મારી અંતગતિ ભાવના એવી છે કે હાલ આપણા દેશને અને ધર્મને કેવા સાહિત્યની જરૂર છે તે પર ધ્યાન ખેંચવું. અહિંસા ધર્મ પ્રચારને અર્થે જેવા સાહિત્યની જરૂર આ સાહિત્ય સંમેલન વિચારે તેવા સાહિત્યની વૃદ્ધિ અર્થે પ્રયત્ન કરવો એમ મારૂં લખવું છે, જૈન સિવાયના અન્યને અહિંસાના લાભ અને ખુબીઓ અસરકારક રીતે સમજાવી શકાય એવા પુસ્તકો થવાની જરૂર છે, અને દરેક ભાષામાં તેનો તરજુમો થાય અને આપણા શ્રાવક ઉપદેશકો દરેક દેશમાં તેને પ્રસાર કરવા ઘુમે તેમ થવાની જરૂર છે. જૈન કોમ બીજી કોમના પ્રમાણમાં ઘણું દ્રવ્ય ખરચે છે તે જમાના પ્રમાણે તેનો જાતીય સાહિત્યની વૃદ્ધિ માટે અને જાતીય અનાથાશ્રમ વિધવાશ્રમ, ગુરૂકુલ ઇત્યાદિ સંસ્થાઓના સ્થાપન માટે એ દ્રવ્ય ખરચાય એમ મુનિરાજોએ ઉપદેશ કરવાની જરૂર છે. શ્રાવકોના ઉદ્ધારની વાતો ઉપર હમણાં વધારે લક્ષ આપવાની જરૂર છે. યુરોપની વેજીટેરિયનસોસાયટીઓ પશુરક્ષક મંડળો વગેરેની સાથે મળી જૈન સાહિત્યનો પ્રસાર કરવા બને તે ઉપાયો લેવા જોઇએ. બ્રિટિશ શીતળ છત્ર નીચે વ્યાપી રહેલ શાંતિનો લાભ લેવાની જરૂર છે. શુદ્ર વર્ણોને પણ શામાટે જૈનધર્મનો બોધ ન દેવો? તેઓ માંસાહારી મટશે તો તેથી કાંઇ જેવો તેવો લાભ નથી તેથી ટુંકમાં જેમ બને તેમ જૈન સાહિત્યનો એટલે અહિંસા ધર્મનો વિશેષ પ્રચાર થાઓ તેમ કરો ને વિજય મેળવો. અસ્તુ.





જૈન કેળવણીના ઉદ્ધારની જરૂર.



(લે. એ. એમ. શાહ. કલકત્તા.)

મહેરબાન પ્રેસીડંટ સાહેબ અને મહારા વ્હાલા બંધુઓ ! જો કે હું વીદ્વાન નથી પણ મારા બંધુઓની સ્થીતીને નીહાળતાં તે વીશે થોડાએક શબ્દો પ્રગટ કરવાની લાંબા સમય થયાં ઉમેદ હતી તે આજે આપ સાહેબોની સમક્ષ લખાણરૂપે રજુ કરવાને મને પ્રસંગ મળેલ છે તે માટે મારા આત્માને ધન્યવાદ દઉં છું. અને જણાવવાની રજા લઉં છું કે—

આ સંમેલનમાં જર્મનીના પ્રોફેસર અને જૈનગ્રંથોના સંશોધક મી. હર્મન જેકોબીએ જે ભાગ લીધેલ છે, તે બેશક આપણી જ્ઞાતીને અભીમાન ધારણ કરાવે છે.

આપણી કોમમાં સાહીત્યના શોખીન કવીતાઓ અથવા તો ગદ્યના પીતાઓ અર્થાત્ વિદ્વાન નરરત્નો ઉત્પન્ન થાય તે માટે બેશક આપણે ઘણુંજ આનંદીત થવાનું છે. અને તેમ સર્વ કોઇ હોઇ શકે તેમાં કશું નવાઇ જેવું નથી. પણ એક દીલગીર થવાની વાત એ છે જે સમયને અનુસરી મારા કેટલાએક ઉગરતા બંધુઓ ફેશનની ફીશીઆરીમાં તણાઇ જઇ પોતાની પંડીતાઈ બતાવવાને ખાતર તથા પોતાને જાહેરમાં મુકવા ખાતર જુદા જુદા રાગ રાગણીના નાટકની ચાલના સ્તવનો તથા પદો બનાવી જલદી પ્રસીદ્ધીમાં લાવી મુકે છે. હવે જે કૃતી બનાવેલી છે તેમાં આપણા પોતીકા ધર્મથી કેટલું ઉલટું છે. તેનો વીચાર ધર્મ જ્ઞાનથી અજ્ઞાત હોઇને જાણી શકતા નથી. અને જેથી કરી હાલની વ્યવહારીક રીતને અનુસરી કેટલું બધું અયોગ્ય ડફાણ ઘસડી કાઢે છે કે જેથી જૈન વાંચકના હૃદયને આઘાતરૂપ લાગે છે. અને તેનો એક દાખલો નીચે જણાવવાની રજા લઉં છું. તેમાં કશું ખોટું જણાશે નહીં.

શા. રતનસી વેલજીના નામથી પ્રસીદ્ધ થએલ "શ્રી વીધી પક્ષ ગચ્છીય શ્રાવકસ્ય પ્રતીક્રમણાદી સુત્ર" ના નામની એક બુકમાં કર્વી હરખચંદ પોતાના બનાવેલા વર્ધમાન સ્વામીના એક પદની કડીમાં આત્માને ઉપદેશ કરતાં લખે છે, જે

જીને તોકું નરદેહી દીની. ગર્ભથી આંચ ઉધાર્યો
ના પ્રભુજી કું તેં શઠ સુરખ એક ઘડી ન સંભાળ્યો.
રે મન કયું જીન નામ વીસાર્યો.

જુઓ મારા બંધુઓ કેટલી બધી ઉત્સુત્ર પ્રરૂપણા થઈ છે તે જરા ખ્યાલમાં લાવો અને તેવાં પદોને પ્રસિદ્ધિમાં લાવ્યા પહેલાં કોઇ પ્રકારે તેની દ્રાઇ થવી જ જોઇએ. તેવાજ ઉપાયો યોજવા પ્રયત્ન કરો.

આવાં પુસ્તકોને પહેલાં વહેલાં એક કમીટી દ્વારા તપાસરાવવાં જોઇએ અને ત્યારબાદ પ્રસીદ્ધ થાય તો તેથી આપણે સારો લાભ અલબત્ત મેળવી શકીએ જ.

ત્યારે આ બાબત માટે ખાસ કરીને એક કમીટીની સ્થાપના કરવાની જરૂર હોઈ શકે કે નહીં તેનો વિચાર હું આપનેજ સોપું છું. આ કમીટીમાં ગીતાર્થ મુનિરાજો પણ હોવા જોઇએ. એ વાત પણ ભુલી જવાની નથી.

વળી કેટલાકો પોતાનું મંતવ્ય જ ચલાવવાને ખાતર નવાં નવાં પોતની મરજી મુજબ વીતરાગના વચનોની વીરૂદ્ધના પુસ્તકો છપાવી પોતે ફતેહમંદથી કાર્ય ચલાવે જાય છે. તેનું કારણ માત્ર એજ છે જે "ઘરકુટે ઘરજાય" તે મુજબ બન્યું છે. અને એ પણ સત્ય જ છે. જે આવા અધમ સમયમાં જો આકરાં કર્મોની ઉદ્ભવના ન થાય તો તે પણ એક ખામી જ ગણી શકાય. તો તે વીષે વધારે વીવેચન નકામું છે. કેમકે જે મનુષ્ય પોતાની દેહને ભ્રષ્ટ કરે છે, તે ફરીને પોતાની મૂલ સ્થીતી ઉપર આવે એ અશકય છે. હવે એ વીષયને એક બાજુ રાખી આગલ જણાવવાનું જે—

આપણાં ઉછરતાં બાલોને સાહીત્ય સંપાદન કરવાના સ્થાનો ઘણાં કમતી છે. કોઈ કહેશે કે સાહીત્યનાં સ્થાનો હાલનો ઘણાં વધી પડયાં છે, તો જણાવવાનું જે અલબત વધારો થએલ છે પણ ગરીબ વર્ગના આપણાં બાલ વીદ્યાર્થીઓને ભણવાને માટે ફ્રી સાહીત્ય શાલાઓની જરૂર છે. અને જેને માટે આપણે દરેકે દીલગીર થવું જોઇએ કે આવી શાલાનો આપણી કોમમાં મોટી ખોટ છે. અને આવી શાલાઓને સ્થાપવાને માટે આપણે સઘલાએ એકત્ર થઈ યોગ્ય પગલાં લેવાની જરૂર છે. કારણકે આપણી જ્ઞાતીના નીર્ધન બાલો આવી ફ્રી સંસ્થાના અભાવે સાહીત્યરૂપ રચના સારથી નહીં બનતાં. ગુલામગીરીના ગુહ્ય ઘાતક પ્રવાહમાં પોતાની અમુલ્ય જીંદગીને વહેતી કરી દે છે, તો તેનો અટકાવ કરવાને માટે શું આપણે કમર કસી તૈયાર થવાની જરૂર નથી ? બેશક આપણે તૈયાર થવું જોઇએ અને આવી શાળાઓની સ્થાપના કરી આપણા ધર્મબંધુઓને જ્ઞાન પ્રદાન કરાવી આપણા જ્ઞાનનું પ્રતીબીંબ અન્ય દર્શનીઓના હૃદયમાં પણ પાડવું જોઇએ. આપણા જ્ઞાનનો ફેલાવો થવાથી આપણને કેટલો લાભ છે તેનો વીચાર કરશો.

આપણાં સાહીત્યો જે ગુઢ છે, તેનું અવલોકન ઘણું જ ગહન છે અને તે જ્ઞાનની પ્રતીભા જ્યારે આપણાં હૃદયમાં ન પડે ત્યારે આપણે આપણાં જૈન બીરૂદને ઝાંખ લગાડીએ છીએ. જૈન થઇ પોતીકા જ્ઞાનનું રહસ્ય યાતો સાહીત્ય આમ્રરસનો સ્વાદ ન જાણ્યો તો ખરેખર આપણામાં અને પશુમાં શું તફાવત કહી શકાય! હવે આ અમૂલ્ય લાભ લેવા—આપવાને ઉકત સંસ્થાઓની શું જરૂર જણાતી નથી?

અલબત મારે ભાર દઇને જણાવવું પડે છે કે આપણે આપણાં સાહીત્યનો અંશ પણ નહીં જાણતા હોઈ અસહ્ય સ્થીતીને પ્રાપ્ત થઇ ગયા છીએ. હવે જાગ્યા ત્યાંથી જ સવાર માની, આપણી ઉછરતી પ્રજાનો ઉદ્ધાર કરવાને આવી ઉકત સંસ્થાઓની શું જરૂર જણાતી નથી?

ટુંકામાં જ જણાવવાનું જે આ પ્રથમનું સમ્મેલન આ વીષયને એક ઘણોજ જરૂરનો ગણશે. અને તે સંબંધે પુખ્ત વીચાર ચલાવી તેમાંથી કાંઇક નવીન ઉદ્ભવના કરશે જ, એવી આશા રાખું છું.

ઉકત સંસ્થાઓના સ્થાપનથીજ કાંઇ કાર્ય થયું ગણાય નહીં પણ તે સંસ્થાઓમાં ભાગ લેવાને વીદ્યાર્થીઓનો ખંત કેમ વધે તે તરફ ખાસ કરીને લક્ષ ખેંચવાનું છે. અને તેને માટે તેઓને ઉત્તેજન આપવાને કાંઇ ઉપાયો યોજવા જોઇએ. આપણી કોમે આ બીનાને તદ્દન ધીક્કારી કાઢવા જેવી નથી. પણ તેના સ્થાપન બાદ તે કલ્પદ્રુમનો અનુભવ જ્યારે આપણાં બાળો લેશે. અને તેમાંથી ઘણાં જ ઉત્તમોત્તમ પરીણામો જ્યારે નીપજતાં આપણે આપણાં ચક્ષુથી નીહાળીશું, ત્યારે જ આપણને તે રસના સ્વાદની ખબર પડશે.

હાલની વ્યવહારીક રીતીઓ અને વ્યવહારીક જ્ઞાનમાં જેટલા ખંતથી આપણાં બંધુઓ પૈસાનો વ્યય કરે છે. તેના કરતાં આવી ઉત્તમ રીતોમાં પૈસાનો વ્યય કરવામાં આવે, તો તેનાં કેવાં સુંદર પરિણામો નીપજે, તેનો વીચાર શ્રોતાઓ કરશે કારણકે પૈસા વીના આવી સંસ્થાઓના વીચારો હવાઇ કીલા બાંધવા રૂપ છે. તેથી પહેલ વહેલાં તો આપણાં સંપત્તીના સેવકોની આપણને જરૂર છે અને તેની સાથે આત્મભોગી સેવકોની પણ જરૂર છે. અને આ ખોટ જો પુરી પડે તો પછી હક્તે હક્તે આવી સંસ્થાઓનો વીશાલ ઉદ્ભવ પણ કરવાને આપણે શકતીમાન બેશક થઇ શકીએ.

મેં પ્રત્યક્ષ અનુભવ્યું છે જે—ઘણા જૈન વીદ્યાર્થીઓ પોતાની જીંદગીને વીદ્યાદેવીનાજ ચરણમાં અર્પણ કરવાને ખુશી હોય છે, પણ તેઓ નીરાધાર નીર્ધનોને તે લાભ આપવાને એવા જૈન વીરનરોની જ મોટી ખોટ છે. સંપતીના સેવકોને જરાપણ વીચાર થતો નથી, જે આવી સંસ્થાઓ સ્થાપી આપણાં ઉછરતાં ધર્મબંધુઓનો ઉદ્ધાર કરીએ.

આપણામાં ભણનારાઓ ઘણા પડયા છે, પણ તેને ભણાવનારાઓની જ મોટી ખોટ છે. તો હવે આ ખોટ ખાસ કરીને પુરી પાડવી તે આપણી ફરજ છે, અને તે ખોટ પુરી પાડવાને ઉપર કહી ગયાં મુજબની સંસ્થાઓની સ્થાપનાનાં સ્વપ્નો જ્યાં-સુધી આપણે નીહાળશું નહીં, ત્યાંસુધી સર્વ કાંઇ નકામું છે.

આપણાં જૈન બંધુઓ સારી રીતે જાણે છે, જે જ્ઞાનદાન સમાન એકપણ દાન નથી, અને એવા દાનને આપી કેવો અલભ્ય લાભ પ્રાપ્ત કરવાનો છે, તેજ જો હૃદયમાં ઉદ્ભવે તો આ કાર્ય કંઇપણ કઠીણ નથી.

ચાલુ સમયમાં મોટી મોટી પદવીઓ પ્રાપ્ત કરવા યા તો માનને ખાતર જે લાખો રૂપીઆનો છુટથી ઉપયોગ થાય છે, તેનાં કરતાં આવાં જ્ઞાન પ્રાપ્ત કરવાના કલ્પદ્રુમોને પોષવાને અર્થે મારા વ્હાલા અને અજ્ઞાન નીદ્રાગ્રસ્ત થએલા બંધુઓનાં ચક્ષુઓ કયારે ખુલશે અને તેઓના સંપતીના ભંડારોનો ઉત્તમ વ્યય આવા ઉત્તમ માર્ગમાં કયારે થશે. એ જોવાની ઉત્સુકતામાં આ વિષયને પૂર્ણ કરવાની રજા લઉં તે પહેલાં એક બીના જણાવવાની કે—

જેવી રીતે આપણે આપણાં બાળકોને ભણાવવાને માટે વીચારો વહીએ છીએ તેની સાથે આપણે આપણી બાળીકાની સ્થીતીનો વીચાર પણ ભુલી જવાનો નથી. કારણ કે એ નિઃશંક વાત છે. જે જન્મ સ્થાનથી ઉદ્ભવેલા અર્થાત્ પડેલા સંસ્કારો આગળ ઉપર પણ સારી યા નરસી અસર કરે છે જ. અને તેથી કરી મનુષ્યની જીંદગીનો સઘળો આધાર જન્માવસ્થાના સંસ્કાર ઉપર રહેલો છે, એમ કહીએ તો પણ જરા ખોટું નથી. અને તેટલાજ માટેજ પ્રસીદ્ધ લડવૈયા નેપોલીઅન બોનાપાર્ટની કહેવત જગ જાહેર થઇ પડી છે. અર્થાત્ તે અસરકારક ગણી શકાય છે જે—

કહે નેપોલીઅન દેશને કરવા આબાદાન
સરસ રીતતો એજ છે. દ્યો માતાને જ્ઞાન

આ ઉપરથીજ આપણે ખુલ્લી રીતે જ જાણી શકીએ છીએ જે ઉત્પત્તી સ્થાન જ અજ્ઞાન હોય તો તેમાંથી ઉદ્ભવેલ પ્રજાના ઉપર અજ્ઞાનતાના જ સંસ્કારો પડે જ તેમાં શું આશ્ચર્ય હોઈ શકે ? તો પછી તે સ્ત્રીવર્ગને પણ કેળવણી આપવાની શું જરૂર નથી. ? ધાર્મીક કેળવણીની સ્ત્રીવર્ગમાં જબરજસ્ત ખામી હોઇને જ તેમાંથી ઉદ્ભવેલી પ્રજા પોતાની અમુલ્ય જીંદગીને રાખમાં રગદોળી નાંખે છે. આથી શું મારા વ્હાલા બંધુઓને જરા પણ અસર નથી થતી ?

વળી વૈધવ્ય પ્રાપ્ત કરેલી સ્ત્રીઓને માટે પણ ઘણીજ હૃદય દ્રવીત વાત છે. જે તે સમય ગાળવાને અર્થે પણ શાળાની ખામી છે.

આ ઉપરથી કોઇ એમ સ્વાલ કરશે જે ઉપરનો દરેક બાબતમા શાળાની હકીકત દર્શાવેલી છે. તો જણાવવુ તે પણ જરૂરનું છે જે ખાલી એકલી શાળાજ હોવી જોઇએ એમ કહેવાનું નથી પણ તે શાળાઓની સ્થાપના બાદ તેઓની સ્થીતી સુધારવાને અર્થે –"હુન્નર શાળાઓની" પણ જરૂર છે. અને મનને આનંદમા રાખવાને ઉત્તમ–"સગીતશાળાઓનો" પણ જરૂર છે. પણ આ બધું રફતે રફતે થવાથી આનંદનો લહેરી લેવાય છે. એકીસાથે સઘળું કરવાનો પ્રયત્ન–નીષ્ફળતા મા જ પુર્ણ થાય છે. જેથો આ સઘળું આપણી આત્મીક અને વ્યવહારીક જીંદગીને પણ સાનુકુળ ગણી શકાય તે મુજબ આસ્તેથી કામ લેવાથી હમેશા કાર્યની સફળતા જ થાય છે. અને હમેશા હીંમતથી જ પાર પડે છે.

કારણ કે ધીરજ અને ખંતથી મોટા પર્વતોનો પણ પાર પમાય છે.

" Patience And Perseverance over come Mountains"





परमगुरुश्रीविजयधर्मसूरिभ्यो नमः।

जैन साहित्यमें पदार्थकी व्यवस्था।

(लेखक, न्यायतीर्थ-न्यायविशारद-प्रवर्तक श्रीमंगलविजयजी महाराज)

निर्वाणमार्गे वरसार्थवाहं प्रणाशिताशेषकुवादिवृन्दम् ।
प्रकाशिताशेषपदार्थसार्थं नमामि भक्त्या प्रभुवीरदेवम् ॥१॥
प्रमाण-नय-निष्णातं, ज्ञानदाने बृहस्पतिम् ।
गुरुं विजयधर्माख्यं सूरिं वन्दे निरन्तरम् ॥ २ ॥

यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है कि, सर्वदर्शन शास्त्रोंमें जैनसाहित्य जैसा संसारभरमें कोई भी दूसरा साहित्य नहीं है। जब तक, जिसने जैनसाहित्यको यथार्थ नहीं देखा है तब तक, उसके रहस्यको पाना बहुत कठीन ही है। क्योंकि उसमें जीवादि पदार्थोंका और कर्मोंका बन्धन-मोचनका प्रकार ऐसा बतलाया गया है कि, उसको जानकर फिर हम अपने अन्तःकरणमे शंका रूपी डाकीनीका प्रवेश कभी नहीं करा सक्ते हैं। क्योंकि संशय वहां पर हो सक्ता है, जहां मायाजालकी तरह वस्तु बतलाई, गई हो और वास्तविक पदार्थोंका यथार्थ कथन न कहा गया हो । परन्तु यहां पर यह शैली हमलोग स्वप्नमें भी नही देखते हैं, यहां तो जीवको कर्मके साथ फसनेका और उनसे मुक्त होनेका उपाय स्पष्ट ही विस्तार पूर्वक दिया गया है। तात्पर्य यह है, कि जैनसाहित्य जैसे अगाध सिन्धु-भंडारसे कोई विषय अवशिष्ट नहीं रहा है कि जिससे हम लोग उसका शरण छोड, दूसरेका अवलंबन करे। और परमार्थसे

यदि कहा जाय तो यही कहना पडेगा कि, इस साहित्यके भीतर रहे हुए पदार्थोंका प्रत्येक दर्शनकारोंने निःसकोच रूपसे स्वीकार किया है। और इस तौरसे अपने शास्त्रको प्रतिपादन करनेके लिए कोशिश की है। अतएव कोई भी जैन शब्दसे विमुख नही हो सक्ता है।

जैनसाहित्यको जाननेकेलिये प्रमाण और नय यह दो साधन मुख्य हैं। और उनके द्वारा ही हम जैनसाहित्य रूपी गुप्त किलेको सर कर सक्ते हैं। ये दोनों साधन, उसके रक्षक होनेसे सर्व सामग्री इनके ही हाथमें है। जब इन दोनोंकी सहायता मिलेगी, तब पदार्थोंके रहस्यको पानेमें बिलकुल देर लगेगी नहीं।

उसके अधिगमके दो भेद हैं:—

एक स्वार्थाधिगम, दूसरा परार्थाधिगम। उसमें स्वार्थाधिगम तो मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्याय-केवलज्ञान रूप है। और परार्थाधिगम शब्दरूप है। इस शब्द रूप परार्थाधिगमके भी दो भेद हैं। एक प्रमाणात्मक, दूसरा नयात्मक। सर्वांशसे वस्तुको ग्रहण करनेकी जिसमें शक्ति है, वह प्रमाणात्मक है। और प्रमाणसे प्रकाशित किया गया जो पदार्थ, उसके एक अंशको विशेष रूपसे प्रकाश करने वालेको नय कहते हैं। इसलिये, स्याद्वाद और नययुक्त श्रुतप्रमाणसे प्रतिपर्याय सप्तभंगीवाले जीवादी पदार्थोंको जानना, उनको ही प्रमाणसप्तभंगी और नयसप्तभंगी के नामसे निर्देश किया है। अब उनके सामान्य लक्षण कथन पूर्वक विशेष लक्षण कहा जाता है।

एक ही वस्तुमें रहा हुए सत्त्वासत्त्व-ज्ञेयत्त्व-प्रमेयत्त्व-वाच्यत्त्वादि अनेक धर्मोंके बीचमें, प्रत्येक धर्म विषयक प्रश्नके वशसे और प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके अविरुद्ध जो विधि-प्रतिषेध रूप धर्म, उस धर्मके पर्यालोचनसे तथा स्यात् पदसे चिह्नित वचनका जो सात प्रकार है, उसको सप्तभंगी कहते हैं। सप्तभग ये हैं:-स्यादस्त्येव घटः १ स्यान्नास्त्येव घटः २ स्यादस्ति नास्ति च घटः ३ स्यादवक्तव्यो घटः ४ स्यादस्ति अवक्तव्यश्च घट. ५ स्यान्नास्ति अवक्तव्यश्च घटः ६ स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्च घटः ७। अब इनमें यह विचारनेका है कि, इन भंगोंमें सात प्रकारके प्रश्न पैदा होते हैं, इसका क्या कारण है? इसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि, जिज्ञासाके सात भेद हैं, इस लिये। और जिज्ञासाके सात

भेद होनेमें सात प्रकारका संशय ही कारण है। तथा सात प्रकारके संशय होनेमें संशय विषयभूत धर्मकी सत्तता ही कारण है। कथंचित् सत्त्व और कथंचिदसत्त्व तथा क्रमार्पित उभय एवं अवक्तव्य तथा कथंचित् सत्त्वविशिष्ट अवक्तव्य, असत्त्व विशिष्ट अवक्तव्य तथा क्रमार्पित अवक्तव्य। इसमें संशय यह है कि, 'अत्र घटः स्यादस्त्येव नवा ?' इसका अर्थ यह है कि, यहां पर घट है किंवा नहीं है ? यह संशय, कथंचित् सत्त्व और कथंचिद् असत्त्व रूप दो को विषय करता है। और जहां संशय होता है, वहां ही उसको दूर करने के लिये प्रयत्न किया जाता है और जब जानने की इच्छा होती है, तब प्रश्न किया जाता है। यह बात सब जगह प्रसिद्ध है। अब आगे प्रश्न इस तरह होता है। जो पुरुष घटको नही जानता है, वह जाननेवालेसे पूछता है कि-'घट कैसा होता है ?' इसके उत्तरमें प्रामाणिक पुरुष कहता है कि ' कंबु–ग्रीवादिमान घट होता है। और जिसमें जलाहरण करने की क्रिया की जाति है, उसको घट कहते हैं।' इससे जानना चाहिये कि, जब तक जिज्ञासा नहीं होगी, तब तक प्रश्न होना ही कठीन है। और प्रश्नके विना उत्तर भी मीलना मुश्किल है। क्योंकि अजिज्ञासित पुरुषको बतलाना उन्मत्त सा कहा जाता है। अब आगेका स्वरूप सुनिये।

कथंचित् सत्त्वका अर्थ यह है कि, ' स्वद्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव' करके घट विद्यमान है। और परद्रव्यादि चतुष्टय करके अविद्यमान है।' उनमें द्रव्यसे पार्थिवत्त्वकरके है, जलादिसे नही। क्षेत्रसे काशिका घट है, प्रयागका नही। कालसे वासंतिक घट है, हेमन्तका नही। एवं भावसे श्याम रूपी है, रक्त वर्णा नहीं। क्योंकि, जो घट मृत्तिकाका बना है, उसकी सत्ता उसी रूपसे मानी जाति है। जो घट जिस क्षेत्रमें है, उस घटकी सत्ता उसी क्षेत्रमें मानी जाति है। जो घट जिस कालमें है; उसकी सत्ता उसी कालमें मानी जाति है। और जो घट जिस रूपवाला है, उस घटकी सत्ता उसी रूपसे मानी जाति है। और इसके विद्यमान होने पर भी परद्रव्यादि चतुष्टयसे अभाव माना जाता है।

अब कथंचित् सत्त्वासत्त्व रूप तीसरे भंगका अर्थ यह है कि, 'स्व--परद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षासे विद्यमानत्त्व और अविद्यमानत्त्व है'। अर्थात् प्रथम भंगमें केवल सत्त्वकी प्रधानता है। दूसरेमें केवल असत्त्वकी प्रधानता है। तथा तीसरेमें अस्तित्त्व नास्तित्त्व रूप उभयकी प्रधानता है। इस लिए किसी दोषका अवसर नही है।

अब कथंचिदवक्तव्यत्त्व रूप चतुर्थ भङ्गका यह अर्थ है कि–'जब सत्त्व असत्त्वको युगपत् कहनेकी इच्छा होती है, और उसको प्रतिपादन करनेके लिये शब्द कोई नहीं मीलता है, तब उसको अवाच्य शब्दसे प्रतिपादन किया जाता है'। अब पांचवेका अर्थ कहा जाता है:–

जब एक भागमें विद्यमानत्त्व और दुसरेमें अवाच्यत्त्वको एक कालमें कहनेकी इच्छा होती है, तब सदवाच्यत्त्वका प्रयोग किया जाता है।

छठेका अर्थ यह है:–जब एक भागमें अविद्यमानत्त्व और दूसरेमें अवाच्यत्त्वको एक कालमें प्रतिपादन करनेकी इच्छा होती है, तब असदवाच्यत्त्वका प्रयोग किया जाता है।

अब सातवेका अर्थ ऐसा है कि–जब एक अंशमें विद्यमानत्त्व और दूसरेमें अविद्यमानत्त्व, इस तरह किसी एक दूसरे भागमें अवाच्यत्त्वको एक कालमें कहनेकी इच्छा होती है, तब सदसदवाच्यत्त्वका प्रयोग किया जाता है।

यहाँ पर यदि कोई शङ्का करे कि, "प्रत्येक सत्त्वासत्त्वकी अपेक्षासे तीसरे भंगमें क्या फरक है; क्योंकि, प्रत्येक घट, पटकी अपेक्षासे घटपट रूप उभय जो हैं, उनमें कुछ भी अन्तर नहीं मालूम होता हैं। इस लिये तीसरा भंग नहीं मानना चाहिये।" इसके उत्तरमें यह कहा जाता है कि, प्रत्येककी अपेक्षासे उभयरूप तीसरे भंगको अवश्य पृथक् मानना चाहिये। क्योंकि प्रत्येक'घ'कार और 'ट' कार की अपेक्षासे 'घट' रूप जो उभय है, सो भिन्न है। और यदि कदाचित् 'घट' रूप उभयको भिन्न नहीं मानोगे तो 'घ' कारका उच्चारण करनेसे ही सकल घटका बोध हो जाना चाहिये। और तब तो शेष 'ट' कारका उच्चारण ही व्यर्थ हो जायगा, इस लिये प्रत्येककी अपेक्षासे उभय अलग है। यह बात निर्विवाद सिद्ध हो गई। अब, अगर कोई यह कहे कि, "तीसरे की अपेक्षासे चतुर्थमें क्या भेद है? क्यों कि तीसरेमें क्रमार्पित उभयपणा है। चोथेमें सहार्पित उभयपणा है, और ऐसा तो मालम पडता ही नहीं है कि, घट पटरूप उभयका अधिकरण जो भूतल है, उसमें, क्रमार्पित घट पट रूप उभय अन्य है। और सहार्पित उभय पृथक् है, इससे यह सारांश निकला कि तृतीय भंगकी अपेक्षासे चोथा भंग अलग नहीं मानना चाहिये।"

इसका उत्तर यही है कि, तीसरेमें अस्तित्व नास्तित्व रूप उभय धर्मका प्रधानपणा है। और चोथेमें अवक्तव्यत्त्व रूप धर्मान्तरका प्रधानपणा है। इसलिए परस्पर

धर्मोंका भिन्नपना होनेसे, धर्मिको भी भिन्न मानना चाहिये। इस लिये अभेदकी आशंका भी करनी उचित नहीं है।

अब ऐसा भी नियम नहीं है कि पदार्थका केवल 'सत्त्व' ही स्वरूप है। क्योंकि स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे सत्त्वकी तरह परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे असत्त्व भी मालुम पडता है। ऐसा होने पर भी यदि नहीं मानोगे, तो पर रूप–पटादिका भी घट स्वरूप होनेसे व्यवहारका उच्छेद हो जायगा। अतः परद्रव्यादिसे असत्त्वको भी अलग मानना चाहिये।

केवल 'असत्त्व' भी वस्तुका स्वरूप नहीं है। क्योंकि परद्रव्यादिसे असत्त्वकी तरह स्वद्रव्यादि चतुष्टयसे सत्त्व भी अलग मालुम पडता है। इसलिये वस्तुका सत्त्व स्वरूप भी मानना चाहिये। और यदि ऐसा नहीं मानोगे तो सारा जगत् शून्य ही हो जायगा।

अब वस्तुको केवल 'सत्त्वासत्त्व' भी नहीं माना जासक्ता है। क्योंकि उभयसे विलक्षण जात्यन्तर रूप भी अलग देखनेमें आता है। जैसे बदाम-शर्करा-चीनी-गुलाबकेफुल–सौंफ–कालीमीरचादि सामग्री मिलाकर पानक बनाया जाता है, और वह पानक उन सब चीजोंसे अलग जात्यन्तर ही होता है। इस तरह उभयसे विलक्षण जात्यन्तर रूप अवक्तव्यत्व भी अलग ही मानना चाहीये।

अच्छा, अब ऐसा भी नहीं माना जासक्ता है कि उभयसे विलक्षण जात्यन्तर ही वस्तुका स्वरूप है। क्योंकि, उसी पानक वस्तुमें प्रत्येक चीजोंका गुण भी अलग अलग मालुम पडता है। इसलिये जैसे वहां पर अलग अलग होने पर भी मिलानेके बाद जात्यन्तर कहा जाता है, ऐसेही, सभी पदार्थमें समझना चाहीये। अत एव अवक्तव्यको जात्यन्तर ही कहना चाहीये। इससे तात्पर्य यही निकलाकि, समस्त पदार्थ सप्तभंगी करके संवलित है। इससे बाहर अर्थात् सप्तभंगी करके संवलित सिवाय कोईभी पदार्थ नहीं है।

अब आगे उसका विशेष लक्षण दिखलाया जाता है।

धर्मान्तरको अप्रतिषेध करनेवाला होने पर भी, विधि विषय बोधको करानेवाला जो वाक्य है, वह प्रथम भंगके लक्षण रूप है। उसका आकार 'स्यादस्त्येव घटः' इस प्रकार है। इसमें 'स्याद्' अव्यय है, सो अनेकान्तका द्योतक है। 'अनेकान्तत्त्व', याने अ-

नेकधर्मात्मकता। भावार्थ यह है कि–अनेक धर्मात्मक जो घट है, सो इस प्रकारके अस्तित्व वाला है। अब दूसरे भगका लक्षण इस प्रकारका है:–

'धर्मान्तरका अप्रतिषेध करनेवाला होने पर भी, प्रतिषेध विषयक बोधको करानेवाला जो वाक्य है, सो ही दूसरे भगके लक्षण रूप है। उसका आकार 'स्यान्नास्त्येव घट.' इस रूप है। तथा घटादि रूप एक विशेष्यक क्रमार्पित विधि–प्रतिषेध रूप जो धर्म, उस धर्म विषयक बोधको करानेवाला जो वाक्य है, सो ही तीसरे भग रूप है। और वह **'स्यादस्ति नास्ति च घटः'** इस प्रकारके वचन रूप है।

घटादि रूप एक वस्तु जिसमें विशेष्य है, ऐसे अवक्तव्यत्व प्रकारक बोधको पैदा करानेवाला जो वाक्य है, सोही चौथे भगके लक्षण रूप है। यदि यहाँ कोई शका उठावे कि घट अवक्तव्य कीस तरहसे है? उसका उत्तर यही है, कि प्रत्येक शब्द प्रधानता करके युगपत् सत्त्वासत्त्वके प्रतिपादन करनेमें असमर्थ है। क्योंकी इस प्रकारकी शब्दकी शक्ति नहीं है। देखियेः–

'**अस्ति**' पद केवल सत्ताका प्रतिपादक है। असत्ताका नहीं। और **'नास्ति'** पद केवल असत्ताका प्रतिपादक है। न तु सत्ताका। अब यदि केवल **'अस्ति'** पदको ही सत्त्वासत्त्वको प्रतिपादन करनेवाला माना जाय तो '**नास्ति**' पदका–प्रयोग करना ही व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि असत्यको भी अस्ति पदने ही प्रतिपादन कर दीया। अर्थात् दोनोंका प्रतिपादन करनेवाला अस्ति पदको ही मान लीया। लेकिन ऐसा माननेमें तो व्यवहारका ही उच्छेद हो जायगा। इस लिये अवक्तव्यत्व भी मानना चाहिये। इस तरहसे दूसरे भगोंको भी समझना चाहिये। यदि यहा पर विस्तार से कहा जाय तो एक बडा ग्रन्थ ही बन जाना सभव है। अतः ग्रन्थ गौरवके भयसे सक्षेपमें लिखा गया है।

यदि यहा पर कोई यह प्रश्न करे कि "तुम्हारी मानी हुई सप्तभगी अनेकान्तवाद रूप स्याद्वादमें है या नहीं" यदि कहोकि अनेकान्तवादमें भी है, तब तो यही प्रश्न उत्पन्न होवेगा कि अनेकान्तका प्रतिषेध तो एकान्तरूप है। सो आप लोगोंको अनिष्ट है। और इस प्रकारसे सप्तभगीको माननेसे अनवस्था भी आवेगी, और यह तो मूल कुठार रूपा है। यदि यह कहोगे कि, उसके भीतर

सप्तभंगी नहीं है। तो आपके सिद्धान्तका व्याघात हो जावेगा। क्योंकि सिद्धान्तमें कहा है कि समस्त पदार्थ सप्तभंगी करके युक्त है। इसलिये यहाँ पर व्याघ्रतटीन्याय आपको आगया।"

अब इसका उत्तर यह है कि:—प्रमाणरूप सम्यग् अनेकान्त और नयरूप सम्यग् एकान्त जो है, उन दोनोंका अवलंबन करके ही, उसके भीतर सप्तभंगी रही हुई है। इसलिये कोई भी शंका रूपी राक्षसीका प्रवेश नहीं हो सकता।

अनेकान्तके दो भेद हैं:—एक **सम्यक् अनेकान्त** और दूसरा **मिथ्या अनेकान्त**। उनमें सम्यक् अनेकान्तका अर्थ यह है कि, एक वस्तुमें रहे हुए अस्तित्त्व-नास्तित्त्व-नित्यत्वानित्यत्व सामान्यत्त्व-विशेषत्त्वादि जो नाना धर्म हैं, उनका निरूपण करनेमें कुशल हो और प्रत्यक्षादि प्रमाणसे विरुद्ध न हो, सो ही **सम्यक् अनेकान्त** कहा जाता है, और यदि वही प्रत्यक्षादि विरुद्ध धर्मोंका प्रतिपादन करता हो तो, **मिथ्या अनेकान्त** रूप है।

इस तरहसे प्रमाण विषयीभूत पदार्थमें रहे हुए धर्ममेंसे एक धर्मके निरुपण करनेमें जो कुशल हो, और धर्मान्तरको प्रतिषेध करनेवाला न हो, सो **सम्यक् एकान्त** है। तथा मिथ्या एकान्त तो, जो एक धर्ममात्रको ही निश्चय करानेवाला हो एवं दूसरे धर्मोंका निराकरण करनेमें प्रवीण हो, वही कहा जाता है।

इनमें सम्यक् एकान्त ही नय कहा जाता है। मिथ्या एकान्त तो नयाभास कहा जाता है। इस तरहसे **सम्यक् अनेकान्त** प्रमाण रूप है। और **मिथ्या अनेकान्त** प्रमाणाभास रूप है। इन दोनोंको लेकर जो सप्तभंगी कही जाती है. वह, यहाँ दिखलाई जाती है। **स्यादनेकान्तः १, स्यादेकान्तः २, स्यादनेकान्त एकान्तश्च ३, स्यादवक्तव्यः ४, स्यादस्ति अवक्तव्यः ५, स्यान्नास्ति अवक्तव्यः६, स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्च ७**। अनेक धर्मात्मक वस्तुका प्रतिपादन करनेवाला होनेसे अनेकान्त, प्रमाण रूप है। तथा अपर धर्मोंके निरुपणमें उदासीनता पूर्वक एक धर्मको प्रतिपादन करने वाला होनेसे वही **एकान्त, नय** रूप है। इस लिये इसमें कोई भी दोष नहीं है।

अनेकान्तवादको प्रत्येक दर्शनकारोंने प्रकारान्तरसे माना है। जैसे सांख्यवालोंने, प्रसाद–लाघव–शोष–ताप–वरणादि विरुद्ध स्वभाववाला सत्त्व–रज

स्तमोगुणकी साम्यावस्था रूप प्रकृतिको मानकर क्या अनेकान्तका स्वीकार नहीं किया है ?–क्या अनेकान्तके प्रति प्रतिक्षेप कर सक्ते है ? वीलकुल नहीं। इस तरहसे नैयायिक लोग भी सामान्यविशेषात्मक द्रव्यत्वादि मान कर स्याद्वादका ही अवलम्बन करते है। इस तरहसे बौद्ध लोग भी एक मेचक ज्ञानको अनेकाकार मानते हुए स्याद्वादका ही आश्रय लेते हैं। एवं मीमांसक लोग जो प्रमातृ–प्रमिति और प्रमेयाकार एक ज्ञानको मानते है, वे भी अनेक पदार्थ निरूपित विषयताशाली एक ज्ञानका स्वीकार करते है, इस लिये अनेकान्तका प्रतिक्षेप नहीं कर सकते है। साराश यही है कि समस्त लोगोंने इस स्याद्वादका अवलवन प्रकारान्तरसे किया ही है।

इस प्रकार सप्तभंगी दिखलानेके अनन्तर जिन पदार्थोंमें यह सप्तभंगी रहती है, उन पदार्थोंका विवेचन किया जाता है।

पदार्थका सामान्य लक्षण यह है:–"जो उत्पाद–व्यय–और ध्रौव्यसे युक्त है, वह सत् कहा जाता है।" और उसीको द्रव्य भी कहते हैं। उसमें 'उत्पाद'का लक्षण यह है –'अपने सजातिपनेको नहीं छोडता हुआ, जो परिणामान्तरको प्राप्त होनेवाला है' वह उत्पादका लक्षण है। जैसे, घट बनाते हुए, उसके पूर्वकी कोश कुशूल शिवक–स्थाग–कपालादि अवस्थाके बदलने पर भी मृत्तिका रूप द्रव्य सभीमें वर्तमान है। भावार्थ यह है कि, अपने द्रव्यको नहीं छोडते हुए केवल अवस्थान्तरको जो प्राप्त होता है, वही उत्पाद है।

अब, पूर्व पर्यायका जो विनाशपणा है, वह 'व्यय'का लक्षण है। जैसे घटके फुटनेके बाद पूर्व जो घट रूप पर्याय था, उसका नाश हुआ। उस नाशका नाम ही व्यय है।

एवं "सतोऽन्वय रूप द्रव्यसे जिसका व्यय नहीं होता है, और आगे भी नहीं होगा, तथा पहिले भी जिसका व्यय नहीं हुआ था, सो ही 'ध्रौव्य'का लक्षण है।" जैसे मृत्तिका रूप द्रव्यके अन्यका अवस्थान्तर होने पर भी, कभी व्यय नहीं होता है। उसीका नाम ही ध्रौव्य है। इस तरहस सभीमें समझना।

इसके सिवाय दूसरी तरहसे भी पदार्थका लक्षण किया जाता है। जैसे गुण पर्याय तत्त्व 'द्रव्य'का सामान्य लक्षण है। इसमें जो सहभावी है सो गुण है। और क्रमभावि

पर्याय कहा जाता है। एवं ये दोनों एक द्रव्यके साथ ही संबन्ध रखनेवाले है। इस लिए गुण-पर्यायवाला द्रव्य कहा जाता है। द्रव्यके मूल दो भेद हैं:-एक जीवद्रव्य और दूसरा अजीवद्रव्य। इनमें अजीवद्रव्यके पांच भेद हैं:-धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, तथा काल।

जीवद्रव्यके भीतर ज्ञान-दर्शन-चारित्र स्वभावता-प्रमेयता-प्रमातृता-अरूपित्वादि सहभावि गुण हैं। और देवत्त्व-मनुपत्त्व-तिर्यक्त्व-नारकत्त्व-पुंस्त्व-स्त्रीत्व-नपुंसकत्वादि क्रमभावी, पर्यायरूप कहे जाते हैं।

धर्मास्तिकाय में चलनसहायत्व-अचेतनत्व-अरूपित्व असंख्येयप्रदेशवत्त्वादि सहभावी हैं वे **गुण** हैं। और अगुरुलघुत्वादि जो क्रमभावी हैं, वे **पर्याय** हैं। अधर्मास्तिकायमें स्थितिसहायत्वादि सहभावी **गुण** है और अगुरुलघुत्वादि क्रमभावी **पर्याय** हैं। इसतरहसे आकाशमें अवकाशदातृत्वादि **गुण** हैं, और अगुरुलघुत्वादि क्रमभावी **पर्याय** हैं, पुद्गलमें रूपित्व-अचेतनत्व-सक्रियत्व तथा पूरण-गलन-स्वभावत्त्वादि सहभावी हैं, वे **गुण** हैं। और शब्द बन्ध स्थौल्य-सूक्ष्मता भेदादि जो क्रमभावि हैं, वे **पर्याय** हैं।

वैसे ही कालमें अरूपित्व-अचेतनत्व-नूतनत्व-पूराणत्व तथा वर्तनादि सहभावी **गुण** हैं। और अतीतत्व-अनागत्व-वर्तमानत्त्वादि क्रमभावी जो हैं, वे **पर्याय** हैं। इस तरहसे प्रत्येक द्रव्य गुणपर्यायसे युक्त है। इतना संक्षेपसे वर्णन करके अब आगे उन सभीके लक्षण कहे जाते हैं।

इनमें 'उपयोगवत्त्व' जो है, सो जीवका सामान्य लक्षण है। और वह ही उपयोग ज्ञान दर्शनान्यतर रूप है।

इसमें ज्ञानोपयोगके आठ भेद हैं। १ मतिज्ञानोपयोग, २ श्रुतज्ञानोपयोग, ३ अवधिज्ञानोपयोग, ४ मनःपर्यायज्ञानोपयोग, ५ केवलज्ञानोपयोग, ६ मत्यज्ञानोपयोग, ७ श्रुताज्ञानोपयोग तथा ८ विभंगज्ञानोपयोग।

दर्शनोपयोग चार प्रकारका हैः-१ चक्षुर्दर्शनोपयोग, २ अचक्षुर्दर्शनोपयोग, ३ अवधिदर्शनोपयोग तथा ४ केवलदर्शनोपयोग। ये ही उपयोगके बारह भेद हैं।

उपयोगका लक्षण यह है:-निमित्तद्वयका सद्भाव होने पर ज्ञाताका यथासंभव चैतन्यानुकारि जो परिणाम विशेष होता, वह उपयोगका लक्षण है। इसमें बाह्यनिमित्त

और अभ्यन्तरनिमित्त,ये दो प्रकारके निमित्त कहे गये हैं। इनमें आभ्यन्तरनिमित्त तो ज्ञानावरणीयादि कर्मका क्षय और क्षयोपशमादिरूप है। तथा बाह्यनिमित्त सहकारि सन्निधानादि रूप है। इन दोनों निमित्तके विद्यमान होने पर आत्माका, यथासंभव चैतन्यानुरूप परिणाम विशेष होता है, वही उपयोग है। आत्मा, उन ज्ञानादि धर्मोंसे सर्वथा भिन्न भी नहीं है। एवं सर्वथा अभिन्न भी नहीं है। किन्तु भिन्नाभिन्न रूप जात्यन्तर स्वरूप है। क्योंकि–केवल भिन्न माननेसे घटपटकी तरह आपसमें धर्म–धर्मिभाव नहीं बन सकता। तथा 'ज्ञानस्वरूपोऽहं' 'दर्शनस्वरूपोऽहं' इत्यादि व्यवहार भी नहीं बन सकता। कारण यह है कि–ऐक्यनिबन्धन जो व्यवहार है, सो भिन्नमें नहीं हो सक्ता है। इस लिये केवल भिन्न नहीं माना जासक्ता है। अब केवल अभिन्न ही मानेंगे तो 'यह मेरा ज्ञान है' तथा 'वह मेरा दर्शन है' इत्यादि जो भेद निबन्धन व्यवहार होता है, वह भी नहीं बनेगा। इस लिये केवल भिन्न नहीं है। वैसे केवल अभिन्न भी नहीं है। किन्तु भिन्नाभिन्न रूप जात्यन्तर है। इस तरहसे विवृत्तिमत्त्वादि धर्म वाला भी आत्मा है।

जैसे, मनुष्य–देवादि पर्यायान्तरका जो अनुसरण है, वही विवृत्ति कही जाती है। और इस प्रकारकी विवृत्तिवालेको विवृत्तिमान् कहते हैं। इससे ही भवान्तरगामिता अर्थात् पुनर्जन्मकी सिद्धि होती है। क्योंकि सिवाय भवान्तर गामिताके नर–अमरादि पर्यायान्तरके अनुसरण रूप विवृत्ति नहीं बन सक्ती।

देखिये, जैसे आज ही उत्पन्न हुए बालकको जो प्रथम ही स्तन–पान करनेका अभिलाष होता है,वह पूर्वके अभिलाष पूर्वक है। क्योंकि उसमें अभिलाषपणा है। इस लिये जैसे दूसरे दिनके प्रथम स्तनपानका अभिलाष प्रथम दिनके अभिलाष पूर्वक है। इस तरहसे प्रथम दिनका प्रथम स्तन–पान करनेका अभिलाष भी, उससे पहिलेके स्तन–पान पूर्वक ही होना चाहीये। भावार्थ यह है कि–जब बालक पैदा होता है, तब ही माताके स्तन–पान करनेकी प्रवृत्ति अपने आपसे करता है। जिस प्रकारसे दुसरे दिनमें अपने आप ही प्रवृत्ति करता है। अगर उसको पूर्व जन्मका अभ्यास नहीं होता, तो वह उत्पन्न होते ही अपने आपसे ऐसी प्रवृत्ति क्यों कर करता? बस, इसीसे, पूर्व जन्मकी सिद्धि होती है। अतः प्रथम अभिलाष रूप प्रवृत्ति जो है, वह भी पूर्वके अभिलाष पूर्वक ही माननी चाहिये। इस तरहसे जन्मान्तरमें भी समझना।

भवान्तरमें किये हुवे कर्मोका भोक्ता तथा कर्त्ता भी जीव ही केवल है । क्योंकि कर्मोंके सिवाय इस प्रकारकी विचित्रता नहीं बन सक्ता है। एक, धनी दूसरा रंक, एक प्रज्ञाशाली दूसरा निष्प्रज्ञ, एक सेवक दूसरा सेव्य, एक राजा दूसरा भृत्य इत्यादि प्रपचोंसे पूर्वोक्त कर्मोंकी ही सिद्धि होती है । अतएव जीवके साथ कर्मोका सबन्ध माननेके सिवाय चल सकता नहीं है ।

यहॉ पर कोई यह आशका करे कि, 'जीवके साथ आपके माने हुए कर्मोका संबन्ध आदिमान् है किंवा अनादि है ? । अगर आदिमान् कहेंगे, तो इसमें भी प्रश्न होगा, कि प्रथम जीव और पीछे कर्म है ? अथवा प्रथम कर्म और पीछे जीव है ? किंवा दोनों साथ ही उत्पन्न हुए है ? । इनमेंसे कौनसे पक्षको आप मानते है ? ।'

इसका उत्तर यह है कि–हम लोगोंको इसमेंसे एक भी पक्ष स्वीकरणीय नहीं है । क्योंकि, सभी पक्ष, दोषसे भरे हुए हैं । देखिये, प्रथम पक्षमें यह दोष उपस्थित होता है कि जबतक उत्पन्न नहीं हुए हैं, तबतक, तो जीव निष्कर्म है । और उत्पन्न होनेपर कर्मका सबन्ध घट सक्ता है । यदि, कदापि कर्मोंके पैदा होनेके बाद निष्कर्म जीवको कर्मका सबन्ध मानेंगे, तो मोक्षके जीवमें भी आपको कर्मोंका सबन्ध मानना ही पडेगा । क्योंकि निष्कर्मपना तो आपके लिये दोनोंमेंही समान है । अथवा जब कर्म नहीं उत्पन्न हुए हैं, तब तो मोक्षके तथा ससारके जीव दोनों ही समान हैं । क्योंकि दोनों अकर्मक हैं । इसलिये पीछेसे सबन्ध पैदा होना माना जाय, तो दोनोंमें मानना चाहिये । और ऐसा माननेमें तो मोक्षके जीव तथा संसारी जीव ऐसे दो भेद ही नहीं होसकते । अथवा यों कहिये कि–मोक्षके जीवोंको कर्मोका सबन्ध होनेसे ससारी कहे जायेंगे, और ससारी जीवोंको कर्मका सबन्ध नहीं होनेसे मोक्षके जीव कहे जायेंगे । इस लिये यह प्रथम पक्ष बिलकुल अनादरणीय है ।

अब 'प्रथम कर्म और पीछे जीव है,' ऐसा दूसरा पक्ष मानोगे, तो भी दूषण ग्रस्त है । क्योंकि इसमें भी बहुत दोष हैं । देखिये, कर्म शब्दका यही अर्थ है कि 'क्रियते इति कर्म' याने जो किया जाय सो ही कर्म कहलाता है । इससे मालुम होता है कि–इसके पहिले करने वाला अवश्य होता है। क्योंकि, करनेवालेके न होनेसे ' कर्म ' यह बोलना ही अयुक्त है । इस लिये दूसरा पक्ष भी अनादरणीय है । अब तीसरा जो

युगपत् पक्ष है, सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि साथ उत्पन्न होने वाले पदार्थमें कर्म-कर्तृभाव नहीं घट सक्ता है। जैसे साथ उत्पन्न होने वाले गौके शृगमें नहीं वोल सक्ते हैं कि यह शृग कर्ता है। और वह 'कर्म' है। ऐसा व्यवहार नहीं होता है। इस लिये युगपत् पक्ष भी निरादरणीय है। इस तरहसे जीवके साथ कर्मोंका आदिमान् सबन्ध तो कोई भी नहीं मान सक्ता है। अब रहा अनादिपक्ष। उसमें तो मोक्षका ही अभाव है। क्योंकि, जिसके साथ नित्य सबन्ध होता है, उसका छुटना ही असभव है। जैसे जीवके साथ आकाशका।

इस प्रकारसे सबन्ध नित्य होनेसे जब छूटेगा नहीं, तब मोक्ष कैसे बनेगा?। इसको आप ही विचारिये।

वास्तवमें बात यह है कि–जीवके साथ कर्मोंका अनादि सबन्ध है। क्योंकि देखिये, शरीर कर्मका सतान अनादि है। इन दोनोंका आपसमें कार्यकारणभाव है। जैसे बीजाकुर। पहिलेका बीज आगे होनेवाले अंकुरका कारण है। और पूर्वके अकुरका कार्य है। इस तरहसे अकुर भी पूर्वके बीजका कार्य और पश्चात् होनेवाले बीजका कारण है। इसी प्रकारसे शरीर भी आगे होने वाले कर्मका कारण है, और पूर्वके कर्मका कार्य है। ऐसे ही कर्म भी आगे होने वाले शरीरका कारण है, और पूर्वके शरीरका कार्य है। इसी प्रकारसे शरीरसे कर्म और कर्मसे शरीर, इसी तरह शरीर–कर्मोंका संतान अनादि कालका है। अब, जब कर्म सतान अनादि सिद्ध हो गया, तब उसका करनेवाला भी होना चाहिये। इसका उत्तर यह है कि, कर्मोंका करनेवाला जीव है। क्योंकि, शरीर रूपी करणसे युक्त है। जैसे कुलाल, दडादि रूप करणसे युक्त होनेसे घटादि कार्योंका कर्ता है, वैसे ही शरीर रूप करणसे युक्त होनेके बाद आत्मा कर्म रूपी कार्यको कर्ता है।

बस इसी प्रकारसे शरीरको भी करने वाला जीव ही है। जैसे, दडादिरूप करणसे युक्त होनेके बाद कुलाल घटको करता है। इस तरहसे जीव भी कर्म रूप करणसे युक्त होनेके बाद शरीर रूप कार्यको करता है। यदि यहाँ कोई शका करे कि, अतीन्द्रिय कर्मोंमें करणत्त्व कैसे घटेगा, इसका उत्तर यह है कि, कार्यके द्वारा कर्मके अन्दर भी करणत्त्व है। कोई भी कार्य, कर्ता और करणके सिवाय नहीं बन

सक्ता। जैसे घट रूप कार्यका कर्ता कुलाल है। और करण दंडादि है। इसी तरहसे शरीर रूप कार्यका कर्ता जब जीव है तब, उसका करण भी होना ही चाहिये। और जो, शरीर रूप कार्यका करण है, उसीका नाम कर्म है। एवं जितनी दानादि क्रियाएं ? हैं, वे सभी फलवाली हैं। क्योंकि वे जीवकी की हुई होती हैं। कृष्यादि क्रिया मनुष्य करता है। इस प्रकारसे जो दानादि क्रियाका फल है, उसीका नाम ही कर्म समझना।

दूसरा प्रश्न यह है कि:—'जिसके साथ संबन्ध अनादि होता है, उसका नाश नहीं होता है।' इसके उत्तरमें भी यही कहा जाता है कि, जो अनादि है, उसका नाश नहीं है, ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि, बहुत चीजोंके आपसमें अनादि संबन्ध होने पर भी उसका नाश देखनेमें आता है। जैसे, बीजके साथ अंकुरका। क्योंकि, बीजके जल जानेसे अथवा सड जानेसे अंकुर भी नहीं होता है। ऐसे ही अंकुरके भी जलनेसे अथवा सडनेसे बीज नहीं होता। इस लिये समझना चाहिये कि, अनादि संबन्धका नाश नहीं ही होता है, ऐसा नहीं है। ऐसे ही सुवर्णके साथ मृत्तिकाका और कुक्कुटके साथ अंडेका संबन्ध। इत्यादि बहुतसी चीजोंमें अनादि संबन्ध होने पर भी नाश देखनेमें आता है। बस, वैसे ही जीवके साथ कर्मका संबन्ध अनादि होने पर भी तपःसंयमादिसे नाश होता है। और भी देखिये। जैसे तालावमें जलके, आनेका दरवाजा रोकनेसे नवीन जल आनेका तो संभव ही नहीं है, और भीतरका जल, खरच करनेसे अथवा सूर्यके तापसे खाली होता है। ऐसे ही संयमादि पालनेसे नूतन कर्मोंके बन्ध होनेका संभव ही नही है। और तपस्यादि करनेसे पूराणे कर्म छूट जाते हैं। अब बतलाइये, मोक्ष होनेमें क्या शक है ? । इस लिये अनेकान्तवादमें, मोक्षका अभाव नहीं है। और आप लोग भी, जैसे प्रागभावको अनादि होने पर भी पदार्थके पैदा होनेके बाद उसका नाश मानते हो, तो फिर यह न्याय नही है कि, स्वदोपको न देखकर परको दूषित करना। इस लिये अनेकान्तमतही श्रेष्ठ है।

अब यहाँ पर जीवोंके विषयमें कुछ विवेचन करना आवश्यक समझा जाता है। सामान्य रीतिसे जीवोंके दो भेद हैं:—मोक्षावस्थाके और २ संसारावस्थाके।

इसमें, संसारावस्थाके जीवोंके दो भेद हैं —१ त्रस २ स्थावर। इनमें त्रसके चार भेद हैं। दोइन्द्रियवाले, २ तीन इन्द्रियवाले, ३ चार इन्द्रियवाले और ४ पांच इन्द्रियवाले, इनमें स्पर्शन तथा रसना रूप दो इन्द्रियवाले जलोका—शंख प्रमुखादि जीव हैं इनमें एक नासिकाके मीलानेसे तीन इन्द्रियवाले कीडी—मकोडे तथा मत्कुण वगैर जीव हैं। इनमें चक्षुरिन्द्रियके मिलानेसे चार इन्द्रियवाले मक्खी—भ्रमर—बीच्छु वगैर जीव हैं। तथा कानके मिलानेसे पंचेन्द्रियवाले देवता—मनुष्य—तिर्यंच ए नारकीके जीव हैं। ये तो त्रसके भेद हुए। इस तरहसे स्थावरके भी पा भेद है.—१ पृथिवीकायिक, २ अप्कायिक, ३ तैजस्कायिक, ४ वायुकायिक तथ ५ वनस्पतिकायिक।

यहां पर बहुतसे लोग इन स्थावरमें जीव नहीं मानते हैं, इसलिये उनमें जीवकी सिद्धिका उपाय दिखलाना आवश्यक समझा जाता है।

"लवणविद्रुम और पाषाणादि जो पृथिवी है, वह अपनी उत्पत्तिके स्थानमें रही हुई सचेतन है। क्योंकि इसके छेदन—भेदन करने पर भी फिर उसी स्थानमें समान जाति वाले अंकुरको पैदा करती है। मसा अर्थात् अर्श मांसके अंकुरकी तरह वह अंकुरवाली होती है। इस तरहसे पृथिवीकायिक मालमें जीवकी सिद्धि समझना।

अब अप्कायिकको देख लीजिये। जो जल है, वह सचेतन है। क्योंकि शस्त्रसे अनुपहत होने पर भी उसमें द्रवत्वपना है। जैसे अंडेके बीचमें रहा द्रवा कलल रूप जल जीवमय है, वैसेही समग्र जो जल है, वह भी जीवरूप ही है। जब इस प्रकारसे जलमें जीवकी सिद्धि हुई, तब हिमादि जीवमय है, यह बात अनायास सिद्ध होती है। इसके सिवाय खोदी हुई भूमिमेंसे स्वाभाविक निकला हुआ जल भी मंडुककी तरह जीवमय ही है। एवं अभ्रादिके विकार होने पर स्वयमेव मीलकर आकाशमें गिरा हुआ जल भी मत्स्यकी तरह जीवमय ही है।

अब तैजस्कायिकको देखिये। अंगारादिका जो प्रकाश रूप परिणाम है, वह आत्माके संयोगसे पैदा हुआ है। जैसे खद्योतके शरीरका प्रकाश अथवा जैसे ज्वरकी उष्णता जीवके प्रयोगके सिवाय नहीं बन सकती है, ऐसे ही अग्निकी उष्णता भी जीवके प्रयोगसे ही होती है।

अब वायुकायिक। वायु भी सचेतन है। क्योंकि, उसका दुसरेकी प्रेरणासे तीर्यग्-ऐसी अनियमित दिग्में गतिमत्त्वपणा है। जैसे गवाक्षादि। और जो अनियमित तीर्यग् गमनमें प्रेरणा करनेवाला है, वही वायुकायिक जीव कहलाता है।

वनस्पतिकायिक जीवको सिद्धि इस तरह है:–जो वनस्पति है,वह सभी सचेतन है। क्यों कि, उसमें जन्म–जरा–जीवन–मरण–तथा क्षत होना तथा प्रतिनियत वृद्धि होना एवं आहार–रोग--चिकित्सा वगैरहका सद्भाव देखनेमें आता है। जैसे स्त्री–पुरुषोंमें जन्म–जरा–मरण–क्षत होना, प्रतिनियत अवयवोंकी वृद्धि होना तथा आहार-रोग-चिकित्सा वगैरह देखनेमें आनेसे जीव माना जाता है, वैसे वनस्पतिमें भी देखनेमें आता है, इस लिये वह भी सचेतन ही है

दूसरी तरहसे भी देखिये। बकुल-अशोक-चंपकादि अनेकों वनस्पतियोंके शरीर,मनुष्यके शरीरके समान धर्मवाले मालम होते हैं। इससे भी उनमें जीव प्रयत्नका अस्तित्व मालम होता है। जैसे पुरुष शरीर, बाल-कुमार-युव-वृद्धत्वादि परिणामवत्त्व होनेमें सचेतन है, वनस्पतिका शरीर भी वैसा होनेसे सचेतन समझना चाहिये। तथा जैसे मनुष्यका शरीर निरन्तर बाल्य युवादि अवस्था विशेषसे प्रतिनियत वृद्धिको पाता है, वैसे वनस्पतिका शरीर भी किसलय–शाखा तथा प्रशाखादि विशेषमें प्रति नियत वृद्धिको पाता है। तथा, जैसे मनुष्यका शरीर ज्ञानसे अनुगत है वैसे वनस्पतिका शरीर भी है। जैसे वट–पिप्पल–निंबादि वृक्षको प्रावृट् ऋतुके मेघका शब्द तथा शीतल वायुके स्पर्शसे अकुरका उद्भव होता है। तथा कामिनीके नूपुर सहित सुकुमाल पाँकें ताडनेसे अशोक वृक्षके पल्लव तथा कुसुमका उद्भेद होता है। एवं युवती स्त्रीके आलिंगनसे पनसको भी पल्लव–कुसुमका उद्गम होता है। सुगन्धि मदीराके कुगले करनेमे बकुलके वृक्षको कुसुम वगैरहका उद्भव होता है। सुगन्धिवाले निर्मल जलके सिंचनसे चंपेके वृक्षको कुसुमादिका प्रादुर्भाव होता है। पंचमस्वरके उद्गारसे शिरीषको भी होता है। इस तरह मनुष्यकी तरह ज्ञान भी उसमें देखनेमें आता है। तो फिर वनस्पतियाँ सचेतन ही हैं, ऐसा माननेमें किसी प्रकारसे सत्य विरुद्ध नहीं दीखता। इस प्रकारसे स्थावर भी जीवका भेद है ऐसे मानना चाहिये।

अब अजीव द्रव्यके विवेचनको देखिये। इस अजीव द्रव्यके पांच भेद पहिलेहीं दिखलाये हैं। अब, उनको कुछ स्वरूप वर्णन करें। जो गति और स्थिति परिणामसे

परणित होते हुवे, जीव और पुद्गलकी गति तथा स्थितिमें सहाय देनेवाले हैं, उनका नाम धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय है। अर्थात् जीव-पुद्गलको गतिमें सहाय करने वाला धर्मास्तिकाय है। ओर जीव पुद्गलकी स्थितिमें सहाय करने वाला अधर्मास्तिकाय। जैसे मत्स्यादिको गतिमें सहाय करने वाला जल है, और छायार्थिको स्थितिमें सहाय देनेवाली छाया है। इसी तरह धर्मास्तिकायादि भी हैं।

इन दोनों पदार्थोंके विषयमें बहुत लोग यह आशंका करते हैं कि-"आकाश सर्वगत याने व्यापक है, तो फिर उसीको ही गति-स्थितिमें सहाय देनेवाला क्यों न माना जाय? अलग दो पदार्थ माननेकी आवश्यकता ही क्या है?।"

इसका उत्तर यह है कि-नगरमें रहे हुए घरका अधिकरण जैसे नगर है। वैसे धर्मास्तिकायादि पांचो द्रव्यकी, आकाशमें अधिकरणता होनेसे, कार्य नहीं चल सकता है। क्यों कि दूसरेका धर्म, दूसरेमें नहीं माना जा सकता है। और यदि ऐसा ही माना जाय, तब तो फिर, तेजका गुण पृथिवीमें भी मान लेना चाहिये। इस लिये यह शंका ठीक नहीं है।

दूसरी भी बात है। यदि धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय न माना जाय, और आकाश हीसे निर्वाह किया जाय, तो, जैसे मत्स्यकी गति जलरूप सहायक द्रव्यके होनेसे होती है, वैसे मत्स्यकी गति, जलकी अविद्यमानतामें आकाशरूप द्रव्यकी सहायतासे पृथिवी पर भी होनी चाहिये। और होती तो नहीं है, इससे सिद्ध है कि-मत्स्यकी गतिमें सहायक आकाश नहीं, किन्तु जल है। उस तरह जीव पुद्गलकी गति स्थितिमें सहायक आकाश नहीं किन्तु धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय है।

अब यदि कोई यह कहे कि "जैसे मत्स्यादिकी, जलरूप बाह्यकारण होनेसे गति होती है, वैसे सभी गति-स्थितिमान् पदार्थोंकी गति-स्थितिमें बाह्य कारण मानना चाहिये। अर्थात् उन पदार्थोंकी गति-स्थिति धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकायाधीन नहीं है।"

इसका उत्तर यह है कि-पृथिव्यादि रूप अधिकरणके विद्यमान होने पर भी, जैसे, सभी पदार्थोंका साधारण अधिकरण आकाश मानते हैं, वैसे ही मत्स्यादिकों, जलादिरूप बाह्य कारणके विद्यमान होने पर भी सभी जीवादि पदार्थोंकी गति-स्थितिमें साधारण कारणरूप धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकायको ही मानना चाहिये।

अच्छा, अब यदि यह कहा जाय कि–" तुल्य बलवाले कुत्ते, लाई हुई रोटीको खींचकर, जितने क्षेत्रमें एक ले जाता है, उतने ही क्षेत्रमें दूसरा भी ले जाता है। इसमें गति–विधानके विषयमें किसीका उत्कर्ष तथा अपकर्ष नहीं हो सकता है। वैसे ही धर्माधर्मके जगत्व्यापित्व होनेसे, जिस समय, जीव–पुद्गल धर्मास्तिकायकी सहायतासे गमन करते हैं, उस समय ही अधर्मास्तिकायकी सहायतासे स्थिति होनी चाहिये। और जब अधर्मास्तिकायकी सहायतासे स्थिति होती हो, उस समय ही धर्मास्तिकायकी सहायतासे गति होनी चाहिये। अर्थात् न गतिका ठिकाना रहा, न स्थितिका।"

इसका उत्तर यह है कि–जैसे, गति परिणाममें समर्थ ऐसे खंजपुरुषको लट्ठी [यष्टि] सहाय करनेवाली होती है, किन्तु गतिको करानेवाली नहीं होती। यदि लट्ठीमें गति करानेकी शक्ति होती तो, सोते हुए अथवा मूर्च्छित मनुष्यको भी, लट्ठीके संबन्धसे चलते हुए हम देख लेते। उसी तरह देखनेमें समर्थ नेत्रोंको प्रदीप सहाय देनेवाला है, परन्तु दर्शनको करानेवाला नहीं। यदि प्रदीपमें दर्शन करानेकी शक्ति होती, तो अन्धमनुष्यके पास दीपकके रखनेसे, वह भी सब चीजोंको देख लेता। बस, उसी तरह गत्यादि परिणामसे परिणत हुए जीव–पुद्गलको, धर्मास्तिकायादि गत्यादिमें उपग्राहक हैं। नहीं कि गत्यादिके कर्ता हैं। और ऊपर जो कुत्तेका दृष्टान्त दिया है, वहाँ तो खास गत्यादिका करनेवाला ही होनेसे दोष आता है। और यहाँ तो केवल उपग्राहक ही है। इसलिये कोई भी दोषका सभव नहीं है। तथा जैसे उत्कृष्ट गति–स्थिति रूप क्रिया परिणामके सामर्थ्यसे पक्षिको जलादि तुल्य बाह्य उपग्राहकके न होने पर भी धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय रूप द्रव्यकी सहायतासे गति–स्थिति होती है, वैसे ही सभी द्रव्यको धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकायकी सहायतासे गति–स्थिति होती है। इसमें किसी प्रकारकी शकाका अवसर नही है।

अब यदि यहाँ कोई यह कहेंगे कि, " उपयोग स्वभाववाला जो जीव है, वह तो स्वसंवेदन करके संवेद्य होनेसे उसको मानना ठीक है, परन्तु देखनेमे कभी नही आते हुए और अचेतन ऐसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकायको क्यों मानना चाहिये?"

इसके उत्तरमें भी यही कहा जाता है कि, ऐसा नियम नहीं है कि, जो देखनेमें न आवे उसको न मानना। ऐसा मानेंगे तो फिर आपके पूर्वजोंको भी नहीं

मानने चाहिये। तथा ईश्वर को भी नहीं मानना चाहिये, क्योंकि वे भी तो कभी देखनेमें नहीं आते।

सज्जनो! संसारमें अनुपलब्धि दो प्रकारकी है। एक वन्ध्या पुत्रकी तरह असत् पदार्थकी। और दूसरी सत् पदार्थकी। इनमें, सत् पदार्थकी अनुपलब्धिके बहुत भेद हैं। जैसेः—बहुत दूर देशमें गया हुआ मनुष्य देखनेमें नहीं आता है, परन्तु उसका अभाव नहीं माना जाता। यह भी एक अनुपलब्धि ही है। इस तरह बहुत काल पर हो जानेसे भी अनुपलब्धि कही जाती है। जैसे राम—रावणादि। एवं बहुतोंकी तो स्वभावसे ही अनुपलब्धि है। जैसे भूत—पिशाचादि। इतना ही क्यों? बहुतसी ऐसी वस्तुएं हैं, जो पास होने पर भी देखनेमें नहीं आतीं। जैसे आंखकी कीकी। इसके सिवाय देखिये, इन्द्रियके नाश होने पर भी देखनेमें नहीं आता है। जैसे अन्धेको रूपादि। सूक्ष्मपना होनेसे भी बहुत वस्तुएं देखनेमें नहीं आतीं। जैसे परमाणु आदि। इस तरहसे अनेक पदार्थकी अनुपलब्धियाँ देखनेमें आती हैं। तो फिर क्या उन चीजोंकी अनुपलब्धि होनेसे उनको नहीं मानना? । मानना ही चाहिये। अनुपलब्धि होनेसे क्या? अच्छा, इसके उपरान्त अनुमान प्रमाणको भी देखिये।

गत्यादि रूपसे परिणत हुए जीव—पुद्गलकी जो गति-स्थिति है, वह स्वयमेव अपने परिणामके आविर्भाव होनेपर पारिणामिक, निर्वर्तक एवं निमित्तकारणसे भिन्न जो उदासीन कारण कोई एक है, उसकी अपेक्षा करनेवाली है। क्योंकि, अस्वाभाविक पर्यायपना होने पर भी कदाचित् सद्भाव होता है।

मत्स्यके दृष्टान्तमें, उदासीन कारण जो जल है, उसकी अपेक्षासे स्व स्वरूपको लाभ करनेवाली मत्स्यकी गति होती है, इस तरहसे यहाँ भी जो तीनों कारणोंसे अतिरीक्त उदासीन कारण है, उसीका नाम ही धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय अथवा स्वयमेव गति—स्थिति परिणत द्रव्यको सहाय देनेवाला धर्माधर्म द्रव्य है। क्योंकि, यहाँ अपेक्षा कारण हैं।

सज्जनो! यद्यपि यहाँ बहुत वक्तव्य है, परन्तु निबंधके बढ़ जानेके भयसे संक्षेपसे कहा गया है।

अब आकाशकी सिद्धिकी तरफ ख्याल किया जाता है। संसारमें देखनेमें आता है कि–जितनी मूर्तिमान् चीजें हैं, वे सब किसी न किसी आधारपर रही हुई हैं। जब ऐसाही है तब पृथ्व्यादि पदार्थका आधार कोई न कोई होनाही चाहिये, यह स्वाभाविक बात हैं। जैसे जलका आधार घटादि है, वैसे उसका जो आधार है, उसका नाम ही आकाश है। इसके सिवाय अवकाश दातृरूप लक्षणसे भी आकाशकी सिद्धि होती है। यहाँ पर कई लोक कहते हैं कि, "शब्द गुण होनेसे आकाशकी सिद्धि है।" लेकीन यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि, शब्द तो पुद्गलका परिणाम रूप है। अर्थात् शब्दमें मूर्तिमत्त्वपणा है। और इसकी जो मूर्तता है, सो तो हृदय, कंठ, शिर, जिह्वामूल तथा दन्तादि रूप द्रव्यान्तरके विकार होनेसे स्पष्ट मालुम पडती है। इसलिये शब्द आकाशका गुण नहीं है; किन्तु पुद्गल परिणाम विशेष है।

अब कालके विषयको देखिये। **वर्तना परिणाम क्रिया परत्व** तथा **अपरत्व** ये सब कालके लिंग हैं। इनमें वर्तनेवाला जो पदार्थ है, उसकी प्रयोजिका और कालको आश्रय करनेवाली जो वृत्ति है उसका नाम ही **वर्तना** है। अर्थात् प्रथम समय है आश्रय जिसका ऐसी स्थितिका नाम वर्तना है। द्रव्यार्थिक नयकी अविवक्षा होनेसे जीवाजीव जो द्रव्य हैं, उसके स्वाजात्यको त्याग नहीं करता हुआ, पर्यायार्थिक नयकी विवक्षासे प्राधान्यको धारण करता हुआ, तथा पूर्व पर्यायकी निवृत्ति पूर्वक कोई एक पर्यायसे आविर्भावको धारण करता हुआ प्रयोग विस्सा लक्षण जो विकार है, उसका नाम ही **परिणाम** है। अर्थात् अपनी जातिको नहीं छोडता ऐसा जो पूर्व पर्यायकी निवृत्ति पूर्वक नूतन पर्यायको धारण करना है उसका नाम ही परिणाम है। जैसे वृक्षको, अंकुरादि अवस्थाकी निवृत्ति पूर्वक शाखा तथा प्रशाखादि अवस्थाको प्राप्त करना है, उसका नाम परिणाम है। इस तरहसे पुरुषके, बाल–कुमार–युवावस्था रूप परिणाम; एवं घटको, स्थास-कोश-कुशूल-कपाल-घटादि रूप परिणाम है। ऐसे समस्त चीजोंमें भी समझना चाहिये। इस परिणामके दो भेद हैं। एक **अनादि** दूसरा **सादि**। इनमें अनादि परिणाम विमानोंमें तथा मेर्वादिमें है। और सादि परिणाम अभ्रविकारमें तथा इन्द्रधनुरादिमें है। तथा इस तरहसे घटादिमें भी समझना। अब बाह्य तथा अभ्यन्तर रूप निमित्तके वशसे द्रव्यमें पैदा होने वाली परिस्पन्द स्वरूप। जो है, उसीका नाम है **क्रिया**। क्रिया के दो भेद हैं। **प्रयोगनिमित्ता**, जो कि शकटादिमें

है। और विस्रसा निमित्ता, जो कि मेघादिमें है। इनमें काय, वचन तथा मनके व्यापारको 'प्रयोग कहते हैं। तथा स्वभावको विस्रसा कहते है । इस क्रियाका जो अनुमाहक हैं । उसीका नामही काल है । तथा यह उससे बडा है, यह उससे छोटा है, इस व्यवहारमें जो हेतु हैं, उसीका नाम ही काल है । और कालके माननेसेही 'घट नष्ट हुआ' ' सूर्यको देखता हूँ ' 'वृष्टि होगी' इत्यादि व्यवहार होता है । अन्यथा इस व्यवहारका दूसरा कोई निमित्त नहीं है । वर्तनाद्युपकारसे अनुमेय जो काल द्रव्य है, वह मनुष्य क्षेत्रमें है। अर्थात् मनुष्य क्षेत्रसे वहार काल द्रव्य नहीं है। क्योंकि, सद्भाव तो स्वयमेव ही उत्पन्न होता है। नष्ट होता है। अवतिष्ठमान है । तथा भावमें जो अस्तित्व है, वह 'स्व' सेही है । किन्तु कालकी अपेक्षा करनेवाला नहीं है । और परत्वापरत्वपना भी चिरस्थितिकी अपेक्षा करनेवाला है । एवं स्थिति, अस्तित्वकी अपेक्षा करनेवाली है। तथा अस्तित्व स्वतः ही सिद्ध है । इस लिये मनुष्य क्षेत्रके भीतर ही काल है, वहार नहीं, ऐसा माननेमें किसी प्रकारकी हानि नहीं दिख पडती है ।

अब पुद्गलके स्वरूपको देख लीजिये ।

जो पूरण–गलन स्वभाववाला है, उसका नाम पुद्गल है । अथवा यों कहिये कि, रूप–रस–गन्ध तथा स्पर्शवान् जो है, सो ही पुद्गल है । इनमें बहुतसे प्रत्यक्ष गम्य हैं, जैसे घट–पटादि । बहुतसे अनुमानादि गम्य हैं, जैसे अणुकादि–स्कन्धके द्वारा परमाणुआदि । एवं बहुतसे आगमगम्य भी है । जैसे कार्मणादि वर्गणाएं ।

अब उनमें दर्शनान्तरसे विशेषता दिखलाई जाती है । जैसे वैशेषिकादि लोगोंने पार्थिव परमाणुमें रूप-रस-गन्ध तथा स्पर्श ये चार गुण, जलके परमाणुमें रूप रस तथा स्पर्श ये तीन गुण, तेजके परमाणुमें रूप तथा स्पर्श ये दो गुण; एवं वायुके परमाणुमें केवल स्पर्श गुण ही माना है । जैन दर्शनमें ऐसा नहीं माना है । जैन मतमें, जल, तेज तथा वायु ये तीनोंमें उपर्युक्त चारों गुणोंकी विद्यमानता मानी हुई है । क्योंकि, जो जो स्पर्शवाला है, वह इन चारों गुण करके युक्त है। जैसे पृथिवी। उसी तरह जल, तेज, तथा वायु भी स्पर्शवाला होनेसे रूपादि चारों गुण युक्त है, ऐसा माननेमें किसी प्रकारका विरोध दिखता नहीं है । इसके सिवाय मन भी स्पर्शवाला है। क्योंकि, इसमें असर्वगत द्रव्यत्वपना है । पार्थिव परमाणु की तरह । अब उन चारों गुणोंके अवान्तर भेद भी दिखलाये जाते हैं ।

मृदु-कठीन-गुरु-लघु-शीत-उष्ण-स्निग्ध तथा रुक्ष ये आठ भेद स्पर्शके है। इनमेंसे, परमाणुमें स्निग्ध–रुक्ष–शीत तथा उष्ण ये चार ही स्पर्शका संभव है। तथा स्कन्धोंमें तो आठों ही रहते हैं।

रसके पांच भेद हैं:–तिक्त–कटु–कषाय–आम्ल और मधु। गन्धके दो भेद हैं:– सुरभी और दुरभी। एवं वर्णके पांच भेद हैं:–काला–नीला–लाल–पीला तथा सफेद। इसमें मूल भेद चार और अवान्तर वीश हैं। तथा पुद्गल शब्द-बन्ध-सूक्ष्मपना-स्थूलपना–तथा संस्थान–भेद–तमः–छाया–आतप तथा उद्योतवाला भी है। देखियेः–शब्द पुद्गलके परिणाम रूप है। क्योंकि, उसमें मूर्तत्वपना है। जैसे पिप्पल्यादि द्रव्य। तथा नक्कारादिके बजानेसे उसके नीचे प्रकंप भी मालुम होता है। तथा बहुत जोरसे जब शंखादिको बजानेमें आता है, तब सूननेका सामर्थ्य भी नहीं रहता, और बधिर जैसे मालुम होता है। विशेष क्या कहना? आज कल तो फोनोग्राफने प्रत्यक्ष ही शब्दमें द्रव्यता–पुद्गलता सिद्ध कर दी है। अब वायुसे प्रेर्यमाण होनेसे आकाशका गुण भी नहीं है। जैसे तृणादि। प्रदीपकी तरह सभी दिशाओंमें, उसका ग्रहण भी होता है, सूर्यके तेजसे जैसे तारागणका अभिभव होता है, वैसे ही बडे शब्दसे छोटे २ शब्दका अभिभव देखनेमें आता है, इस कारणसे भी पुद्गलपरिणाम रूप ही शब्दको मानना चाहीये।

अब बन्धके ऊपर कुछ कहा जाता है। आपसमें एक रूपसे मील जानेको ही बन्ध कहते हैं। इसके तीन भेद हैं:–उसमें जो प्रयोग निमित्तक है, सो प्रायोगिक कहलाता है। जो वीस्रसानिमित्तक है, सो वैस्रसिक कहलाता है। तथा तीसरा मीश्र है। इसमें प्रयोगि बन्धका विषय, औदारिकादि शरीर तथा जतु काष्ठादि है। वैस्रसिकबन्धका विषय, मेर्वादि तथा विद्युतादि है। तथा मिश्रबन्धका विषय, स्तंभ कुंभादि हैं। ये तीनों बन्ध स्निग्ध तथा रुक्ष गुणवाले पुद्गलोंसे होते हैं। सूक्ष्मपना दो चालका है। एक अन्तिम तथा दूसरा आपेक्षिक। इनमें अन्तिम सूक्ष्मपना परमाणुमें है। तथा आपेक्षिक सूक्ष्मपना तो सभी चीजोंमें है। जैसे आम्रकी अपेक्षासे नींबु सूक्ष्म है। इस तरह स्थूलपनेको भी जान लेना चाहिये। इनमें अन्तिम स्थूल तो अचित्त महास्कंध

है । आपेक्षिक स्थूलपना नींबुकी अपेक्षासे आम्रमें है । इस तरहसे सब जगह समझ लेना ।

इसके बाद, सस्थानको देखिये । सस्थानके पाच भेद हैं । १ वृत्त, २ चतुरस्र, ३ त्र्यस्र, ४ आयत, तथा ५ परिमंडलाकार । अब, आगे पाच प्रकारके भेद दिखलाये जाते हैं:—१ उत्कर, २ चौर्णिक, ३ खड, ४ प्रतर तथा ५ अनुचटन। इनमें करवतसे काटनेके बाद, जो काष्ठकी भुकनी नीकलती है, उसको उत्कर कहते हैं। धान्यके पीसनेपर जो आटा नीकलता है, उसको चौर्णिक कहते है । घडेके टुकडोंको खंड कहते है। अबरकके भीतरसे एकके पीछे एक ऐसे जो क्रमसे पडदा नीकलताहै, उसको प्रतर बोलते हैं। तथा तपाये हुऐ लोहके गोलेके कूटने पर उसमें जो अग्निके कण निकलते हैं, इसको अनुचटन कहते हैं ।

अब तमको देखिये। दृष्टिके प्रतिघातमें जो कारण है, उसका नाम ही तम है। यह तम भी पुद्गलके परिणामरूप ही है। क्योंकि, इसमें दृष्टिका प्रतिघातपना है । जैसे पटमें है । इसके सिवाय प्रकाशके आवरणमें जो निमित्त है, उसीको ही छाया बोलते हैं। यह छाया भी पुद्गलके परिणाम रूप है । क्योंकि, इसमें ठडापणा मालूम होता है । जैसे जलमें मालूम होता है । इस छायाके दो भेद हैं.— १ तद्वर्णविकाररूपा २ प्रतिबिंबमात्ररूपा । इनमें स्वच्छ दर्पणके भीतर जो मुखकी छाया पडती है, सो तद्वर्णरूप परिणामसे परिणत होनेसे तद्वर्ण विकार रूपा है । तथा जिसमे साफ आकृति मालूम नहीं होती है—केवल प्रतिबिंब मात्र ही मालूम होता है, उसको प्रतिबिंबमात्ररूपा बोलते है ।

अब उष्णप्रकाश स्वरूप जो है, उसको आतप कहते हैं। इसका विषय सूर्यबिंबमें है । और उद्योतका विषय चन्द्र–मणि तथा खद्योतादि में है । इनमें विशेष सिर्फ इतनाही है कि, स्पर्श, रस, गन्ध, तथा वर्ण जो है, वे तो परमाणु तथा स्कंध इन दोनोंका पर्याय है । और शब्दादि जो है, सो तो केवल स्कंधका ही पर्याय है ।

प्रिय सज्जनो ! आप लोगोंका समय बहुत लिया । तिसपर भी मैं तो यही कहूँगा कि–पदार्थकी व्यवस्था मैंने कुछ भी नहीं दिखलाइ है । जहाँ जैनसाहित्यरूप महासागरमें, पदार्थ व्यवस्थाके हजारो ग्रन्थ बने हुए हैं, उसके आगे मेरे ये टूटे–फूटे साढे तीन शब्द किस गिनतीके हैं ? मैं दावेके साथ कह सकता हूँ कि–जैनसाहित्यमें जैसी पदार्थकी व्यवस्था दिखलानेमें आई है, वैसी और किसी साहित्यमें नहीं दिखलाई है। यह मेरी अत्युक्ति नहीं है । परन्तु जहाँतक मैंने देखा है, ऐसा ही अनुभव करनेमें आया है ।

आजकल लोगोंकी दृष्टि, ऐतिहासिकादि विषयोंकी तरफ अधिक झुकी हुई देखनेमें आती है। बहुत अच्छी बात है। जमानेके अनुसार उन विषयोंकी बहुत आवश्यक्ता है, परन्तु पदार्थ व्यवस्था जैसे विषयोंको भी भूल नहीं जाना चाहिये । साहित्यकी अथवा यों कहोकि–दर्शनकी मुख्य पुष्टता पदार्थ–व्यवस्था के ऊपर रही हुई है । और इसी वजहसे जैनसाहित्यके खजानेमेंसे पूर्वाचार्यों कृत हजारों ग्रन्थ पाये जाते है ।

अन्तमें इस विषयमें विशेष जाननेकी इच्छा रखने वालोंको तत्त्वार्थवृत्ति तथा विशेषावश्यकादि ग्रन्थोको देखनेका अनुरोध करता हुआ इस लेखको यहाँ ही समाप्त करताहूँ । इति शान्तिः





शास्त्रविशारद-जैनाचार्यश्रीविजयधर्मसूरिभ्यो नमः ।

जैनसाहित्यमें इतिहासके साधन.

(लेखक-मुनिराज श्रीविद्याविजयजी.)

यह बात सुविदित ही है कि-जैनोंका प्राचीन इतिहास स्वतंत्ररीत्या लिखा हुआ नहीं मिलता । अतएव ऐसे इतिहासके लिखे जानेकी भी बहुतही आवश्यकता है, यह बात सब कोई स्वीकार करेंगे । जब यह निर्धारित हो चुका, तब ऐसे इतिहासके साधनोंकी खोज करना, यह पहिला कर्तव्य समझा जाता है। आज मैं अपनी आत्माको धन्य समझता हूँ कि-मुझे इस विषयपर लिखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ । यद्यपि मेरी यह शक्ति नहीं है कि-मैं इस विषयको पूरी चालसे लिख करके आपलोगोंके सामने उपस्थित करूं, परन्तु ' यावद् बुद्धिवलोदयम् ' इस नियमका अवलंबन करके, इस विषयपर यत्किंचित् लिखनेकी कोशिश करता हूँ । आशा करता हूँ कि इससे भी अधिक परामर्श पूर्वक लिखा हुआ लेख अन्य महानुभाव उपस्थित करेंगे ।

मेरा प्रधान विषय हैः-' जैनसाहित्यमें इतिहासके साधन ' । इसमें पहिले यह समझना समुचित होगा कि-' जैनसाहित्य कहते किसे हैं ? । यों तो ' साहित्य' शब्दसे काव्यादि ग्रन्थोंका ही बोध होता है। परन्तु यहाँ पर 'साहित्य' शब्दसे ऐसा सुकुचित अर्थ नहीं लिया गया है । यहाँ 'साहित्य' शब्दसे न्याय-व्याकरण-

काव्य–कोश–नाटक–चम्पू–आगम–प्रकरण–इतिहास और यावत् सारी द्वादशांगिका समावेश किया गया है।

यहाँपर एक बात अवश्य कहूँगा कि 'जैनसाहित्य' यह एक ऐसा विशाल क्षेत्र है कि जिसका पता लगाना हम लोगोंके लिये बडा भारी दुर्घट कार्य है। दुर्घटही नहीं, असम्भव भी दीख पडता है। संसारमें ऐसा कोई भी विषय नहीं है कि–जो जैनसाहित्यके खजानेसे न प्राप्त हो। जैनसाहित्य ऐसा विशाल है, इतनाही नहीं उत्तम भी है। इस बातकी प्रतीति उन्हीं विद्वानोंको हो सकती है, जो जैनसाहित्य रूपी महासागरमें गोता लगाते हैं। जैनसाहित्यके प्रत्येक अंग ऐसे पुष्ट हैं, कि जिनको देखकरके विद्वानोंको मुग्धही होना पडता है। जैनसाहित्यमेंसे किसी विषयको उठाकर देख लीजिये, दूसरे साहित्यकी अपेक्षासे इसमें औरही विलक्षणता मालूम होगी।

जैनोंके 'कथा साहित्य' के विषयमें डॉ० हर्टल, अपने एक आर्टिकलमें लिखते हैं.–"इंडियाका प्रायः समस्त कथा साहित्य, उचितरीतिसे जैनोंका ही है। और यह साहित्य जितना गद्यमें लिखा हुआ है, वहाँ तक सचमुच उस बोलनेमें आती हुई संस्कृत भाषामें रचनेमें आया है।"

उक्त कथनसे जैन कथा साहित्यकी उत्तमता स्पष्ट ही विदित हो जाती है। इसके सिवाय जैनाचार्य जो उपदेश देते हैं–कथाएं कहते हैं, वे नीति और सदाचारसे भरी हुई ही कहते है। इस बातको उक्त डॉक्टर साहेब यों कहते हैं:–

The Jainas always endeavoured to raise the morals of their countrymen, while Hindu authors do not shrink from most obscene stories, as is clear from the Prajapati myths in the Rgveda, in the Brahmanas, and from many stories in the mahabbarata and in the Puranas, stories which no Jaina ever world have related. (Extract from Hertel's latter tho Oc. 29-1911)

उक्त डॉक्टर साहेब जैन कथा साहित्यको ही उत्तम समझते हैं, ऐसा ही नहीं है, वे सारे जैन साहित्यको उत्तम समझते है। इस विषयमें आप एक जगह लिखते हैः—

"Now what world Sanskrit Poetry be without this large Sanskrit Literature of the Jainas! The more I learn to know it, the more my admiration rises." (Jain shasan' vol. I No. 21.)

अर्थात्–यदि यह जैनोंका महान् संस्कृत साहित्य न्यून कर दिया जाय, तो संस्कृत कविताकी क्या दशा हो? । ज्यों २ मुझे इस विषयमें अधिक जानने को मिलता है, त्यों २ मेरा सानन्दाश्चर्य बढता ही जाता है।"

सज्जनो! आप लोग इस परसे समझ गये होंगे कि–जैन साहित्यकी उत्तमता कहाँ तक बढी हुई है, लेकिन, हां! फिर भी मैं इतना तो जरूर ही कहूँगा कि, इस विषयका पता, जैन साहित्यके सिवाय देखनेके, नहीं मिल सकता है। इस लिये मै सर्व सज्जनोंसे जैन साहित्यको देखनेका अनुरोध करता हूँ।

अब मैं मेरे मूल विषय पर आजाऊं, इसके पहिले 'जैनसाहित्य' के विषयमें एक और वात कह देना आवश्यक समझता हूँ, और वह जैनसाहित्यके आदित्व–अनादित्व सम्बन्धि है। जैन सिद्धान्तानुसार, जैन साहित्य, शब्दकी अपेक्षासे आदि और अर्थकी अपेक्षासे अनादि माना जाता है। इसके लिये प्रमाण ये हैः––

समवायांगसूत्रके–२०३ पृष्ठमें इस तरहका पाठ हैः– "दुवालसंगं गणिपिडगं ण कयाइ णत्थि, ण कयाइ णासी, ण कयाइ ण भविस्सइ, भुवं च भवइ, भविस्सइ य धुवे अणाइए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे से जहा णामए पंच अत्थिकाया।"

अर्थः–गणिपिटक द्वादशांग कदापि नहीं है, ऐसा नहीं। कदापि नहीं था, ऐसा नहीं, कदापि नहीं होगा, ऐसा नहीं। अर्थात् हुआ है–होता है और होगा। हुआ करेगा। वह द्वादशांगगणिपिटक ध्रुव, आदिरहित, शाश्वत, अक्षत–अखंडित, अव्यय (नाश रहित), अवस्थित–नित्य है। तात्पर्य यह है कि–जैसे पांच अस्तिकाय–धर्मास्तिकाय–अधर्मास्तिकाय–जीवास्तिकाय–पुद्गलास्तिकाय तथा आकाशास्तिकाय नित्य–शाश्वत–ध्रुव अवस्थित हैं, वैसे यह द्वादशांग गणिपिटक भी ध्रुव–नित्य–शाश्वत है।

यद्यपि उपर्युक्त कथनसे जैन साहित्य अनादि सिद्ध है, परन्तु इस कालमे भगवान् ऋषभदेवने अपने ९८ वे पुत्रोंके उपदेशके निमित्तसे उसको कथित किया, इस अपेक्षासे आदि भी माना जाता है।

मैने पहिले ही यह बात कह दी है कि–जैन साहित्यमें सारे जैन शास्त्रोंका, यावत् द्वादशांगीका समावेश हो जाता है। और जब ऐसा ही है तब इस कालकी अपेक्षासे जैनसाहित्यके आविर्भावक ऋषभदेव भगवान् हैं और वर्तमान प्रचलित साहित्यके आविर्भावक महावीर स्वामी है। यहाँ पर यह भी समझना जरूरी है कि–ऋषभदेव कथित साहित्यमें और महावीरदेव कथित साहित्यमें कुछ भी विरुद्धता नहीं है। इन दो तीर्थंकरोंका ही क्यों? जितने तीर्थंकर होते हैं, सभीका एक समान ही उपदेश होता है।

महावीरस्वामी स्वयं श्रीमुखसे फरमाते हैं कि–" जैसे पूर्व तीर्थंकर कह गए हैं, वैसे ही मैं कहता हूँ। "

बस, इतनाही भूमिकारूप कह करके अब मैं मूल विषयपर आता हूँ। जैसे जैनसाहित्यमें, अनेकों विषयोंका समावेश है, वैसे इतिहासका भी है। 'इतिहास' शब्दकी व्युत्पत्ति शास्त्रकारोंने यों की है:–'इति' एव अर्थे, 'ह' किलार्थे–इतिह, इतिह आसीत् अत्रइतिहासः। याने ' पहिले ऐसा था, ' इस प्रकार निश्चय करे उसको इतिहास कहते हैं। जैनसाहित्यमें शृंखलाबद्ध लिखा हुआ इतिहास, जैसा कि आज कलके लोगोंको आम तोरसे उपयोगी हो, ऐसा नहीं मिलता, परन्तु इतिहासके साधन अनेकों मिल सकते हैं। ऐसे सैकडो ग्रन्थ हैं, जो प्राचीन इतिहासमें उपयोगी हो सकते हैं। ऐसे अनेकों शिलालेख भी है, जो कि–इतिहासमें अत्युपयोगी हो सकते है। उन साधनोंको इकट्ठा करके जैनइतिहासके लिखनेकी बहुतही आवश्यकता है। जैनइतिहास, जैनोंको उपयोगी हो सकता है, इतनाही नहीं, परन्तु भारतवर्षके इतिहासको भी बहुत उपयोगी हो सकता है। क्योंकि सिवाय जैन इतिहासके, भारतवर्षीय इतिहासमे न्यूनता रह सकती है। इस बातको मैं ही नहीं कहता हूँ परन्तु बडे २ पाश्चात्य विद्वान् लोग भी कहते है। एक फ्रेन्च विद्वान् डॉ० ए, गेरिनोट, अपने एक आर्टिकल, जो ' जैनशासन ' के दीवालीके खास अंकमें छपा है, में लिखते हैं कि–

" उन शिलालेखोंका तथा जैनोंके व्यवहारिक साहित्यका नियमसरका अभ्यास, भारतवर्षके इतिहासका ज्ञान प्राप्त करानेमें वडे सहायरूप हो सकेंगे । "

चाहे कोई भी शख्स भारतवर्षका इतिहास वा इतिहासके साधन लिखनेको क्यों न वैठे, परन्तु उसको जैनइतिहासके ऊपर अवश्य दृष्टि दौडानी ही पडेगी । यदि वह इस वातपर उपेक्षा करेगा, तो जैसा चाहिये वैसा इतिहास हर्गिज नहीं लिख सकेगा । भारतवर्षमें, किसी कालमें अनेकों जैनराजा हो गये हैं, सैंकडो ऐतिहासिक घटनाके स्थल मौजूद हैं और सैंकडों आचार्योंकी जीवनीयें ऐसी हैं, जो कि ऐतिहासिक घटनाओंसे भरी हुई हैं । उन सभीके वृत्तान्त जाननेके लिये जैन ऐतिहासिक ग्रन्थोकी ही खोज करनी पडेगी । आज, तक जिन्होने भारत वर्षके प्राचीन इतिहासका छोटा वडा ग्रन्थ लिखा होगा; उन्होंने अवश्य ही जैन ऐतिहासिक ग्रन्थोंके नाम लिये होंगे । अभी इ० स० १९११ में, पंडित गौरीशंकर हीराचंदजी ओझाने "भारतवर्षके प्राचीन इतिहासकी सामग्री" नामक एक छोटासा पुस्तक लिखा है, उसमें भी कतिपय जैनग्रन्थोंका उल्लेख किया है ।

सच कहा जाय तो जैनसाधुओंने जितनी ऐतिहासिक ग्रन्थोंकी रचना की है, उतनी और किसीने नहीं की । इस विषयमें साक्षरवर्य मणिलाल बाकोरभाई व्यास, अपनी ' विमल प्रवन्ध'की प्रस्तावनामें लिखते हैं:—

" ' राजतरंगिणी ' ' कीर्तिकौमुदी ' के ' कान्हडदे प्रबंध ' जेवा अपवाद बाद करीए तो आ काळना ब्राह्मण वर्गना विद्वानोने हाथे ऐतिहासिक रचना कंई थई नथी, एम कहीए तो चाले. जैनसाधुओए ए दिशामां ब्राह्मणो करतां घणुं वधारे कर्युं छे. चावडा अने सोलंकी वंशना इतिहासने माटे आपणे जैनसाधुओना आभारी छीए. विद्योत्तेजक महाराजा भोजनी कीर्ति आपणा सुधी पहोंचाडवा माटे पण जैनसाधुओनोज आपणने आभार मानवो पडशे, मुसलमानी राज्यकाळ पूर्वेनी गुजरातनी लोकस्थिति जैनसाधुओनी नोंधोथीज आपणने प्रत्यक्ष थाय छे ...."विगेरे

इससे सिद्ध है कि—ऐतिहासिक ग्रंन्थोके वनानेमे जैनसाधु, सवसे आगे वढे हुए हैं ।

अब कौनसे ग्रन्थ इतिहासके साधनभूत हैं ? इस बातको दिखलानेके पहिले यह कहना समुचित समझता हूँ कि–सारे जैनसाहित्यमें इन चार अनुयोगोंका समावेश होता है, अथवा यों कहिये कि–सारा जैनसाहित्य इन चार अनुयोगोंमें विभक्त हैः–१ चरणकरणानुयोग, २ द्रव्यानुयोग, ३ गणितानुयोग तथा ४ कथानुयोग।

इनमें कथानुयोग, जैनसाहित्यमें इतिहासके साधनोंके लिये विशाल क्षेत्र कहा जा सकता है। कथानुयोगके जितने ग्रन्थ हैं, मायः सभी ऐतिहासिक वृत्तान्तोंसे भरे हुए हैं।

मूल सूत्रोंमें, अनेक सूत्र इतिहासके साधनभूत हैं, जिनमेंसे ज्ञाताधर्मकथा, उत्तराध्ययनसूत्र वगैरह मुख्य हैं।

तीर्थंकरोंके वृत्तान्त, ऐतिहासिक रीत्या अनेक सूत्रोंमें मिल सकते हैं। जैसे महावीरदेवका वृत्तान्त, आचाराङ्ग सूत्र–द्वितीय श्रुतस्कंधके पंदरहवे अध्ययनमें तथा भगवतीसूत्रके पन्दरहवे शतकमे, एव कल्पसूत्रमें भी मिलता है श्रीपार्श्वनाथ संबन्धि यत्किंचित् वृत्तान्त, उतराध्ययन सूत्रके २३वे अध्ययनमें, निर्यावलिकामें, रायपसेणी सूत्रमें तथा सूयगडांग सूत्रमें भी है। उसी तरह सभी तीर्थंकरोंके वृत्तान्त, ऐतिहासिक रीतिसे खोज करने पर मिल सकते है।

इतना कह करके अब मैं उन ग्रन्थोंका पृथक् २ विवेचन करता हूँ, जोकि प्राचीन इतिहासके साधनभूत हैं।

१ आवश्यकनिर्युक्ति–इसके रचयिता श्रीमान् भद्रबाहुस्वामी हैं। इसमें सप्त निह्नवोंका इतिहास मिलता है। इसके सिवाय श्रीमान् देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणने आवश्यकनिर्युक्तिकी स्थविरावली, नन्दीसूत्रकी स्थविरावली तथा कल्पसूत्रकी स्थविरावलीमें आचार्योंके वृत्तान्त दिये हैं। इनमें श्रीमान्ने कल्पसूत्रकी स्थविरावलीमें आचार्योंके २ कुल–गण वगैरह दिखलाए हैं, वे बिलकुल सत्य है, इस बातका साक्षी मथुराके वे शिलालेख देते है, जिन शिलालेखोंका पुस्तक डॉ० स्मीथने छपवाया है।

२ द्व्याश्रयकाव्य--(प्राकृत) कलिकाल सर्वज्ञ श्रीमान् हेमचन्द्राचार्यने विक्रम सं० १२०० के करीव इसकी रचनाकी है। इसकी टीकाका संवत् १३०७के आसपासका है। इसका 'द्व्याश्रय' इस लिये नाम रक्खा है कि-इस काव्यमें कर्त्ताने, अपने वनाए हुए प्राकृत व्याकरणके सूत्रोंके क्रमशः उदाहरण तथा राजा कुमारपालका इतिहास दिया है। वस, इन्हीं दो आशयोंको ले करके 'द्व्याश्रय' नाम रक्खा है। इस काव्यके ८ सर्ग है और वम्बईकी संस्कृत सीरीजमें छपा है। परंतु आजकल मिलता नहीं है।

३ द्व्याश्रय काव्य–(सस्कृत) उन्हीं कलिकाल सर्वज्ञ श्रीमान् हेमचन्द्राचार्यकी यह रचना है। इसकी रचना वि० सं० १२१७के आसपास हुई है। इसमें भी दो आशय रहे हुए हैं। 'सिद्धहैम' नामक संस्कृत व्याकरणके सूत्रोंके उदाहरण तथा सोलंकी राजा मूलराजसे ले करके सिद्धराज जयसिंह पर्यन्त राजाओंका इतिहास दिया है। इस काव्यके २० सर्ग हैं। इसके ऊपर जिनेश्वरसूरिके शिष्य अभयतिलकने एक टीका भी की है। अभी यह काव्य छपा नहीं है। छपनेकी आवश्यकता है।

४ परिशिष्टपर्व–यह कृति भी उपर्युक्त श्रीमान् हेमचन्द्राचार्यकी ही है। इसमें सुधर्मास्वामी, जंबूस्वामी, श्रीभद्रबाहुस्वामी, श्रीस्थूलभद्रस्वामी, श्रीवज्रस्वामी वगैरह आचार्योंके तथा श्रीचंद्रगुप्त, सम्प्रति वगैरह राजाओंके ऐतिहासिक वृत्तान्त है। यह ग्रन्थ 'श्री जैन धर्मप्रसारक सभा, भावनगर' की तरफसे छपा है।

५ कीर्तिकौमुदी–इस काव्यके रचयिता सोमेश्वर भट्ट हैं, जो कि गुजरातके सोलंकियोंका पुरोहित था। आपने इसकी रचना वि० सं० १२८२ के करीब की है। इसमें, अणहिलपुर–पाटनमें राज्य करने वाले मूलराजसे लगा कर भीमदेव तकके सोलंकियोंका, तथा धोलकामें राज्य करने वाले अर्णोराजसे वीरधवल तकके वघेलशाखाके सोलंकियोंका संक्षिप्त वृत्तान्त है। साथ ही साथ वीरधवलके प्रसिद्ध मंत्री वस्तुपालका विस्तृत चरित भी है। यह काव्य वम्बईकी सस्कृत सीरीजमें छपा है।

६ वसन्तविलास–इसको वालचंद्रसूरिने तेरहवीं शताब्दीमें वनाया है। इसमें वस्तुपाल–तेजपालका वृत्तान्त है। छपा नहीं है।

७ धर्माभ्युदयमहाकाव्य—विजयसेनसूरिके शिष्य श्रीउदयप्रभुसूरिने तेरहवीं शताब्दीमें इसको बनाया है। १४ सर्गोंमें यह काव्य विभक्त है। इसमें वस्तुपालकी स्तुतिका उल्लेख बहुत है। जिस समयमें जैन मंदिरोंकी यात्रा करनेको संघ निकला था, उस समय यह काव्य बनाया है। इस ग्रन्थके बनानेमें निमित्त यह हुआ था कि, आचार्यको एक यक्ष तथा देवीने स्वप्न दिया था कि 'तुम ऐसा ग्रन्थ बनाओ।' बस, इसी निमित्तसे यह काव्य बनाया है। इस ग्रन्थकी रचनामें श्रीमान् नरचंद्रसूरिने भी सहायता दी है।

८ वस्तुपाल-तेजपाल-प्रशस्ति—श्रीमान् जयसिंहसूरिने तेरहवीं शताब्दीमें इसे बनाया है। इसमें भी वस्तुपाल-तेजपालकी स्तुति तथा वर्णन है।

९ सुकृतसंकीर्तन—वि० सं० १२८५ के करीब लवणसिंहके पुत्र अरिसिंहने इसको बनाया है। इसमें अणहिलवाडेको बसाने वाले राजा वनराससे लेकरके, सुभट सामंतसिंह तकके चावडोंकी- वंशावली तथा मूलराजसे भीमदेव तकका, अणहिलवाडेके सोलंकियोंका एवं अर्णोराजसे वीरधवल तकके धोलकाके वघेलोंका संक्षिप्त वृत्तान्त और वस्तुपालका विस्तृत चरित्र है। यों तो जिनहर्षका वस्तुपालचरित्र, सोमेश्वरकी कीर्तिकौमुदी, तथा अनेक प्रबन्धोंमें वस्तुपालका चरित्र देखनेमें आता है, परन्तु उन सभीमें सुकृत संकीर्तन प्रथम दरज्जेका है। क्यों कि—यह काव्य वस्तुपालके समकालीन एक जैन राजपूत अरिसिंहकी कलमसे वस्तुपालके जीवन समयमें ही लिखा गया है। अत एव पीछेसे लिखे हुए चरित्रोंसे यह चरित्र अधिक मान्य हो सकता है। सुकृतसंकीर्तनका जर्मन भाषामें भाषान्तर प्रोफेसर डॉ० बुह्लरने किया था। और उसका अंग्रेजी अनुवाद, इ० एच० बरगेसने इन्डियनएन्टिक्वेरीमें प्रकाशित करवाया था। इस काव्यके ग्यारह सर्ग हैं। प्रतिसर्गके अन्तके पांच २ श्लोक अमरचन्द्रने बना कर, उसके चतुर्थ श्लोकमें, अरिसिंहके काव्य कौशल्यकी स्तुति की है। यह काव्य अब तक छपा नहीं है।

१० हम्मीरमदमर्दन—यह एक नाटकका ग्रन्थ है। इसकी रचना वीरसूरिके शिष्य जयसिंहसूरिने वि० सं० १२८६ के करीब की है। इसमें वघेल-

राजा वीरधवलके समय की ऐतिहासिक घटनाओंका उल्लेख है। यह पुस्तक इतिहासके लिये बहुत उपयोगी है।

११ कुमारविहार प्रशस्ति—इस प्रशस्तिके कर्ता श्रीमान् वर्धमानगणी हैं। तेरहवी शताब्दीमें यह बनाई है। कुमारपालके बनाए हुए एक मंदिरकी यह प्रशस्ति है।

१२ कुमारविहार शतक—इसके रचयिता रामचन्द्राचार्य हैं। इसमें कुमारपालके बनाए हुए मन्दिरका वृत्तान्त है।

१३ कुमारपाल चरित्र—सोमेश्वर भट्टने इसको चौदहवीं शताब्दीमें लिखा है। इसमें राजा कुमारपालका चरित्र है।

१४ प्रभावक चरित्र—ऐतिहासिक विषयका यह उत्तम ग्रन्थ है। श्रीमान् प्रभाचन्द्र आचार्यने इसको वि० सं० १३३४ में बनाया है। इसमें वज्रस्वामी तथा हेमचन्द्राचार्यके मध्यमें जो २ आचार्य हुए हैं, उनके जीवनचरित्र हैं। इतना ही नहीं, परन्तु प्रसंगानुसार उन समयोंके देशोंकी स्थिति, राजाओंकी स्थिति तथा उस समयके आचार विचारोंका भी दिग्दर्शन कराया है। इस ग्रन्थमें इतने प्रबन्ध हैः—१ श्रीवज्रप्रबन्ध, २ आर्यरक्षितप्रबन्ध, ३ श्रीआर्यनन्दिलप्रबन्ध, ४ श्रीकालसूरिप्रबन्ध, ५ श्रीपादलिप्तप्रबन्ध, ६ श्रीविजयसिंहसूरिप्रबन्ध, ७ श्रीजिनसूरिप्रबन्ध, ८ श्रीवृद्धवादिप्रबन्ध, ९ श्रीहरिभद्रसूरिप्रबन्ध, १० श्रीमल्लवादिप्रबन्ध, ११ बप्पभट्टिप्रबन्ध, १२ श्रीमानतुंगसूरिप्रबन्ध, १३ श्रीमानदेवसूरिप्रबन्ध, १४ श्रीसिद्धर्षिसूरिप्रबन्ध, १५ श्रीवीरप्रबन्ध, १६ श्रीशान्तिसूरिप्रबन्ध, १७ श्रीमहेन्द्रसूरिप्रबन्ध, १८ श्रीसूर्याचार्यप्रबन्ध, १९ श्री अभयदेवप्रबन्ध, २० श्रीवीरप्रबन्ध, २१ श्रीदेवसूरिप्रबन्ध तथा २२ श्रीहेमचन्द्रसूरिप्रबन्ध।

१५ प्रबन्धचिन्तामणि—इसके कर्ता हैं मेरुतुंगाचार्य। वि० सं० १३६१ में इसको बनाया है। यह पुस्तक है तो गद्यमें, परन्तु बीच २ में पद्य भी दिये हैं। इसमें गुजरातके चावडे तथा सोलंकिये राजाओंके ऐतिहासिक

वृतान्त दिये हैं। इसके ऊपरान्त विक्रम–कालिदास-सिद्धसेनदिवाकर–शालिवाहन–लाखाक–मुंज–भोज–राजशेखर–माघ–धनपाल–मानतुंगाचार्य–मंत्रीसांतू-देवसूरि–आभड–मांगूशाला–जयचन्द्र-वाहड–सोलाक–आंवड–हेमचन्द्र–आम्रभट-उदयचन्द्र-बृहस्पतिगंड–वामराशि–रामचंद्र–वस्तुपाल–तेजपाल–नन्द–शीलादित्य-रंक–मल्लवादि–गोवर्द्धन–लक्ष्मणसेन–उमापतिधर–जगदेव-पृथ्वीराज-वराहमिहिर-नागार्जुन–भर्तृहरि–वाग्भट तथा वैद्य आदिके प्रबन्ध हैं।

१६ श्रीतीर्थकल्प—इसके कर्ता श्रीमान् जिनप्रभसूरि हैं। इस ग्रन्थका दूसरा नाम 'कल्पप्रदीप' है। जिनप्रभसूरि वि० सं० १३६५ मे हुए हैं। इस ग्रन्थमें करीब ५८ कल्प और स्तव है। जिनमें तीर्थोंके वर्णन–उत्पत्ति तथा लेखकके समयमें उन तीर्थोंकी कैसी अवस्था थी? यह भी दिखलाया है। इसके साथ देशादिकी भी व्यवस्था दिखलाइ है। ये कल्प आपने एक साथ नहीं बनाए है। जिस २ समय आपने तीर्थोंकी यात्रा की है, और जब २ आपको तद्विषयक विचार उद्भव हुए है, तब २ बनाये हैं। याने उन कल्पोंका समय पृथक् २ है। जैसे अपापाबृहत्कल्प, वि० सं० १३२७ में, देवगिरिमें लिखा है (देवगिरिको आजकल दौलताबाद कहते हैं और यह दक्षिणमें है) और चेल्लणापार्श्वनाथकल्प वि० सं० १३८६ मे बनाया है। शत्रुंजयकल्प वि० सं० १३८४ में पूरा किया है। इसी तरह साराग्रन्थ वि० सं० १३८९ में पूरा किया है। इस ग्रन्थमें निचे लिखे हुए कल्पादि हैं:—

१ शत्रुंजयकल्प, २ उज्जयंतकल्प, ३ रैवतककल्प, ४ उज्जयतस्तव, ५ श्री अंबिकादेवीकल्प, ६ कपर्दियक्षकल्प, ७ श्रीपार्श्वनाथकल्प, ८ अहिच्छत्राकल्प, ९ अर्बुदकल्प, १० मथुराकल्प, ११ अश्वावबोधकल्प, १२ वैभारगिरिमहातीर्थकल्प, १३ कौशांबीकल्प, १४ श्रीअयोध्याकल्प, १५ श्रीअपापाकल्प, १६ कलिकुंडेश्वरकल्प, १७ हस्तिनापुरतीर्थकल्प, १८ श्रीसत्यपुरकल्प, १९ अष्टापदमहातीर्थकल्प, २० श्रीमिथिलातीर्थकल्प, २१ श्रीधर्मनाथजन्मभूमीरत्नपुरतीर्थकल्प, २२ श्रीअपापाबृहत्कल्प–दीपोत्सवकल्प, २३ कात्यायनीयमहावीरकल्प-कल्याणपुरकल्प, २४ प्रतिष्ठापत्तनकल्प, २५ नंदीश्वरकल्प, २६ श्रीकांपील्यपुरकल्प, २७ अरिष्टनेमिकल्प, २८ श्रीशंखपुरकल्प, २९ श्रीनासिक्पुरकल्प, ३०

श्रीपार्श्वनाथकल्प, ३१ कपर्दियक्षकल्प, ३२ शुद्धदंतीपार्श्वनाथकल्प, ३३ श्रीअभिनन्दनकल्प, ३४ प्रतिष्ठानपत्तनकल्प, ३५ चंपापुरकल्प, ३६ पाटलीपुत्रपुरकल्प, ३७ श्रीवस्तीकल्प, ३८ वाराणसीकल्प, ३९ महावीरगणधरकल्प, ४० कोकापार्श्वनाथकल्प, ४१ कोटिशिलातीर्थकल्प, ४२ वस्तुपाल-तेजपालकाकल्प, ४३ चेल्लणापार्श्वनाथकल्प, ४४ संग्रहकल्प, ४५ समवसरणरचनाकल्प, ४६ कुंडगेश्वरयुगादिदेवकल्प, ४७ व्याघ्रीकल्प, ४८ अष्टापदकल्प, ४९ श्रीहस्तिनापुरस्तवन, ५० कात्यायनीयश्रीमहावीरकल्प, ५१ आरामकुंडपद्मावतीदेवीकल्प, ५२ माणिक्यदेवकल्प, ५३ अंतरिक्षपार्श्वनाथकल्प, ५४ स्तंभनकल्पशिलोंछः, ५५ कलिकुंडकुकुडेश्वरकल्प, ५६ फलवर्द्धिपार्श्वनाथकल्प, ५७ कोहंडीयदेवकल्प, ५८ अम्बियदेवीकल्प, इस प्रकार कुल ५८ हैं ।

१७ विचारश्रेणी—इसके कर्ता मेरुतुंगाचार्य हैं । यह ग्रन्थ अंचलगच्छीय आचार्यने बनाया है। इस ग्रन्थसे भी गुजरातके चावडाराजाओंके राजत्वकालका पता मिलता है । इसमें महावीरस्वामी और विक्रमादित्यके बीचमें ४७० वर्षका अन्तर है, ऐसा निश्चय किया है, इससे इन्होंने हेमचन्द्राचार्यके अभिप्रायको ठीक नहीं माना है । लेकिन आचार्यका यह अभिप्राय ठीक नहीं है, क्योंकि हेमचन्द्राचार्यका बताया हुआ महावीरस्वामी और विक्रमका अन्तर ४१० वर्ष ही ठीक है, और इसी मतको वार्तमानिक पाश्चात्य विद्वानोंने भी सिद्ध किया है । देखो इंडियन एंटिकेरी Vol. XLIII कालकाचार्य, हरिभद्रसूरि तथा श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणके वृत्तान्त भी इसमें आते हैं ।

१८ स्थविरावली—इसके कर्ता भी अंचलगच्छीय मेरुतुंगाचार्य ही हैं । इसमें कई आचार्योंका वर्णन है ।

१९ मच्छप्रबन्ध—इसके कर्ता हैं कक्कसूरि । वि० सं० १३७१ में इसको बनाया । इस ग्रंथमें समराशाह तथा सहजाशाहके जीवनचरित्र हैं । ये दोनों देशलके पुत्र थे।

२० महामोहपराजय नाटक-यशःपाल मंत्रीने अजयपालके राज्यमें इसको बनाया है। श्रीमान् हेमचन्द्राचार्य तथा राजा कुमारपाल, इन दोनोंके विषयमें यह

नाटक है। इस नाटकमें यह भाव दिखलाया है कि–श्रीमान् हेमचन्द्राचार्य पुरोहित बने हैं। और वे कुमारपालराजाका कृपादेवीके साथ विवाह करवाते है। कृपादेवीकी माता अहिंसादेवी है, और पिता अर्हद्धर्म है।

२१ **कुमुदचन्द्रप्रकरण**–इसके कर्ता हैं श्रीमान् यशश्चन्द्र। इसमें वादिदेवसूरि और पं० कुमुचन्द्रका संवाद दिया गया है।

२२ **प्रबन्धकोश**–इसको 'चतुर्विंशतिप्रबन्ध' भी कहते है। मलधारी श्रीमान् राजशेखरसूरिने वि० सं० १४०५ मे इसको बनाया है। इस ग्रन्थमें कुल २४ प्रबन्ध है जिनके नाम ये हैः–भद्रबाहु, आर्यनंदिल, जीवदेवसूरि, खपुटाचार्य, पादलिप्ताचार्य, वृद्धवादी और सिद्धसेन, मल्लवादि, हरिभद्रसूरि, बप्पभट्टी, हेमसूरि (हेमचन्द्र), हर्षकवि, हरिहरकवि, अमरकवि, मदनकीर्ति, सातवाहन, वंकचूल, विक्रमादित्य, नागार्जुन, वत्सराज, लक्ष्मणसेन, मदनवर्मा, रत्नश्रावक, आभड तथा वस्तुपाल। इस पुस्तकमेंसे ऐतिहासिक वृत्तान्त बहुत मिलता है।

२३ **कुमारपाल चरित्र**–इसको श्रीमान् जयसिंहसूरिने वि० सं० १४२२ में बनाया है। इस काव्यमें मूलराजसे लेकरके कुमारपाल तकका वृत्तान्त है। अब तक यह पुस्तक छपा नहीं है।

२४ **कुमारपाल चरित्र**–इसके कर्ता है श्रीमान् सोमतिलकसूरि। वि० सं० १४२४ के आसपास इसको रचा है। इसमें भी उन्ही राजाओंका वृत्तान्त है।

२५ **कुमारपाल चरित्र**–चौदहवीं शताब्दीके आसपास, रत्नसिंहसूरिके शिष्य चारित्रसुन्दरगणिने इसको बनाया है। इसमें भी मूलराजसे लगाकर कुमारपाल तकके सोलंकियोंका इतिहास है। यह पुस्तक भी छपी नहीं है।

२६ **तीर्थमाला प्रकरण**–इसके रचयिता है महेन्द्रसूरि। ये आचार्य वि० सं० १३६३ से १४४४ के अन्दर हुए हैं। इस ग्रन्थमें कई एक तीर्थोंके ऐतिहासिक वृत्तान्त है। जैसे शत्रुंजयतीर्थ, सुपार्श्वनाथकास्तूप–मथुरा, भडौंचतीर्थ, थंभनपुर, पावकगिरि, सत्यपुर, बंभनवाड, नाणाग्राम, नारणगिरि, भिन्नमाल, तथा आनंदपुर वगैरह।

२७ **उपदेशसप्ततिका**—इस ग्रन्थके कर्त्ता सोमधर्मगणि हैं। यह ग्रन्थ भी उपदेशतरंगिणीकी तरह कितनेक अंशोमें ऐतिहासिक रीत्या उपयोगी है। इस ग्रन्थकी संवत् १४१२ में रचना हुई हैं।

२८ **गुर्वावली**—इसके कर्ता हैं मुनिसुन्दरसूरि। यह ग्रन्थ वि० सं० १४६६ में बना। पहिले जमानेमें पर्युपणापर्व समाप्त होनेके अनन्तर शिष्य लोग अपने गुरुको **पर्वलेख** लिख भेजते थे। श्रीमान् मुनिसुन्दरसूरिने, अपने गुरुको लिखा हुआ, यह भी पर्वलेखका एक अंश है। इस ग्रन्थमें सुधर्मास्वामीसे लेकरके मुनिसुन्दरसूरिपर्यन्त आचार्योंके ऐतिहासिक वृत्तान्त हैं। काशीकी श्रीयशोविजय जैन ग्रन्थमालामें यह ग्रन्थ छपा है। और 'यशोविजय ग्रन्थमाला' ऑफीस, भावनगर' से ०–४–० में मिलता है।

२९ **कुमारपाल प्रबन्ध**—इसके रचयिता है श्रीमान् जिनमंडन उपाध्याय। वि० सं० १४९२ में इसको बनाया है। इसमें ३६ राजवंशोकी नामावली, वनराजसे सामन्तसिंह तकके चावडा राजाओंकी वंशावली तथा मूलराजसे कुमारपाल तकके सोलंकियोंका इतिहास है। इसमें कुमारपालका वृत्तान्त बहुत विस्तारसे लिखा हुआ है।

३० **महावीरप्रशस्ति**—वि० सं० १४९५ में श्रीमान् चारित्ररत्नगणिने इसको बनाया है। इस ग्रन्थमें चित्रकूटके महावीरस्वामीके मंदिरकी प्रशस्ति है।

३१ **पंचाशतिप्रबोधसंबन्ध**—श्रीमान् शुभशीलगणिने वि० सं० १५२१ में इसको बनाया है। इसमें कई एक संबन्ध हैं। जैसे गौतम स्वामीका अष्टापदतीर्थ वंदन, कानहडा महावीर स्थापना, जिनप्रभाचार्यसंबन्ध, जिनप्रभसूरिअवदातसंबन्ध, झघडुसाधुसंबन्ध वगैरह।

३२ **वस्तुपाल चरित्र**—इसके कर्ता तपागच्छीय श्रीमान् जिनहर्षगणि हैं। सोलहवीं शताब्दीमें यह बना है। इसमें वस्तुपालका चरित्र तथा वाघेला वीरधवलके पूर्वजोंका वृत्तान्त है।

३३ सोमसौभाग्यकाव्य—यह काव्य प्रतिष्ठासोमगणिविरचित है। इसको वि० सं० १५२४ में बनाया है। इस काव्यके कुल १० सर्ग हैं। इसमें खास करके श्रीमान् सोमसुन्दरसूरिका जीवनचरित्र है। इसमेंसे भी ऐतिहासिक वृत्तान्त बहुत मिलता है। यह ग्रन्थ श्रीजैनज्ञानप्रसारकमंडल, बम्बई, की तरफसे गुजराती भाषान्तरके साथ छपा है।

३४ गुरुगुणरत्नाकरकाव्य—इसके रचयिता है श्रीमान् सोमचारित्रगणि। वि० सं० १५४१ में इसको बनाया है। इस काव्यमें कविने श्रीरत्नशेखरसूरिकेपट्टधर श्रीमान् लक्ष्मीसागरसूरिके गुणोंका वर्णन किया है। इसके साथ ही साथ उनके समुदायके उपाध्याय वगैरह तथा उस समयके कतिपय आचार्योंका वर्णन है। यह एक खण्डकाव्य है। काशीकी श्रीयशोविजयग्रन्थमालामें छपा है। और 'श्रीयशोविजयजैनग्रन्थमाला ओफीस' भावनगरसे मिलता है।

३५ प्रवचन परीक्षा—श्रीमान् धर्मसागरजी उपाध्यायने इसको वि० सं० १६२९ में बनाया है। इस ग्रन्थमें दिगम्बर, पौर्णमिक, खरतर, आंचलिक, सार्धपौर्णमिक, आगमिक, लुंपक, कटुक तथा पासचद्र वगैरहके ऐतिहासिक दृष्टिसे वृत्तान्त दिये हुए हैं।

३६ जगद्गुरुकाव्य—२३३ श्लोकोंका यह एक छोटासा काव्य है। इसके कर्ता विमलसागरगणिके शिष्य श्रीमान् पद्मसागरगणि हैं। सं० १६४६ में यह काव्य बना है। इस छोटेसे काव्यमें, जगद्गुरु श्रीहीरविजयसूरि तथा अकबरबादशाहका सबन्ध अच्छी तरहसे वर्णित किया है। यह काव्य भी काशीकी श्रीयशोविजय ग्रथमालामें छपा है, और 'श्रीयशोविजय जैन ग्रन्थमाला ऑफीस' भावनगरसे मिलता है।

३७ उपदेशतरंगिणी—इसके कर्ता श्रीमान् रत्नमंडणगणि हैं। सोलहवीं शताब्दीमें आप हुए है। यह औपदेशिक ग्रन्थ है, परन्तु प्रसंग प्रसंगपर इसमें ऐतिहासिक प्रबन्ध भी है। विसलदेव, झघडु, अर्णोराज, उदयसिंह, साजनसिंह, विमलदड नायक तथा सज्जनदड नायक वगैरहके ऐतिहासिक वृतान्त है।

३८ हीरसौभाग्यकाव्य—श्रीमान् सिंहविमलगणिके शिष्य श्रीदेवविमलगणिका बनाया हुआ यह एक महाकाव्य है। सतरहवीं शताब्दीमें यह काव्य बना है। हीरविजयसूरीश्वरका सारा वृत्तान्त इसमें है। अकबरबादशाह और हीरविजयसूरीश्वरका संबन्ध इसमें बडे विस्तारसे दिया हुआ है। सतरह सर्गमें यह काव्य विभक्त है। हीरविजयसूरिने जहाँ २ यात्राएं कीं तथा उनके जीवनमें जो २ बातें हुईं, सारा वृत्तान्त इसमें मिलता है। यह महाकाव्य 'निर्णयसागर यन्त्रालय' बम्बई में छप चुका है।

३९ श्रीविजयप्रशस्तिकाव्य—यह भी एक बड़ा भारी ऐतिहासिक काव्य है। इसके कर्ता श्रीमान् हेमविजयगणी तथा श्रीमान् गुणविजयगणी हैं। यह भी महाकाव्य का ग्रन्थ है। वि० सं० १६८८ में यह काव्य बना है। इसका प्रारंभ श्रीमान् हेमविजयगणिने किया था, सोलह सर्ग बनानेके बाद आपका देवलोक हुआ। इस लिए इसके पश्चात् श्रीमान् गुणविजयजीगणिने पांच सर्ग बनाकर इस काव्यको पूरा किया है। इस काव्यकी टीका भी श्रीमान् गुणविजयगणिनेही बनाई है। इस काव्यमें श्रीमान् हीरविजयसूरि, श्रीविजयसेनसूरि तथा श्रीविजयदेवसूरि के जीवन चरित्र है। हीरविजयसूरि, विजयसेनसूरि तथा अकबरबादशाहका वृत्तान्त अच्छी तरहसे वर्णित किया है। यह काव्यभी काशीकी श्रीयशोविजयजैनग्रन्थमालामें छपा है। और 'श्रीयशोविजयजैनग्रन्थमाला' ऑफीस, भावनगरसे मिलता है। श्रीमान् हीरविजयसूरि तथा श्रीविजयसेनसूरिने अहिंसा वगैरह संबन्धि जो २ फुरमान पत्र प्राप्त कियेथे, उसका खुलासा भी इस काव्यमें बहुत अच्छा है।

४० श्रीभानुचंद्रचरित्र—इस काव्यके रचयिता श्रीमान् सिद्धिचन्द्र उपाध्याय हैं। सतरहवीं शताब्दीमें इसको बनाया है। भानुचन्द्र उपाध्याय अकबर बादशाहके समयमें हुए है। इन्होंने भी अकबर बादशाह को अपनी विद्वत्तासे प्रसन्न करके फुरमानपत्र लिए थे। उन सभी बातोंका इस चरित्रमें उल्लेख है।

४१ विजयदवमाहात्म्य— इसके कर्ता श्रीमान् वल्लभोपाध्याय हैं। इसमें श्रीविजयदेवसूरिजीके जीवनका वर्णन करनेमें आया है।

४२ दिग्विजयमहाकाव्य—१८वीं शताब्दीमें श्रीमान् मेघविजय उपाध्यायने इसको बनाया है । इसमें अधिकतया विजयप्रभसूरिका ही ऐतिहासिक वृत्तान्त है ।

४३ देवानन्दाभ्युदय महाकाव्य—इसको भी श्रीमान् मेघविजय उपाध्यायने बनाया है । इसमें विजयदेवसूरिका ऐतिहासिक वृत्तान्त है ।

४४ झघडुचरित्र--इसके कर्त्ता श्रीमान् सर्वानंदसूरि हैं । इसमें झघडु शाहका जीवनचरित्र विस्तारपूर्वक दिया गया है, तथा और भी बहुतसी ऐतिहासिक वार्तोका उल्लेख है । यह ग्रन्थ छप चुका है ।

४५ सुकृतसागर—इसके रचयिता श्रीरत्नमण्डन गणि हैं। जिसमें पेथड, झांझण तथा तपागच्छीय धर्मघोषसूरिका जीवनचरित्र हैं ।

इसके सिवाय अनेकों संस्कृत तथा प्राकृतके ग्रन्थ ऐतिहासिक वृत्तान्तोंसे भरे हुए मिल सकते हैं । मैंने इस लेखमें बहुतही संक्षेपसे ऊपर लिखा हैं । इसके सिवाय भाषाके रास भी ऐसे बहुतसे मिलते हैं, जो कि ऐतिहासिक वृत्तान्तोंसे भरे हुए हैं । जैसेः—

१ लावण्य समय उपाध्यायकृत विमल मंत्रीका रास । और यशोभद्रसूरि रास ।
२ पं० जिनहर्ष तथा ऋषभदासकृत कुमारपालका रास ।
३ ऋषभदासजीकृत हीरविजयसूरिका रास ।
४ हेमविजयगणिकृत कमलविजयगणिनिर्वाणरास ।
५ उपाध्याय सकलचन्द्रजीकृत श्रीहीरविजयसूरिदेशना ।
६ श्रीमान् जिनहर्षकृत सत्यविजयनिर्वाणरास ।
७ श्रीजिनविजयगणिकृत श्रीकर्पूरविजयगणिनिर्वाणरास ।
८ श्रीजिनविजयगणि कृत श्रीक्षमाविजयनिर्वाणरास ।
९ पंडित उत्तमविजयजीकृत श्रीजिनविजयनिर्वाणरास ।
१० पंडित पद्मविजयजीकृत श्रीउत्तमविजयजीनिर्वाणरास ।
११ पं० रूपविजयकृत श्रीपद्मविजयजीनिर्वाणरास ।
१२ तिलकसागरकृत राजसागररास ।

१३ कनकसौभाग्यकृत विजयदेवसूरिरास ।

१४ वृद्धिविजयगणिरास ।

वगैरह सैंकडों रास जैनसाहित्यमे मौजूद हैं । उन रासोमेंसे भी ऐतिहासिक वृत्तान्त वहुत मिलते हैं ।

इसके सिवाय तपागच्छपट्टावली, खरतरगच्छपट्टावली, अंचलगच्छपट्टावली, पायचंदगच्छपट्टावली तथा उपकोशगच्छपट्टावली वगैरह गच्छोंकी पट्टावलीएं भी इतिहासके साधनभूत हैं ।

जैनशिलालेखोंके विषयमें तो मैं पहिले ही कह गया हूँ । जैनसाहित्यमें इतिहासके साधनोंमें जैसे संस्कृत-प्राकृतके ग्रन्थोंकी वहुलता है, वैसे शिला लेखोंकी भी वहुलता है । इसमें जितना लिखना चाहें, उतना लिख सकते हैं। समयाभावात्, इच्छाको रोक करके मात्र इतना ही कह देना समुचित समझता हूँ कि–दक्षिण हिन्दुस्तान तथा उत्तर हिन्दुस्तानमें सैंकडों शिलालेख हैं । परन्तु खोज करने वाले चाहिये । फ्रेन्च विद्वान् डॉ० गेरिनोटने पेरिसमें, इ० स० १९०८ में एक जैन-शिला लेखोंकी रिपोर्ट प्रकाशित की थी, उसमें उन्होंने ८५० शिला लेखोंका पृथक्करण किया था । उस परसे आप अनुमान कर सकते हैं कि–और भी कितने ही शिलालेख होने चाहिये ।

ताम्रपत्र, दानपत्र, ग्रन्थोंकी प्रशस्तिएं वगैरह भी इतिहासके साधन ही गिने जा सकते हैं, और उसकी भी अपनेमें कमी नहीं है ।

उपर्युक्त साधनोंके अतिरीक्त इंडिअन एंटिक्वेरी, एपिग्राफिआ इंडिका, जर्नल ऑफ धी वॉम्बे ब्रेंच एशिआटिक सोसाइटी, जर्नल ऑफ धी रॉयल एसिआटिक सोसाइटी, ट्रैवल्स इन् वेस्टर्न इंडिआ (जे. टॉड), रासमाला किन्लॉक फार्ब्स तथा रिपोर्ट ऑन् धी आर्किआलॉजिकल् सर्वे ऑफ इंडिया (ए कनिंगहाम) के वार्षिक विवरणके कतिपय विभाग, इत्यादि भी साधन हैं ।

प्रिय सज्जनों ! इतिहासके साधनोंकी खोज करनेके लिये भी वहुतसे समयकी जरूरत रहती है । और साथ ही साथ उतनी शक्ति भी होनी चाहिये । मैंने मेरी शक्तिके अनुसार, जैनसाहित्यरूपी महासागरमेंसे यत्किंचित् इतिहासके

साधन आप लोगोंको इस लेखके द्वारा दिखलाए हैं। और मेरा यह थोडासा परिश्रम, श्रीजैनसाहित्य सम्मेलनको समर्पित करता हूँ। मुझे आशा है कि सम्मेलन मेरे इस छोटेसे लेखको स्वीकार करके मुझे अनुगृहीत करेगा।

अन्तमें आप लोग श्रीजैनसाहित्यसम्मेलनके द्वारा श्रीजैनसाहित्यका खूब प्रचार करें—शासनदेव आपको इस कार्यमें सहायता करे, ऐसा जिगरसे चाहनेके साथ, मुझे इस लेखके लिखनेमें सम्पूर्ण सहायता करनेवाले, इतिहासतत्त्व महोदधि, उपाध्यायजी महाराज श्रीइन्द्रविजयजीका अन्त:करणसे उपकार मानता हुआ इस लेखको समाप्त करताहूँ। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः



॥ श्री ॥



परमगुरुश्रीविजयधर्मसूरिभ्यो नमः ।

प्राचीनखोजकी आवश्यकता.

(लेखक–मुनिराज श्रीविद्याविजयजी.)

किसी भी जाति या धर्मकी प्राचीनताका निर्णय करना हो तो प्रथमही उस जाति या धर्मके विषयमें लिखे हुए प्राचीन शिलालेख–ताम्रपत्र तथा ऐसी ही प्राचीन वस्तुओंके ऊपर दृष्टि दोडानी पडती है। उन वस्तुओंकी प्राचीनताके ऊपर ही जाति या धर्मकी प्राचीनता निर्भर रहती है। परन्तु ये सब चीजें, सिवाय खोज के प्राप्त नहीं हो सकतीं। मैं यहाँपर यह बात अवश्य कहूँगाकि 'ऐसी शोध खोलें करनेका काम बहुत कठिन है, क्योंकि आजसे पांच–पचास वर्ष पर बनी हुई वस्तुमें बहुतसा परिवर्तन दिखाई देता है; तो जो वस्तु सेकडों नहीं, बल्कि हजारों वर्षपर बनी हो, उसको प्राप्त करना असाध्य सा दिखाई दे, उसमें आश्चर्यकी बात ही क्या है? इसमें खोजका अभाव ही कारण था, जो 'जैनधर्म प्राचीन नहीं, परन्तु अर्वाचीन है,' 'जैनधर्म बौधकी एक शाखा है' और 'जैनधर्म एक काल्पित–नयाही पंथ है' ऐसी २ नाना प्रकारकी कल्पनाएं लोग करते थे। परन्तु जबसे माननीय सरकारने खोजका कार्य हाथमें लिया है, जबसे पाश्चात्य विद्वानोंने इस कार्यमें प्रवेश किया है, तबसे अनेकों झूठी किंवदन्तियोंके ऊपर पोता लगना शुरु हो गया है, जैनधर्मके विषयमें जो कुछ झूठी कल्पनाएं थीं, वे भी किसी अंशमें दूर हुई हैं, यह शोधखोलका ही प्रताप है। और अभी जो

कुछ इसकी मात्रा रही हुई है, वह भी इसी शोधखोलके प्रतापसे ही दूर हो जायगी। वेशक, खोजका कार्य बहुत परिश्रम साध्य है, परन्तु यह बात भूलनी नहीं चाहिये कि–मनुष्यजाति एक ऐसी जाति है कि वह, कैसाभी असाध्य कार्य क्यों न हो, साध्य बना सकती है। आश्चर्य सागरमें डुबा देनेवाली चीजोंका प्रादुर्भाव करनेवाली जाति मनुष्य ही है। जिनका अनुभव आज सारा संसार कर रहा है। इसलिये यह तो कभी सोचनाही नहीं कि–अमुककार्य हमसे नहीं होसकता। शोधखोलका कार्य आजकल जो कुछ हुआ है, वह मनुष्योंके द्वारा ही हुआ है। मैं इतना जरूर कहुँगाकि–अपने जैनोंकी, इस दिशाकी तरफ प्रवृत्तिका टोटल निकाला जाय, तो प्रायःशेष में शून्यही दिखाई देगा। सच कहा जाय तो यह कार्य खास अपना ही है। जैनोंके ऐसे २ प्राचीन स्थान हैं, जिनकी शोध खोल करनेसे जैन इतिहासके साधनभूत अनेकों चीजें मिल सकतीं है। परन्तु सिवाय खोजके इसका पता नहीं मिल सकता। आज हमारे जैनोंके लाखों रुपये झगडे रगडेमें और फजूल बातोंमें बरबाद हो जाते हैं, परन्तु आज तक कोईभी ऐसा महानुभाव नहीं निकला जिसने लक्ष रुपये तो क्या? पांच पचीस हजार रुपये भी इस कार्यके निमित्त निकाले हों। बडे अफसोसकी बात है कि–आज हमारे जैनसाहित्यके प्रत्येक अंग नष्टताकी नोबतपर चले जा रहे हैं। एक ओर हमारे जैनसाहित्यका प्रधान अंग–ग्रन्थरत्न भंडारोंमें क्या? अंधेरी कोठडियोंमें पडे हुए सडे जा रहे हैं, तथा दूसरी ओर प्राचीन शिलालेख वगैरह ऐतिहासिक चीजोंके सामने भी कोई नहीं ताकता। जब ऐसी अवस्था है, तब क्या हमलोग अपने साहित्यकी उन्नति कर सकते हैं? हर्गिज नहीं। इसलिये यह कहना समुचित होगाकि–अभीतक तो प्राचीन खोज करनेका सौभाग्य पाश्चात्य विद्वानोंने तथा सरकारने ही प्राप्त कर लिया है। इन्डियन एन्टिक्वेरी, एपिग्राफिका इन्डिका वगैरह जर्नलों तथा पुस्तकोंके द्वारा, वे प्राचीनचीजोंके ऊपर बहुत कुछ प्रकाश डाल सके हैं। अन्य देशोंकी अपेक्षा भारतवर्षमें शिलालेख आदि स्मारक बहुत मिलते हैं, इसीसे इसके पूर्वकालकी उत्तमता विदित हो जाती है। याद रखना चाहिये की–ये शिलालेख पूर्वकालके आदर्शरूप हैं। प्राचीन शिलालेख तथा प्राचीन चीजें, उस समयकी धार्मिक व्यवस्थाएं, वंशपरंपराके सम्बन्ध, प्रचलित

व्यवहार, सामाजिक नियम, भाषा तथा उस कालकी तिथिके नियम वगैरहका उपयोगी ज्ञान कराते हैं। खोज करनेसे और भी बहुतसी बातोंका निर्णय हो जाता है। यह खोजका ही प्रताप है कि-राजा अशोक पहिले जैनी थे और पीछे से बौद्ध हुए थे, यह बात विदित हो गई। यह बात शोध खोलसे ही विदित हो गई कि-श्रीमान् पूर्णभद्र चन्द्रगच्छके थे और श्रीमान् श्रीचन्द्रसूरिके शिष्य थे। क्योंकि-डॉ० हर्टल महाशयका अभीतक यही कहना था कि-वे खरतर गच्छके थे; परन्तु जालोरके १२३९ के शिलालेखसे उपर्युक्त बात निश्चित हो गई। यह खोज करनेहीसे मालूम हुआ कि-राजपूतानेमें अभी भी कइ एक स्तूप हैं। देखिये इस विषयमें डॉ० विन्सेन्टस्मीथ क्या कहते हैं:-

" I feel certain The Jain stupas must be still in existense and that they will be found if looked for. They aro move likely to be found in Rajputana than else idhere.

यानेः-" मुझको पूरा विश्वास है कि-जैनस्तूप अभी भी मौजूद होंगे। और यदि खोज किये जॉय तो वे मिलसकेंगे। दूसरी जगहके बनिसबत राजपूतानेमें अधिक पायेजानेकी संभावना है।"

डॉ० साहबके उपर्युक्त कथनसे यह स्पष्ट मालूम होता है कि-राजपूताने वगैरह कइ एक स्थानोंमें अभी भी ऐसे २ स्तूप वगैरह मौजूद होंगे, जो कि-इतिहासमें बडे भारी उपयोगी हो सकें।

जैनोंके प्राचीन शिलालेख वगैरह प्राचीन वस्तुएं ज्यों २ लोगोंके हाथ लगती और प्रकाशित होती जाती हैं, त्यों २ जैनसाहित्यके विषयमें भी लोगोंके विचार फिरते ही रहते हैं। अन्य लोगोंको भी अब यह स्वीकार करना पडता है कि-जैनोंका साहित्य जो कुछ प्रसिद्ध हुआ है, वह बहुत ही कम प्रसिद्ध भया है। इम्पिरिअल गेझेटियरमें एक दफे अंग्रेजीमें ऐसा प्रकाशित हुआ था कि:-"सिर्फ थोडे ही वर्ष हुए जैन धर्मका विशाल और गहन साहित्यका थोडा ही भाग शोध करनेमें आया है। और जैन जातिका इतिहास लिखा जाय, उसके पहिले भाषान्तर तथा खोजखाजके रूपमें अभी

बहुत कार्य करनेका बाकी है। इस तरह जैन धर्मकी शिक्षाओंके वास्तविक स्वरूपका अज्ञान, पाश्चात्य विद्वानोंमें बुरा भाव पैदा होनेमें, कदाचित कारण हुआ है।"

शिलालेखोंके विषयमें मैं यही कहूँगा कि पाश्चात्य विद्वानोंने आजतक अनेकों शिलालेख प्रकाशित किये हैं। केप्टन मेलवेलीको गवालियरसे थोडी दूर पर दूंवकुंडके मंदिरके खण्डहरोंमेंसे एक शिलालेख प्राप्त हुआ था। इस मन्दिरमें महाराजाधिराज विक्रमसिंहने बहुतसी भेंटें देनेका इस लेखमें लिखा हुआ है। एक जगह शिवके मन्दिरमें महावीरस्वामीकी एक प्रतिमा है, उसके लेख परसे यह अनुमान होता है कि—वह मन्दिर पहिले जैनोंने बनवाया होना चाहिये। इसके सिवाय कांगडा बजारमें पार्श्वनाथजीकी प्रतिमा परका लेख बहुत ही प्राचीन है।

कहनेका तात्पर्य कि शोध खोल करनेसे बहुत कुछ फायदा होता है। पाश्चात्य विद्वानोंका यह कथन है कि—अनेकों विविध प्रकारके शिलालेख हैं। उनमेंसे इमारतोंमें लगे हुए दस्तावेज बहुत उपयोगी तथा भारतवर्षके प्राचीन इतिहासके लिये बहुत साधनभूत हो सकते हैं। इस विषयमें डॉ० जी, मेवल, डफका " The Chronology of India " पृष्ठ १ तथा विनसेंट ए, स्मीथकृत ' The History of India ' नामक पुस्तककी प्रथमावृत्तिका पृष्ठ १३ वॉ देखना चाहिये।

आज पर्यन्त ऐसा कौन जानता था कि—उडीसा प्रदेशमें आए हुए खण्डगिरि नामक पर्वतकी गुफाओं वाले स्थान जैनोंके थे?। समस्त लोगोंका यह कहना था कि—वे स्थान बौद्धोंके थे। परन्तु सन् १८२० में स्टारलिंग साहबने उनकी खोजखाज की और हस्ति गुफाके एक पुरातन शिलालेखको प्रकाशित किया; तबसे उस स्थानके विषयमें लोगोंको अनेक प्रकारकी जिज्ञासाएं होने लगीं। लोग उद्यम करने लगे। और परिणाम यह आया कि—जब डॉ० भगवान्लाल इन्द्रजीने उस हस्ति गुफाके शिलालेखका पाठोद्धार किया और कलिंगदेशाधिपति खारवेलकी कथा प्रकाशित हुई तबसे लोगोंको यह निश्चित हो गया कि—वे स्थान खास करके जैनोंके ही है। इतना ही नहीं, परन्तु खारवेल

खुद जैन धर्मानुयायी था। सचमुच इस शिलालेखने जैन इतिहासके ऊपर बहुत ही अच्छा प्रकाश डाला है।

इस परसे हम अनुमान कर सकते हैं कि–न मालूम ऐसे २ भिन्न २ देशोंमें कितने ही जैन राजा हो गये होंगे? और कितने ही ऐसे २ देशोंमें हमारे प्राचीन स्थान मौजूद होंगे। सिवाय खोजखाजके इस बातका कैसे पता लग सकता है?।

पाश्चात्य विद्वानोंने इस बातका निश्चय किया है कि–दक्षिण हिन्दुस्तानमें तथा उत्तर हिन्दुस्तानमें शिलालेख बहुत हैं। उनमें दक्षिण हिन्दुस्तानमें जो शिलालेख है, वे प्रायः करके संस्कृत, तामिल, प्राचीन कानडी भाषाके शिलालेखोंमें जैन शिलालेख बहुत हैं। उन शिलालेखोंका संग्रह भिन्न भिन्न विद्वानोंने किया है। जैसे मी० इ० हुलीशने 'South Indian Inscriptions' के तीसरे वॉल्युममें, मी० जे० एफ० फलीटके संस्कृत तथा प्राचीन शिलालेख इन्डियन ॲन्टिक्वेरी वॉल्युम चारसे वीस तकमें, तथा खास करके मी० लेवीसराइसने अपने एपिग्राफिआ कर्णाटिकाके बारह भागोंमें संग्रह किया है।

उत्तर हिन्दुस्तानमें जो शिलालेख है, वे प्राय संस्कृत तथा प्राकृत भाषामें अधिक हैं। ये शिलालेख उपयोगितामें सबसे बढ कर हैं। और जो शिलालेख प्रसिद्धिमें आए है, उनमेंसे जैनोंके अधिक है। फ्रेंचविद्वान् डॉ० ए० गेरिनोटने पेरीसमें, स० १९०८ में जैन शिलालेखोंका एक फ्रेंच रीपोर्ट प्रकाशित किया था। उस रीपोर्टमें उन्होंने इ० स० १९०७की आखिर तकमें प्रसिद्धिमें आए हुए समस्त शिलालेखोंके संग्रह करनेमे प्रयत्न किया था। उस रिपोर्टमें ८५० शिलालेखोंका संक्षेपमें पृथक्करण करनेमें आया है। उन शिलालेखोंमेंसे ८०९ शिलालेखोंके ऊपर तारीखें मिलतीं हैं, अथवा अनुमानसे तारीखें निश्चय करनेके लिये साधन मिल सकते है। वे शिलालेख इ० स० से पूर्व २४२ से ले करके संवत् १९४३ याने इ० स० १८८६ पर्यन्त करीब २२०० वर्षके अन्दर अन्दरके है।

डॉ० ए० गेरिनोट अपने एक आर्टिकलमें लिखते है कि:–कनिष्क और इसके बादके इन्डोसीथियन राजाओंके समयके बहुतसे शिलालेख मथुरामें डॉ०

फुहररने ढूंढ निकाले थे । और उनका, एपिग्राफिआ इन्डिकाके पहिले तथा दूसरे वॉल्युममें प्रो० बुह्लरने बडी अजायबीके साथ वर्णन दिया था। और अभी प्रो० लुडरने इन्डियन एन्टीक्वेरी १९०४ तेतीसवे भागमें, उनमें पुनः सुधारा किया था । जैन सम्प्रदायोंके प्राचीन इतिहासके लिये वे बहुत उपयोगी हैं । क्योंकि वे कल्पसूत्रकी स्थविरावलीका समर्थन करते है । तथा प्राचीन कालके भिन्न भिन्न गणोंका, उन खास २ विभाग कुल तथा शाखाओंके सहित, कथन करते हैं । जैसे कि–कोटिक गण, जिसमें स्थानीय कुल तथा वज्रीशाखा है, वह तथा ब्रह्मदासिक कुल तथा उच्चानागरी शाखा वगैरह । "

प्राचीन शिलालेखोंके विषयमें, डॉ० ए० गेरीनॉटका एक अंग्रेजी लेख, जोकि ' जैनशासन ' के दीवालीके खास अंकमें छपा है, बहुत उपयोगी है।

अब मैं यहाँपर कतिपय शिलालेखोंको उद्धृत करना आवश्यक समझता हूँ।

श्रीमती सरकारने आजपर्यन्त जो खोजकी है । उनमें सबसे प्राचीन में प्राचीन शिलालेख यह मिला है:—

अजमेर जिलेमें एक वर्ली गाम है । वहाँसे एक कोस दूर भिलोट माताके मंदिरमेंसे एक पत्थर मिलाथा । इसका आकार हमाम (खांपणी) के जैसा था । इस पत्थरके तलियेपर इस प्रकार लिखा हुआ है:—

" वीराय भगवते चतुरासितिवसे का ये जालामालिनिये रंनिविठ माझिमिके "

यह लेख महावीरदेवके निवार्णके ८४ वर्ष पश्चात् का है । इस लेखमें दिखलाई हुई **माज्झमिका** नगरी वही है, जो मेवाडकी पुरानी राज्यधानीथी । उसी नगरीके खण्डहर अभी भी चितौडके पश्चिममें ८ मीलपर है । और वह ' नगरी ' इस नामसे पहचानी जाती है ।

उपर्युक्त पत्थरकी खोज, श्रीमान् पं० गौरीशंकर हीराचंदजी ओझाने सन् १९१२ में कीथी। यह पत्थर अभी अजमेरके म्युझियम (अजायबघर) में मौजूद है ।

मथुराके शिलालेखोंमें ऐसे कई लेख तथा चित्र हैं। एक पट है, जो कि किसी तोरणका अंश मालूम होता है। इस पटमें एक मुनि चार मनुष्योंको उपदेश दे रहे हैं। पटके पीछले भागमें एक स्तूप है, और इसके दोनों तरफ दो दो तीर्थंकर हैं। इस पटके ऊपर जो लेख है, वह यह है:—

"सिद्धं सं ९५ ग्रि २ दि १८ कोट्टियतो गणातो थानियातो कुलातो वैर-[शा] खातो आर्य अरह.......शिशिनि धाम थाये ग्रहदतस्य धि.......धनहथि...."

यह लेख बिलकुल पूरा २ नहीं है। इससे बराबर स्पष्ट अर्थ नहीं मालूम होता।

अब एक जालोरके लेखको देखिये:—

१— ....त्रैलोक्यलक्ष्मीविपुलकुलगृहं धर्मवृक्षालवालं
श्रीमन्नाभेयनाथक्रमकमलयुगं मंगलं वस्तनोतु।
मन्ये मंगल्यमाला प्रणतभवभृतां सिद्धिसौधप्रवेशे
यस्य स्कंधप्रदेशे विलसति गवलश्यामला कुंतलाली ॥१॥

श्री चाहुमानकुलांवरमृगांकश्रीमहाराजअणहिलान्वयोद्भवश्री महाराज आल्हणसुत

२—....यावलीकेललितदलितरिपुवलश्रीमहाराजकीर्तिपालदेवहृदयानंदिनदनमहाराजश्रीसमरसिंहदेवकल्याणविजयराज्ये तत्पादपद्मोपजीविनि निजमौढिमातिरेकतिरस्कृतसकलपिल्वाहिकामंडलतस्करव्यतिकरे। राज्यचिंतके जोजलराजपुत्रे इत्येवंकाले प्रवर्तमाने

३— ....रिपुकुलकमलेंदुः पुण्यलावण्यपात्रं
नयविनयनिधानं धामसौंदर्यलक्ष्म्याः।
धरणितरुणनारी लोचनानंदकारी
जयति समरसिंहक्ष्मापतिः सिंहवृत्तिः ॥२॥ तथा ॥

औत्पत्तिकीप्रमुखबुद्धिचतुष्टयेन निर्णीतभूपभवनोचितकार्यवृत्तिः। यन्मातुलः समभवत्किल जोजलाह्वो

४—....खंडितदुरंतविपक्षलक्षः ॥२ श्रीचन्द्रगच्छमुखमंडनसुविहितयतितिलकसुगुरुश्रीश्रीचंद्रसूरिचरणनलिनयुगलदुर्ललितराजहंसश्रीपूर्णभद्रसूरिचरणकमलपरिचरणचतुरमधुकरेण समस्तगोष्ठिकसमुदायसमन्वितेन श्रीश्रीमालवंशविभूषणश्रेष्ठियशादेवसुतेन सदाज्ञाकारिनिज

५—[भ्रा]तृयशोराजजगधरविधीयमाननिखिलमनोरथेन श्रेष्ठियशोवीरपरमश्रावकेण संवत् १२३९ वैशाष (ख) सुदि ५ गुरौ सकलत्रिलोकीतलाभोगभ्रमणपरिश्रांतकमलाविलासिनीविश्रामविलासमंदिरं अ (ऽ) यं मंडपो निर्मापितः॥ तथाहि ॥ नाना देशसमागतैर्नवनवैः स्त्रीपुंसवर्गैर्मुहुर्यस्मै

६— ....वावलोकनपरैर्नो तृप्तिरासाद्यते ।
स्मारं स्मारमथो यदीयरचनावैचित्र्यविस्फूर्जितं ।
तैः स्वस्थानगतैरपि प्रतिदिनं सोत्कंठमावर्ण्यते ॥४॥

विश्वंभरावरवधूतिलकं किमेतल्लीलारविंदमथ किं दुहितुः पयोधेः । दत्तं सुरैरमृतकुंडमिदं किमत्र यस्यावलोकनविधौ विविधा विकल्पाः ॥५॥ गर्त्तापूरेण पातालं
७—(विस्तारे) ण महीतलं । तुंगत्वेन नभो येन व्यानशे भुवनत्रयं ॥६ किंच ॥ स्फूर्जद्व्योमसरः समीनमकरं कन्यालिकुंभाकुलं मेषाढ्यं संकुलीरसिंहमिथुनं प्रोद्यद्वृषालंकृतं ताराकैरवमिंदुधामसलिलं सद्राजहंसास्पदं यावत्तावदिहादिनाथभवने नंद्यादसौ मंडपः ॥ ७ कृतिरियं श्रीपूर्णभद्रसूरीणां ॥ भद्रमस्तुश्रीसंघाय ॥

प्रियसज्जनो ! इस लेखसे आप देख सके होंगे कि प्राचीन शोध खोलसे कैसी २ आश्चर्य जनक ही नहीं, परंच अपनी प्राचीनतामें, अपने इतिहासमें अन्यान्य उपयोगी बातें प्रकाशित होती हैं ?। यदि अब भी हमारे जैनभाई शोधखोलका कार्य हाथमें ले करके उद्यम करें, तो बहुत कुछ नई २ बातें प्रकाशित हो सकती हैं । पाश्चात्यविद्वानों तथा गवर्नमेन्ट ऑफ इन्डियाने जो कुछ शोध-खोलकी है, इससे हमें निश्चिन्त हो करके बैठ रहना नहीं चाहिये । अभी अपनेको बहुत करनेका है। अभी अपने ऐसे २ स्थान हैं, जहाँ खोजखाज करनेसे अनेकानेक उपयोगी वस्तुएं प्राप्त हो सकती हैं ।

तक्षशिलाका आयाहुआ धर्मचक्रतीर्थ, रथावर्त तीर्थ (जिसको मांगीतुंगी कहते हैं, तथा जहाँ वज्रस्वामीने अनसन किया था), पावक गिरि (जिसको पावागढ कहते हैं), सत्यपुर नगर (जिसको साचोर कहते हैं), वंभणवाडग्राम (जिसको बामणवाड कहते हैं), देवानंदीग्राम, उपरियाला तथा सेरिसक वगैरह अनेकों प्राचीन स्थान हैं कि जहाँ खोज-खाज करनेकी बहुत आवश्यकता है ।

सज्जनो ! अब निद्राको त्याग करो । प्रमादको दूर करो, और आप लोग स्वयं अपने प्राचीन तीर्थोंको सम्हालो । अपनेमें बडी २ संस्थाएं ऐसी मौजूद हैं कि–जो इस कार्यको बडी आसानीसे कर सकती हैं । लाखों रुपये वाहियात कार्योंमें बरबाद हो जाते है, उनको बचा करके, यदि ऐसी शोध खोलोंमें लगाये जाँय, तो कितना बडा भारी उपकार हो सकता है ? । मैं फिर भी कहुंगा कि–जैसे अपनेमें तीर्थोद्धारका कार्य खास समझा जाता है, वैसे ही इस कार्यको भी खास समझना चाहिये । ऐसा समझ करके कोई न कोई संस्था इस कार्यको हाथमें ले, ऐसा चाहता हुआ इस छोटेसे लेखको समाप्त करता हूँ ।

शान्तिः शान्तिः शान्तिः



जैनसाहित्यमें विविधविषयोंको मिला हुआ स्थान।

(लेखक–यतिवर्य श्रीमान् बालचन्द्रजी–खांमगाव)

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमः प्रभु: । मङ्गलं स्थूलिभद्राद्या जैनो धर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥

आजका दिन अत्यन्त रमणीय एव मङ्गलप्रद है क्योंकि आज हम शास्त्रविशारद जैनचार्य श्रीमान् विजयधर्मसूरिजीकी कृपासे जैनसाहित्य सबंधी चर्चा करनेके लिये यहाँपर एकत्रित हुए है।

दूसरी बात यह है कि इस सम्मेलनके लिये जैसे सभापतिकी आवश्यक्ता थी वैसे ही सुयोग्य माननीय पडित श्रीयुत सतीशचन्द्रजी विद्याभूषण सरीखे विद्वान् एव जैन साहित्यके प्रेमीने इस पदको सुशोभित किया है। अतिरिक्त इसके इस सम्मेलनमें जैसे २ विद्वानोंके सम्मिलित होनेकी आवश्यकता थी, वैसे २ सज्जनोंने यहाँपर आनेकी कृपा भी की है। अर्थात् सभामण्डप विद्वानोंसे शोभा दे रहा है, मेरेको इस समय अत्यन्त ही हर्ष हो रहा है—हृदय प्रफुल्लित हो रहा है किन्तु जितना हर्ष हो रहा है, उससे शताश भी मुखद्वारा व्यक्त नहीं कर सकता।

श्रोतृवृन्द! मेरे मूल विषय पर कुछ कहूँ, इसके पहिले एक दो और बातोंका खुलासा करना आवश्यक समझता हूँ।

जैनसाहित्य सबंधी परामर्श करनेके लिये एकत्रित हुये देखकर किस साहित्य प्रेमीको हर्ष हुए विना रह सकता है? चरमतीर्थङ्कर श्रीमन्महावीरस्वामीके पश्चात् आजतक जितने विद्वान् आचार्य–उपाध्याय–यति–मुनि एव विद्वान् गृहस्थ हुए है, उन्होंने अपनी विद्वत्ताका लाभ समाजको देनेके हेतुसे एव जैन साहित्यकी वृद्धिके लिये व्याकरण, काव्य, कोश, न्याय, अलङ्कारादि सभी विषयों पर अपनी लेखणी चलाई है। सस्कृतमें ऐसा विषय एक भी होना असभव है कि–जो जैन पडितोंकी लेखिनीसे वञ्चित रहा हुआ हो? कहनेका तात्पर्य यह है कि हमारे पूर्वजोंने जैनसाहित्यकी सेवा सर्वतो भा-

चसे की हैं। यद्यपि थोडा समय ऐसा भी गुजर चुका है कि जिसमें हमारे असंख्य ग्रन्थरत्न लुप्तप्रायः एवं नष्ट–भ्रष्ट हो चुके हैं, अनेक ग्रन्थरत्न कृमीके उदरमें प्रवेश हो गये है, कई जलादिये गये हैं, जिनका नाम तक हमारे सुननेमें नहीं आता। कई ऐसे हैं कि जिनकी नामावलीका तो कुछ २ पता लगता है, किन्तु वे कहांपर हैं! कहां गये! इसका कुछ भी पता नहीं चलता! देखिये! श्रीमान् उमास्वाति वाचक रचित ५०० पांचसो ग्रंथोमें इने गिने ग्रथोंके सिवा शेपके ग्रंथोके लिये कुछ भी पता नहीं चलता! श्रीमान् हरिभद्रसूरिके १४४४ ग्रन्थोंमें पांच दस ग्रंथोंके अतिरिक्त शेप कहां है यह कोई कह सकता है! कलिकाल सर्वज्ञ विरुद धारक, कुमारपालनृपतिप्रतिबोधक, पंडित शिरोमणि श्रीमान् हेमचंद्राचार्यजीके रचित साढे तीन करोड श्लोक इस समय कहां गये, इसका कोई पता लगा सकता है! दूर जानेकी कोई वात ही नहीं। देखिए, न्यायविशारद श्रीमान् यशोविजयजी उपाध्यायके रचित सैंकडों ग्रन्थोंमेंसे इस समय कितने उपलब्ध हैं! क्या यह थोडे दुःखकी वात है! तथापि जैनके ग्रंथोंका अब भी तोटा नही है। अनेक ग्रन्थरत्न भण्डारोंमें भरे हुवे हैं। "गई उसीको जान दे! रही उसीको राख!" की लोकोक्तिके अनुसार जो हैं उन्हींकी रक्षा करना एवं वृद्धि करना हम लोकोंका परम कर्त्तव्य है।

वृटिशराज्य, न्यायप्रिय होनेके कारण भारतके सभी धर्मावलम्बी अपने २ धर्म ग्रन्थोंके लिये तथा साहित्य वृद्धिके लिये आनन्दके साथ प्रयत्न कर रहे है। इसी तरह जैनियोंकी ओरसेभी अनेक ग्रंथरत्न मुद्रित हो चुके हैं और होते चले जाते हैं। तथापि जितने जोर शोरसे काम होना चाहिये उतना नही होता है। हां, श्रीमान् उपाध्याय इन्द्रविजयजीके निस्सीम परिश्रमसे श्रीमती यशोविजयजी ग्रंथमालामें अनेक लोकोपयोगी ग्रन्थ छप चुके हैं और छप रहे है। इसी प्रकार भावनगरकी एक दो सभाएं भी यह काम कर रही हैं। वम्बईके भीमसिंह माणेकने तो सबसे प्रथम ही इस कामको उठाया था और अनेक ग्रंथ छापे जा चुके हैं किन्तु अब उक्त कार्यालयका काम कुछ शिथिलसा दीख पडता है। अतिरिक्त इसके एक दो फंड बंबई अमदावाद में काम कर रहे हैं। किन्तु जिसरीत्या और जिस प्रमाणमें कार्य होना चाहिये वैसा इस लिये नही होता है कि–वे समग्र संस्थाएँ एकता पूर्वक कार्य नही करतीं और न

उनके लिये अभी दिशा बांधी गई है। जहांतक जैन साहित्यकी वृद्धिके लिये अनेक संस्थाएँ स्थापित होकर ऐक्यसे कार्य नहीं करेंगी, वहांतक जैसा चाहिये वैसा कार्य होनेमें अनेक बाधाएँ उपस्थित हुए सिवा कभी नहीं रहेंगी। अतः साहित्य संबंधी प्रत्येक विषय पर चर्चा चलाकर एवं विद्वान् समितिद्वारा ग्रन्थ सम्पादन करवा कर ग्रन्थोंकी मुद्रणा होनी चाहिये। जहांतक वैसा न होगा वहांतक मुद्रित हुए ग्रन्थोंमें कुछ न कुछ व्यंग रहना स्वाभाविक है। इस ओर सभीने लक्ष देना चाहिये।

प्यारे मित्रो! जैनसाहित्यके प्रेमियोंने एवं रक्षकोंने इस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिये कि–इस वक्त जैनसाहित्यमें क्या क्या त्रुटियाँ है? किस २ विषयपर–प्रथम परामर्श करनेकी आवश्यकता है? कौनसा विषय न्यून है? किस विषयकी किस प्रकार पुष्टी होनी चाहिये? किस २ विषयमें किस २ विद्वान्‌की सहायता लेनी चाहिये? इन बातों पर विचार चलाकर तय किया जाय और पश्चात् तदनुसार कार्य होता रहे तो जैनसाहित्यकी उत्क्रांति एवं विकाश होनेमें कभी विलम्ब नहो? किन्तु उक्त बातोंके लिये प्रथम एक मासिक पत्रकी अत्यन्त आवश्यकता है। जिस मासिकद्वारा जैनसाहित्य संबंधी अच्छे २ लेख निकलते रहें। जिसद्वारा विद्वानोंको जैनसाहित्य संबंधी विचार प्रकट करनेमें तथा कार्य कर्त्ताओंको कार्य करनेमें बहुत कुछ सुभीता हो सकता है। जैन साहित्य संबंधी आलोचना प्रत्यालोचना करनेवाले मासिकके न होनेसे कितनी हानि है यह देखिए। कई मेरे सरीखे अल्पज्ञभी "येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्" इस आकाँक्षाके वशीभूत होकर, और दो चार वाक्य इधर उधरसे लेकर अपने नामसे पुस्तकें छपा देते है"। कई तो ऐसे ऊटपटांग मारदेते हैं जिसका कुछ पताभी नहीं लगता? किसीमें भाषा संबंधी तो किसीमें विचार संबंधी अनेक प्रकारकी भूलें रही हुई होती हैं। भला, ऐसे ग्रंथ छप कर क्या लाभ है? आजतक जितने ग्रन्थ मुद्रित हुवे हैं उनमें थोडेसे विद्वानोंद्वारा जो ग्रंथ छपे है उनको त्याग, शेषके ग्रन्थोंमें एक नं एक बातकी न्यूनता तो अवश्य ही प्रतीत हो रही है। ऐसे ग्रन्थोंकी समालोचना होना तथा उनके प्रकाशकोंको चेताना यह काम एक मासिकका है। हर्षका विषय है कि–'जैनशासन' इस कामको कुछ २ कर रहा है। कई ग्रंथोंकी समालोचनाएँ निकली हैं, परंतु विद्वान् सम्पादक समितिद्वारा (जैनसाहित्य संबंधी चर्चा करनेके लिये) एक मासिककी अत्यन्त आवश्यकता है। जिस मासिकद्वारा ऐसे

विषय चर्चाए जावें कि–जिससे निकम्मे ग्रन्थोंका मुद्रण होना अटक जायँ और जैन साहित्यकी पुष्टिकारक एव जैनसमाजमें साहित्य सबधी सुविचार फैलानेवाले विविध विषयोंपर उत्तमोत्तम ग्रन्थ विद्वानोंकी लेखिणी द्वारा सम्पादित हो कर अधिकाधिक निकलने लग जायँ !

प्यारे मित्रो !

जैनसिद्धान्तों पर आजतक कई आक्षेप हुए हैं। यद्यपि उनके उत्तर भी दिये गये हैं, किन्तु जितने प्रमाणमें आक्षेपित लेख वितीर्ण हुये है, उतने प्रमाणमें उत्तरात्मक लेखोंके वितीर्ण न होनेसे कितनेक लोगोंकी यहा तक समझ हो गई है कि–उत्तर देनेमें क्या जैन पण्डित असमर्थ हैं ? । अत आक्षेपित लेखोंस उत्तरात्मक लेखोंका दुगना चौगुना फैलाव हो जाना चाहिये कि–जिससे उक्त गेर समझ होनेके कारण न रहे।

प्यारे सज्जनो !

आज हम सभी यहा पर जो एकत्रित हुए हैं यह जैन साहित्यके सवधमें चर्चा करनेके लिये हुए है। यहा पर ऐसे २ विद्वान् विराजमान है कि जिनके सम्मुख मै कुछ चीज नही। प्रथमत. आचार्यजी तथा उपाध्यायजी सरीखे जैन साहित्यके रगमें रगे हुवे यहा पर उपस्थित हैं। अतिरिक्त इसके हमारे इस सम्मेलनके सभापति महामहोपाध्यायजी सरीखे तथा न्यायतीर्थादि अनेक पद विभूषित मुनि गण तथा पण्डित वर्ग उपस्थित हैं। मेरेमें ऐसी क्या शक्ति है कि–इन विद्वानोंके सम्मुख मैं नवीन कुछ कह सकु ? अर्थात् यहा पर जो कुछ मै कहूँगा वह विद्वानोंको तो पिष्ट पेषण साही लगेगा, तथापि कहनेके लिये सकोच न होकर इस लिये उत्साह हो रहा है कि–आजका दिन हमारे लिये अत्यन्त आनन्दका है। आजहम जिन वाणीकी सेवा करनेको एव उन्नति करनेको एकत्रित हुए हैं। यदि मेरे कहनेमें कुछ न्यूनाधिक्य तथा स्खलना ज्ञात हो तो विद्वज्जन अवश्य क्षमा प्रदान करेंगे, ऐसी उत्कट आशा रख कर ही मैं कुछ कहनेका साहस करता हूँ।

मेरा विषय "जैनसाहित्यमें विविध विषयोंको मिला हुआ स्थान" यह है। यह विषय ही ऐसा है कि जिसमें तीर्थङ्कर गणधर और पूर्वधर प्रणीत सिद्धान्त और निर्युक्तिया तथा पूर्वाचार्यों द्वारा रचित टीका वृत्ति और चूर्णी तथा प्रकरण ग्रन्थोंसे

लगा कर, व्याकरण, न्याय, काव्य, कोश, अलङ्कार, छन्द, ज्योतिष, वैद्यक, पदार्थ विज्ञान (सायन्स) प्रभृति सभी विषयोंका अतर्भाव हो जाता है। जिसमें–जैनव्याकरण, न्याय, काव्य कोशादि विषयोंका सनधर्मे तो वहुत कुछ कहाजा चुका है। मैं, केवल यहा पर जैन पण्डितोंके रचित वैद्यक तथा ज्योतिष विषयके ग्रन्थोंके सम्बधमें कुछ कहूँगा।

प्यारे सज्जनो?

वैद्य विद्याका नाम आर्युवेद भी है—

इसका कारण यह है कि–

आयुर्हिताहित व्याधिर्निदानं शमनं तथा।
विद्यते यत्र विद्वद्भिः स आयुर्वेद उच्यते ॥ १ ॥

अर्थात् जिसमें आयु (अवस्था) के हित–अहित पदार्थ, पदार्थोंका और रोगोंका निदान तथा शमन (नाश) के उपाय एव चिकित्सा हो उसको विद्वान् पुरुष आयुर्वेद कहते है। वैद्य विद्याके वेत्ताओंको–अष्टविध परीक्षा द्वारा तथा और २ कितनेक चिह्नों द्वारा मनुष्यकी आयु (उमर) का ज्ञान हो जाया करता है। इस विद्यामें शरीर रक्षाका उपदेश है। वात ठीक भी है "सो नियामन एक तन्दुरस्ती" की उक्ति चरितार्थ हो सकती है। वैद्यक शास्त्र जाननेका मुख्य लाभ यह है कि प्रकृति (तवियत) के विरुद्ध कार्योंसे वचना और वचाना। पुरुषार्थ चतुष्टयकी सिद्धिके लिये भी आरोग्य मूल कारण है और कहा भी है कि- "धर्मार्थकाममोक्षाणा आरोग्य मूलकारणम्"

वतलाईए! शरीरके विकार भाव युक्त होने पर आप क्या कर सकते है? अत वैद्य विद्या एक उपयोगी विद्या है और प्राणियोंके आरोग्यार्थ ही इस विद्याकी सृष्टि हुई है। कितने ही वैद्यक ग्रथकार जो यह कहते हैं कि–इसमें आयु वढानेके उपाय कहे हैं, किन्तु वे यह वात कहनेमें वडी भारी भूल करते हैं। क्योंकि जिसके आयुकर्मका जितना वध पडा होगा, उतनी ही आयु उसकी होगी। कमी वेशी कोई नही कर सकता और वैद्यक ग्रथमें लिखा भी है कि—

व्याधेस्तत्त्व परिज्ञानं वेदनायाश्च निग्रहः।
एतद् वैद्यस्य वैद्यत्वं न वैद्य प्रभुरायुषः ॥ १ ॥

व्याधियोंके तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान और वेदना (पीडा) दूर करनेके उपाय जो यथार्थ जानता हो वही सुवैद्य है। और इसीमें वैद्यकके तत्त्वोंका समावेश हो जाता है। अर्थात् ये बातें वैद्यमें होनी आवश्यकीय हैं, किन्तु आयु प्रदान करनेमें वैद्य सामर्थ्य नहीं रख सकता। तात्पर्य आयुके तत्त्वको यथार्थ जानना ही वैद्यके लिये मुख्य कार्य है। देखिए! जो लोक आयु बढानेका उपाय कहते हैं वे स्वयं फिर यह भी कहते हैं कि आयु प्रदान करनेमें वैद्य सामर्थ्य नहीं रखता? कहिए! यह वदतो व्याघात दोष है या नही? खैर इस बातको यहां कहनेका अवसर नहीं है। हां, आयुकी अवधिका ज्ञान होनेसे लौकिक और लोकोत्तर कार्योंके करनेमें सहाय आयुर्वेद जरूर है। और इसी लिये हमारे पूर्वजोंने तथा जैन पण्डितोंने इस विषय पर भी अपनी लेखिनीको खूब चलाई है।

वाग्भटजी जैन धर्मके कट्टर भक्त थे। इसके समीप अनर्गल लक्ष्मी होने पर भी सरस्वती देवीकी इसपर खूब कृपा थी। संस्कृत विद्यामें वाग्भटजी खूब निपुण थे। और वैद्यक विषय पर इनकी रुचि अधिक थी। इन्होंने "अष्टाङ्गहृदय" नामक वैद्यक ग्रंथकी रचना भी की है। संसारमें चरक, सुश्रुत और वाग्भट (अष्टाङ्गहृदय) इन तीन ग्रंथोंकी गणना बृहत्त्रयीमें है। भारतीय वैद्यक शास्त्रमें वाग्भटका आसन बहु ऊंचा है। आयुर्वेदके वेत्ता तथा प्रेमी "सूत्रस्थानेषु वाग्भटः" कह कर इनकी खूब प्रशंसा करते हैं। यहां पर वाग्भटजीके सबंधमें तथा इनके अष्टागहृदयके संबंधमें भी थोडासा कहना जरूरी बात है।

मित्रो!

वैद्यक विषयका वाग्भट सर्वमान्य ग्रन्थ है। इसका सब कोई आदर करते हैं। इस ग्रन्थका अष्टागहृदय नाम इन्होंने इसलिये रक्खा हुआ होना चाहिये कि—वैद्यक विषयके आठ अग हैं, इन्होंने इस ग्रन्थमें आठों ही अङ्गोपर अपने विचार व्यक्त किये हैं। वे स्वय अष्टागहृदयके अन्तमें कह रहे हैं कि—

अष्टाङ्गवैद्यकमहोदधिमन्थनेन योऽष्टाङ्गसंग्रहमहामृतराशिराप्तः।
तस्मादनल्पफलमल्पसमुद्यमानां प्रीत्यर्थमेतदुदितं पृथगेव तन्त्रम्॥ १०॥
(वाग्. उत्तरस्थान. अध्या. ४० श्लो ७९)

अष्टांग वैद्यक रूप समुद्रको मथन करनेसे अष्टाङ्ग संग्रह रूप महान् अमृतका

समूह प्राप्त हुआ है। थोडा परिश्रम करनेवालोंको भी बहुत कुछ प्राप्ति हो इस लिये मैंने इस (अष्टाङ्गहृदय) ग्रन्थकी रचना की है

ग्रंथके अन्तिम श्लोकमें फिर कहते हैं:—

हृदयमिव हृदयमेतत् सर्वायुर्वेदवाङ्मयपयोधेः।
दृष्ट्वा यच्छुभमाप्तं शुभमस्तु परं ततो जगतः॥ श्लो. ८८॥

अर्थात् संपूर्ण आयुर्वेदकी वाणीरूप समुद्रके हृदयकी तरह यह अष्टांगहृदय ग्रन्थ है। इसको देख कर जो परम-श्रेष्ठ शुभको प्राप्त हुआ है तिस शुभसे जगतको मंगल हो।

संस्कृतमें हृदय नाम गहरे जलाशयका और मुख्य स्थानका है। इन दोनो अर्थोंको लेकर वाग्भटजीने अपने ग्रंथका नाम अष्टांगहृदय रक्खा प्रतीत होता है। अर्थात् वैद्यक विषयके जो आठ अङ्ग हैं, वे इस ग्रन्थमें गहरे भरे हुवे हैं या उनका मुख्य स्थान है।

वाग्भटका प्राकृत भाषामें वाहड नाम प्रसिद्ध है। वि. सं. १२०३ में वाग्भटने शत्रुंजय जैन तीर्थका १४ वा उद्धार किया है। मित्रो! आप समझ सकते हैं कि—शत्रुंजयके उद्धारका काम करना कुछ सहज बात नही है। यह काम बहुत द्रव्य व्यय और परिश्रमका है। ऐसा शुभ कार्य करके जिसने—वाग्भटने परभवके लिये सद्गतिकी और इस भवमें उज्ज्वल कीर्तिकी नीव सदाके लिये डाल दी है वह महानुभाव वाहड कैसा उदार चरितवान् होगा यह आप स्वयं अनुमान कर सकते हैं।

जैन श्रावकवर्गमें प्रथम कैसे २ धनवान् एवं विद्वान् हो गये हैं वह जिनको देखना हो उन्होंने वाग्भटजीका अष्टांगहृदय और धनपाल कवि रचित ऋषभ पञ्चाशिकादि ग्रन्थोंको देखना चाहिये।

वाग्भटने वैद्यकके शूक्ष्मसे शूक्ष्म विषयों पर कैसी कलम घसीटी, यह अष्टांगहृदयका परिशीलन कर्तागण भली भाती जानतेही हैं। उक्त ग्रंथके प्रारंभमें मङ्गलाचरण रागद्वेषके जीतनेवाले एवं रागद्वेष रूपी रोगोंको मिटानेमें समर्थ वैद्य तीर्थंकरोंको वाग्भटने नमस्कार इस प्रकार किया है:—

रागादिरोगान्सततानुषक्तानशेषकायप्रसृतानशेषान्।
औत्सुक्यमोहारतिदाञ्जघान यो पूर्ववैद्याय नमोस्तु तस्मै॥ १॥

देखिये प्यारे मित्रो ! ~

राग–द्वेष–मोह–रति आदि अष्टादश दोष रहित जन्म, जरा और मरण रूप रोगोंको मिटानेको समर्थ सिवा तीर्थंकरोंके और (कौनसा) कौनसा वैद्य होसकता है ? अतः यह मगलाचरणही अष्टागहृदयके कर्ताका जैनी होना सिद्धकर रहा है। बबईके वेंकटेश्वर प्रेसमें सानुवाद अष्टागहृदय छपा है उसमें अनुवादकने यह मगलाचरण धन्वतरी को किया लिखा है। सिवा वा इसके अनुवादमें और भी अनेक भूलें हैं। कहिये रागद्वेष को जीतनेमें तीर्थंकर ही समर्थ हैं। वाग्भट जैनी थे यह बात छीपाई नहीं छीपती। प्रथमतः मगलाचरण इसकी साक्षी है। दूसरी बात यह है कि–जैनश्वेताम्बरोंके इतिहासमें वाग्भटके सबधमें बहुत कुछ वृत्तान्त मिलता है। अत यह बात निस्सन्देह है कि–अष्टागहृदय नामक वैद्यक ग्रन्थकर्ता वाग्भट जैनश्वेताम्बर मतावलम्बी श्रावक था।

अब हम श्रोताओंको वाग्भटजीके अष्टागहृदय ग्रन्थका थोडेमें कुछ वर्णन सुनाना चाहते हैं।

वैद्यकके आठ अगोको वाग्भट इस प्रकार बतलाते हैं.–

कायबालग्रहोर्द्धागशल्यदंष्ट्राजरावृषान् ।

अष्टावङ्गानि तस्याहुश्चिकित्सा येषु सश्रिता ॥ (वाग्. सूत्र. स्था. अ. १)

१–देह–२–बाल–३–ग्रह–४–उर्द्धाग–५–शल्य–६–दंष्ट्रा –७–जरा–८–वृष यह वैद्यक विषयके आठ अङ्ग है। यद्वा कोई यह कहे कि–सब चिकित्सा देहमें ही होती है फिर बाल ग्रह आदिसे देहको पृथक् कैसे कहा ? इसके उत्तरमें ज्ञात हो कि किसीने ऐसा कहा कि–" प्रकर्षो यथाऽभिरूपाय कन्या देया" इससे यह स्पष्ट है कि–अत्यन्त रूपवान्को कन्या देनी। यानी साधारण रूपवान्को कन्या देनेका स्वय निषेध हो चुका। इसी प्रकार काल शब्द वैद्यक ग्रन्थोंमें सम्पूर्ण धातुवाले देहधारी यौवनावस्थावान् के लिये व्यवहृत किया जाता है। कायशब्द चिञ् चयने धातुसे व्युत्पादित होता है "चीयते प्रशस्तदोषधातुमलैरिति काय " अर्थात् जब प्रशस्त दोष (वात, पित्त, कफ) धातु और मल इनके सहित सम्यक्रीत्या देह प्रतीत होने लगे, तब देहकी काय सज्ञा वैद्यक ग्रन्थकारोंने मानी है। अत सब शरीरके उपतापक आम पक्वाशय स्थानोंसे उत्पन्न जो ज्वर, रक्तपित्त, अतिसारादि रोगोंके निवृत्तिके यत्नोंका जहा वर्णन हो उसे आठ अगोंमें कायचिकित्सा नामक प्रथम अङ्ग कहा है। अर्थात् बल और

सत्त्व सम्पूर्ण धातु वाला होनेसे यौवनावस्थावालेके उपयोगी अङ्गको ही प्रथम अङ्गमे माना गया है।

२–बालदेहमें सम्पूर्ण वल एव धातु आदि न होनेसे बालकोंके लिये औषधोपचारें यौवनावस्थावालेसे पृथक् कहे हुवे है, इस लिये बालचिकित्सा यह वैद्यकका दूसरा अङ्ग माना गया है।

३–ग्रह चिकित्सामें शान्तिकर्म आदि विषय है, यह तीसरा अङ्ग है।

४–स्कधोंकी सधियोंसे उपर नेत्र, कान, नासिका आदि अगोंमें उत्पन्न हुए रोगोंकी शाति आश्चोतन शलाका करना यह चतुर्थ अङ्ग है।

५–शस्त्र साधन सामान्यसे शल्यको चिकित्साका पाचवा अङ्ग कहा है। क्योंकि रोगोंकी तरह शल्य भी पीडाको उत्पन्न करता है।

६–इसमें सर्व, वृश्चिकादि विषारी प्राणियोंके दश (काटने) से शीघ्र ही मरणकी सभावना होती है, इससे वचानेके लिये दृष्ट्रा चिकित्साका छठा अङ्ग है।

७–रसायन चिकित्साका सातमा अङ्ग है। क्यों कि रसायनसे विष दूर होते हैं। शरीरकी व्याधिया मिटती हे और जराका नाश होता है इस लिये इसे सातवॉ अङ्ग माना गया है।

८ वाजीकरण यह वैद्यकका आठ वा अङ्ग है। वाजी नाम घोडेका है। अर्थात् घोडेके समान वेग एव वीर्यवाला मनुष्य जिससे बन जाय, ऐसे उपाय नियोजित जहा पर है, उस अङ्गको "वृषा" नामक आठवाँ अङ्ग कहते हैं।

उपर्युक्त आठो अगोंके अन्तर्भूत सारा वैद्यक शास्त्र आ जाता है। और वाग्भटने इन आठों अगोका विस्तार पूर्वक वर्णन किया है।

वाग्भटका अष्टागहृदय ग्रथ पूर्वाध और उतरार्ध इस प्रकार दो भागोंमें विभक्त है। पूर्वार्धमें सूत्रस्थान, शरीर स्थान और निदान स्थान इस प्रकार तीन स्थान हैं। जिसमें सूत्र स्थानके ३० अध्याय है। शरीर स्थानके ६ छे अध्याय हैं। और निदान स्थानके १६ अध्याय ह।

उत्तरार्धमें चिकित्सा, कल्प ओर उत्तर इस प्रकार तीन स्थान हैं। जिसमें चिकित्सा स्थानके २२ अध्याय हैं। कल्पस्थान और उत्तर स्थानक एक २ अध्याय है।

वाग्भटने दोषोंकी परिसख्या, दोषोंके स्थान, अग्निका स्वरूप सप्तधातु, मळ, शरीर रक्षणोपाय, रस और रसगुण, वीर्य, रोगोंके कारण और उनकी परीक्षा, वैद्यके

गुण और औषधियोंके गुण, दिनचर्या, स्वास्थ्यरक्षा, व्यायाम, अभ्यग, स्नान, ऋतुचर्या, तथा वमन, विरेचन, नस्य और वस्ति आदिकर्म, एवं ज्वर अतिसार ग्रहणी राजयक्ष्मादि सपूर्ण रोगोंकी चिकित्सा और औषधि सेवनका फल रसायन एव वाजीकरण इत्यादि २ वैद्यक सबधी बहुतसे विषय ऐसे उत्तमता पूर्वक क्रमबद्ध लिखे है । जिसके लिये वाग्भटको वृद्धत्रयीमें स्थान मिला है । यह जैनियोंके लिये थोडे आनन्दकी बात नहीं हैं । जैन पडितोंका रचा वैद्यक विषयका ग्रथ सर्व मान्य होनेसे जैनियोंकी अन्यान्य विषयोंकी निपुणताकी प्रशसाके समान ही वैद्य विद्याके विषयमें निपुणताकी प्रशसा सर्वत्र हो रही है । तथापि दुःखके साथ कहना पडता है कि वाग्भट सरीखे सर्व मान्य ग्रथमें इस ग्रथको छापनेमें जैनेतर पडितोंने कई क्षेपक वाक्य घुसेड दिये हैं ऐसा प्रतीत होता हैं । उन क्षेपक श्लोकोंको निकालकर किसी जैन वैद्यद्वारा उस ग्रथका सम्पादन हो तो, बहुत अच्छी बात है । किन्तु आज तक इस ओर किसीने लक्ष नहीं दिया ।

आयुकी रक्षाका उपदेश वाग्भटजी किस प्रयोजनसे करते है, यह भी आपको सुना देता हु । वह इस प्रकार कहते है:—

आयुःकामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् ।
आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥ १ ॥

अर्थात्—धर्म अर्थ और सुख (त्रिवर्ग) में निमित्त कारण आयु है, इनकी कामना वाले मनुष्यको आयुर्वेदीय उपदेशमें परमादर करना चाहिये । वैद्य विद्याका प्रयोजन आपने इस श्लोकमें कैसा बतलाया हैं यह आप भली भाती समझ सकते है ।

आपकी उत्कृष्ट धार्मिकता अष्टागहृदयके एक श्लोकमें झलक रही है वह श्लोक यह है:—

सत्यवादिनमक्रोधमध्यात्मप्रवणेन्द्रियम् ।
शातं सद्वृत्तनिरत विद्यान्नित्यरसायनम् ॥ १८० ॥

(वा उत. स्था. अ ९)

अर्थात् सत्य बोलने वाला, क्रोधसे वर्जित योगके गुण वाली इन्द्रियों वाला, शात और श्रेष्ठ वृत्तिमें स्थित मनुष्यको नित्य रसायन वाला जानना चाहिये ।

ब्रह्मचर्यके संबधमें भी आपके विचार सुन लीजिए:—

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं लोकद्वयरसायनम्।
अनुमोदामहे ब्रह्मचर्यमेकान्तनिर्मलम् ॥ ४ ॥

अर्थात्:—धर्म और यश समुक्त आयुमें हित करने वाला रसायन एकान्त निर्मल ब्रह्मचर्यको मै अनुमोदन करता हु।

वाग्भटके सिवा जैनाचार्योंने तथा जैन पडितोंने वैद्यक विषयके बहुत उत्तम २ ग्रथोंकी रचनाकी है।

देखिए!

नागपुरीय तपागच्छीय श्रीचन्द्रकीर्तिसूरिके शिष्य पाठक श्रीहर्षकीर्तिसूरिने योगचिन्तामणी नामके वैद्यक ग्रंथकी रचनाकी है। चन्द्रकीर्तिसूरि एक प्रसिद्ध वैयाकरणी हो गये हैं। जिनकी सारस्वत नामके व्याकरण ग्रथ पर सुबोधिनी (चन्द्रकीर्ति) टीका सर्वत्र प्रसिद्ध है और वह टीका बंबईके वेंकटेश्वरादि यन्त्रालयोंमें मुद्रित हुवे कितनेक वर्ष वीत चुके हैं। इन्ही प्रसिद्ध वैयाकरणके शिष्य हर्षकीर्ति पाठकभी व्याकरण—न्याय—काव्य—कोपालङ्कारादि छन्द शास्त्रोंके—वेत्ता प्रतीत हो रहे हैं, इस बातकी साक्षीमें उनका वैद्यक विषयका रचित ग्रथ योगचिन्तामणी पर्याप्त है। इसके श्लोकोकी रचना देखनेसे ही उनके अपूर्व पाडित्यका परिचय मिलता है।

नामके अन्तमें 'कीर्ति' शब्द दिगबर सम्प्रदायके भट्टारकोमें भी लगाया जाता है किन्तु श्वेताम्बरोंमें जो कीर्ति शाखा है वह उनसे भिन्न है। चन्द्रकीर्ति तथा हर्षकीर्ति श्वेताम्बर सम्प्रदायान्तर्गत कीर्ति शाखाके आचार्य हो गये हैं। हर्षकीर्ति स्वय योगचिन्तामणीके अन्तमें प्रशस्तिमें लिखते है —

सूरीश्वरः प्रवरसिंहशिरोवतंसः श्रीचन्द्रकीर्तिगुरुपादयुगप्रसादात्।
गंभीरचारुतरवैद्यकशास्त्रसारम् श्रीहर्षकीर्तिवरपाठक उद्दधार ॥ १५४ ॥

विचार्य पूर्वशास्त्राणि हर्षकीर्त्याह्वसूरिभिः।
किंचिदुद्ध्रियते तस्मै रहस्यं वैद्यकार्णवात् ॥ १५५ ॥

(योग. अ. ७)

अर्थात् चन्द्रकीर्ति गुरुके चरण कमलोंके प्रसादसे प्रथमके वैद्यक अर्थोंको विचार कर वैद्यकरूप समुद्रसे थोडेमें सार लेकर इस योगचिन्ताणीकी मैंने (हर्षकीर्तिने) रचनाकी है।

हर्षकीर्तिने योगचिन्तामणी ग्रंथके आद्यमें ४ श्लोकोंमें श्री जिनेन्द्रोंका मङ्गलाचरण किया है उनमेंसे एकाद श्लोक श्रोतृ समूहको सुना देना उचित समझता हू। देखिए कैसा सुन्दर मङ्गलाचरण है:—

जगत्रितयलोकाना पापरोगापनुत्तये।
यद्वाक्यभेषजं भाति श्रीजिनः सः श्रियेऽस्तु वः॥ १॥

अर्थात्:—तीनों जगत् (स्वर्ग, मृत्यु और पाताल) के लोकोंके पाप रूप रोगोंको जीतनेमें जिनके वाक्य औषध समान शोभा दे रहे हैं ऐसे श्रीजिनेश्वर आप लोकोंको मुक्ति और आरोग्यतारूप लक्ष्मीके दाता हो।

बबईवाले हरिप्रसाद भगीरथजीने इस ग्रंथको हिन्दी भाषानुवाद सह छपवाया है। अनुवादक पनारायणप्रसाद और मुकुदनारायण है। इस छपी हुई पुस्तकके अन्तमें लिखा है कि—इति श्रीमन्नागपुरीय तपगच्छीय। श्रीहर्षकीर्तिसूरिसकलिते वैद्यकसारोद्धारे योगचिन्तामणौ मिश्रकाऽध्याय समाप्त॥

इस ग्रंथकें कुल सात अध्याय हैं। इसमें जिन २ रोगोंके निदान और उपाय कहे हैं उनकी सूचि स्वय हर्षकीर्तिजीने नव ९ श्लोकोंमें देदी है। वे श्लोक ये हैं—

ज्वरातिसारो ग्रहणी अर्शोऽजीर्णं विषूचिका।
अलसश्च विलम्बी च कृमिरुक् पाण्डुकामले॥ १॥
हलीमकं रक्तपित्तं राजयक्ष्मा उर क्षतम्।
कासो हिक्का सहश्वास स्वरभेदस्त्वरोचकम्॥ २॥
छर्दिस्तृष्णा च मूर्च्छाद्या रोगा पानात्ययादय।
दाहोन्मादावपस्मार कथितोह्यनिलामयाः॥ ३॥
वातरक्तमुरुस्तंभ आमवातोऽथ शूलरुक्।
पित्तजं शूलमानाह उदावर्तोऽथ गुल्मरुक्॥ ४॥
हृद्रोग मूत्रकृच्छ्रं च मूत्रघातास्तथाश्मरी।
प्रमेहो मधुमेहश्च पिटिकाश्च प्रमेहजाः॥ ५॥

मेदोदोषोदराः शोथो वृद्धिश्च गलगण्डकम्।
गण्डमालापची ग्रंथिरर्बुदं श्लीपदं तथा ॥ ६ ॥
विद्रधी व्रणशोफाश्च द्वौ व्रणौ भग्ननाडिकौ।
भगंदरोपदंशौ च शूलदोषास्त्वगामयाः ॥ ७ ॥
शीतपित्तमुदर्दश्च कुष्ठश्चैवाऽम्लपित्तकम्।
विसर्पश्च स विस्फोटः सरोमांचो मसूरिका ॥ ८ ॥
क्षुद्राऽऽस्यकर्णनासाऽक्षिशिरः स्त्री-बाल-कामयाः।
विषं चेत्ययमुद्देशः संग्रहेऽस्मिन् प्रकीर्तितः ॥ ९ ॥

अर्थात्—ज्वर, अतिसार, संग्रहणी, बवासीर, अजीर्ण, विषूचिका, अलस, विलम्बी, कृमी, पांडु, कामला, हलीमक, रक्तपित्त, राजयक्ष्मा, उरः क्षतः, खांसी, हिचकी, श्वास, स्वरभंग, अरुची, छर्दी, प्यास, मूर्च्छा, पानात्यय आदि दाह, उन्माद, मृगी, वातरक्त, उरुस्तंभ, आमवात, शूल, पित्तजशूल, अनाह, उदावर्त, गुल्म, हृदयरोग, मुत्रकृच्छ्र, मूत्रघात, पत्थरी, प्रमेह, मधुमेह, प्रमेहोत्थपिटिका, मेह, उदर, शोप, शोथ, अंडवृद्धि, गलगंड, गंडमाला, अपची, ग्रंथीरोग, अर्बुद, श्लीपद, विद्रधी, व्रण, सूजन, नाडीभग्न, भगंदर, उपदंश, शूल, शीतपित्त, उदर्द, कुष्ट, आम्रपित्त, विसर्प, विस्फोटक, रोमांच, मसूरिका, क्षुद्ररोग, मुखरोग, कर्णरोग, नासारोग, नेत्ररोग, शीतरोग, स्त्रीरोग, वालरोग, और विष इनके रोगोंके विषयमें संग्रह करके इनके नाश होनेके उपाय इस ग्रंथमें संग्रह किये हैं।

एक हिन्दी भाषामें छन्दो बद्ध, रामविनोद नामक वैद्यक विषयका संग्रह ग्रंथ है। उक्त ग्रंथको पद्मरङ्ग शिष्य रामचन्द्रजीने बनाया है। उक्त ग्रंथ ३०० वर्षोंका हस्त लिखित मेरे समीप है। लखनउके मुन्शी नवलकिशोरके प्रेसमें छपा है किन्तु अनेक विषय उसमें अधूरे छपे हैं। मुख्य २ विषयतो रह ही गये हैं। यह देश भाषामें इतना सुन्दर ग्रंथ है कि—जिसमें वैद्यक विषयकी एक बात भी छूटने नहीं पाई है। इस ग्रंथकी सहायतासे संस्कृत भाषा अनभिज्ञ भी पूरा वैद्य हो सकता है। इसमें निदान, उपाय, परीक्षा आदिका वर्णन बहुत उत्तमता पूर्वक लिखा है। अष्ट विध परीक्षाको थोडे शब्दोंमें कैसा अर्थ निबद्ध करके लिखा है यह आपको सुनाता हुं:—

आदि नसा देखिये। लक्षण अन्ननिहार मुख लोचन दन्तानखा, प्राण श्रोत्र यह द्वार॥१॥ जिह्वा अंबर हस्त, पुनी पंडित करो विचार प्रथम लक्षण यह देखके कर पीछे उपचार ॥ २ ॥

इसके अतिरिक्त जैन पडितोंके रचित वैद्यक ग्रथ अनेक हैं। पूरा वृत्तान्त कहने लगें तो बहुत समय चाहिये। सुननेमें आया है कि-श्रीमान् हेमचन्द्राचार्यजी रचित "वैद्यतत्त्वसागर" नामका एक वैद्यक ग्रथ है। यदि उक्त ग्रथ किसी जैन वैद्यद्वारा सम्पादित हो कर प्रकाशित होतो क्या ही अच्छा हो।

यदि जैन पडितोंके रचित वैद्यक ग्रथ, किसी जैन वैद्य द्वारा सम्पादित हो कर प्रकाशित हो तो, जैनेतर पडितों पर अधिक प्रकाश पडनेका समव है। अन्य पडितों द्वारा सम्पादित और प्रकाशित जैन पडितोंके रचित ग्रंथोंमें बहुतसी भूलें हुई हैं। प्रस्तावनामेंभी ठीक नहीं लिखी गई हैं। अतः इस ओर महानुभावोंने लक्ष पहुँचाना चाहिये।

जैन पडितोंके रचित ज्योतिष ग्रथोंके सबधमें भी ऐसाही बना है।

देखिये !

तपगच्छके यतिवर्य श्रीमान् मानविजयजीने "मानसागरी" नामके ग्रथकी रचनाकी है। यह एक ही ग्रथ मानविजयजीके व्याकरण—छन्द-अलङ्कारादि एव ज्योतिषके ग्रथोंमें आपकी निपुणताका परिचय दे रहा है। ज्योतिषी लोक जन्मपत्रिकाके फलित लिखनेमें इसी ग्रथके श्लोकको काममें लेते है। जन्मपत्रिकामें फलित लिखनेमें इसके बराबरीका दूसरा कोई ग्रथ है ही नही, ऐसा कह दिया जाय तो भी अत्युक्ति नहीं है। जैनेतर ज्योतिषी (ब्राह्मण) भी इस ग्रथकी मुक्त कण्ठसे प्रशसा करते हैं:—

प्यारे मित्रो !

जैनसाहित्यमें ज्योतिष सबधी आप्त ग्रथोंके सिवा त्रैलोक्य प्रकाश, आरंभ सिद्धि, जोतिष करडक, नारचन्द्र प्रभृति अनेक ग्रथ हैं, वे किसी जैन पडित द्वारा सम्पादित हो कर छप जाने चाहियें।

प्रथमके जैन पडितोंने अनेक विषयों पर अपनी लेखनी चलाई है, उसकी रक्षा करना हमारा कर्तव्य कर्म है।

यवन ज्योतिष भारत वर्षके ज्योतिषसे कुछ २ भिन्न है। वे उसे नजूम तथा रमल कहते हैं। रमलके ग्रथ यावनी लिपि और यावनी भाषामें हैं। हमारे आर्यावर्तके पडितोंने उस भाषासे तथा उन ग्रथोंसे उद्धृत करके रमलके कई सस्कृत ग्रथ बना डाले हैं। उनमें रमल नवरत्न तथा रमल दानियाल वगैरा कई ग्रथ वेंकटेश्वरादि प्रेसोंमें मुद्रित हो चुके है। हमारे एक तपगच्छके यतिजीने भी इस विषयका एक ग्रथ सस्कृतमें खूब लम्बा चोडा लिखडाला है। उक्त ग्रथ ऐसा अद्वितीय है कि–

आर्य भाषाओंमें जिसके बराबरीका एक भी ग्रंथ नहीं है। रमल नवरत्न इसके सम्मुख कोई चीज नहीं है। उक्त ग्रंथ ऐसा तो रसीला है और ऐसी ही प्रासादिक इसकी कविता है। विषय भी चमत्कृति कारक है। प्यारे मित्रो! यदि यह ग्रंथ छप जाय तो संसारमें एक नूतन ही प्रकाश पडनेका संभव है। उक्त ग्रंथको मेरे गुरु वर्य परमपूज्य श्रीमान् केवलचन्द्राचार्यजी महाराज पाटणसे तपगच्छके श्रीपूज्यजीके भंडारसे सं. १९१६ में लाये थे। उक्त ग्रंथके संबंधमें मैं केवल इतनाही कहना चाता हूँ कि–इस विषयका यह केवल एक ही ग्रंथ है। इस ग्रंथकी रचना पाठक भोजसागर गणीने की है। आप विजयदयासूरि तपगच्छा चार्यके समयमें विद्यमान थे। तपगच्छकी पट्टावलीके अनुसार महावीर स्वामीसे ६४ में पट्ट पर विजयदयासूरि हुवे हैं। इनका समय विक्रम संवत् १८सोके अन्दाजका होना चाहिये पाठक प्रवर भोजसागरजी स्वयं इस ग्रंथके अन्तमें अपना तथा स्थानका परिचय इस प्रकार दे रहे हैः—

श्रीसूर्यमण्डनजिनेश्वरपादपद्ममाहात्म्यतो विरचिते रमले निबंधः ।
पद्यात्मकः प्रवरपाठकभोजनाम्ना निर्विघ्नशास्त्रपरिपूर्तिरपीह तस्मात् ॥ १४ ॥
प्रथमादर्शे लिखितं सूर्यपुरे भोजसागरेणेदम् ।
पाठकवरेण सम्यक् श्रीपूज्यादेशतः शास्त्रम् ॥ १५ ॥

इन दो श्लोकोंसे यह स्पष्ट विदित हो रहा है कि–उन्होंने श्रीपूज्यजीके आदेशसे सूरत बंदरमें इस ग्रंथ की रचनाकी है। समयका भी इसी ग्रंथके एक श्लोकसे पता लगता है उसमें लिखा है किः—

सोऽहं श्रीविजयादयागणधराः श्रीवर्द्धमानार्हतः
पदे दिग्गजतर्कसम्मीतवरेऽकार्प स्वयं रामलम् ।
शास्त्रं प्रश्नविचारसारसहितं लोके चमत्कारदं ।
वर्षे चाष्टनिधानसंयममिते पौषे दशम्यां शिते ॥ ११ ॥

मंगलाचरण भी आप सुन लीजियेः—

चञ्चत्काञ्चनरुचये–देवबधूटीस्तुनेत्रमुकराय ।
नाभेयाय नमोऽस्तु केवलकमलापते तुभ्यम् ॥ १ ॥

इस मंगलाचरणसे आपने तर्क शास्त्रके प्रयोगोंको भी देखे ज्ञात हो रहे हैं।

कारिकावलीका मङ्गलाचरण और इस ग्रथका मङ्गलाचरण निम्न प्रतिबिम्बकी तरह दीख रहे हैं। इस ग्रथके २२ अध्याय हैं। श्लोक सख्या २००० के लगभग है। निमित्त शास्त्रके जाननेवाले प्रथम कोन २ हो गये है इस विषयमें आप कहते है कि:-

श्रीपुण्डरीकप्रथमसुधर्म्मा—ततश्च जम्बुमुखा बभूवुः।
सम्पूर्णपूर्वाङ्गविदो महन्त स्वष्टाङ्गनैमित्तिकशास्त्रविज्ञाः ॥ ७ ॥

उपर्युक्त ये महात्मा अष्टागनिमित्तके जानने वाले हुवे हैं और अन्योने फिर इन्हींसे लिये हैं।

इस ग्रथमें जमीर निकालनेकी रीति ऐसी उत्तम बतलाई है कि-जिससे मूक प्रश्न शीघ्र मिल सकता है। वे स्वय जमीरके सबधमे लिखते हैं कि—

"अथ जमीरचमत्कृतिकारकम्।
विविधपृच्छकसंशयवारकम्—

१ कहिए ? ऐसे उत्तम ग्रथका सर्व साधारण लाभ ले सके और रमल शास्त्र सबधी, जैन पडितोंकी कृतिका ससारमें प्रकाश पडे इसलिये इस ग्रथके छपवानेकी कितनी आवश्यकता है। यह आप स्वय समझ सकते हैं। कहा तक कहूं प्यारे मित्रो ? ऐसे बहुतसे ग्रथ है जिनके लिये ध्यान देना आवश्यक है।

मेरी अन्तिम प्रार्थना यह है कि—जैनसाहित्यके सबधमें जो जो विचार यहा पर विद्वानोने दर्शाये हैं, वे केवल कथन मात्रके लिये न रख कर इस कार्यकी पूर्तिके समग्र जैन साहित्यके प्रेमीयोंने कटीबद्ध हो जाना चाहिये और जैन साहित्यको यथा प्रयत्न लाभ पहुचाना चाहिये और मैं उम्मेद करता हूं अब हमारे साहित्य प्रेमी इस कार्यमें लगे हैं ऐसे ही हमेशाके लिये लगे रहेंगे और उत्तरोत्तर वृद्धि करते रहेंगे। मैं अब शासन नायक श्रीचरम तीर्थंकर वीर प्रभुके स्मरण पूर्वक विश्राम लेनेकी आज्ञा चहाता हूं।



सूंधा पहाडी परका चाचिगदेवका लेख.

[विक्रम] संवत् १३१९.

(लेखक–साहित्याचार्य पण्डित विश्वेश्वरनाथ शास्त्री, जोधपुर)

यह लेख सूंधा माता नामक चामुण्डाके मन्दिरमें लगा है। यह मन्दिर जोधपुर राज्यके जसवन्तपुरा ग्रामसे १० मील उत्तरकी सूधा पहाडीके ढलावमें बना हुआ है। इसके सामने एक छोटीसी नदी है। मन्दिरके अन्दर एक पर्वतकी गुफा है। उसीमें चामुण्डाकी मूर्ति स्थित है। इस चामुण्डा देवीका एक सुवर्णनिर्मित चहरा प्राचीनकालसे वहीं पर रक्खा हुआ है; जो विशेष विशेष समयोंपर मूर्तिके मुखपर लगा दिया जाता है। इस मन्दिरकी उत्तरकी तरफकी शालामें २ काले पत्थर लगे हैं। उन्हींपर यह लेख खुदा हुआ है।

पहले इस पहाडीके स्वामी देवलराजपूत थे। इनके वंशका यह नाम सम्भवतः इसी देवल (देवालय) के पुजारी होनेसे पडा होगा।

वि० सं० १९४१ में इस लेखका पता मुनशी देवीप्रसादजीको लगा था और वि० सं० १९४२ मे स्वर्गवासी श्रीमान् पण्डित माधोप्रसादजी साहब मेम्बर काउन्सिल मारवाड और सुप्रिन्टेन्डैन्ट महानीने इस लेखकी नकल करवा कर प्रथमही प्रथम उक्त मुनशीजीके पास भेजीथी। वि० स० १९४४ में स्वयं मुनशीजी भी उपर्युक्त स्थानपर गए और इस लेखकी छापें उतारकर लाए।

वि० सं० १९५० में आपने इस लेखको प. रामकर्णजीसे पढवाकर अपनी मारवाडके प्राचीन लेख नामक पुस्तकमें इसका मूल मात्र छपवा दिया। परन्तु इसके पठनमें अनेक स्थानोंपर अशुद्धता रह गई है। इसके बाद ई. स. १९०७ में इसी लेखको कीलहार्न साहेबने 'एपिग्राफिया इण्डिका' नामक पत्रमें

छपवाया। यद्यपि इस पत्रमें यह बडी योग्यताके साथ छापा गया है। तथापि कहीं कहीं त्रुटियें रह गई हैं।

इसी लेखको हिन्दी प्रेमियोंके सुभीतेके लिये जैनसाहित्यसम्मेलन की आज्ञासे आज हम प्रथमही प्रथम हिन्दीमें लिखकर श्रीमानों की सेवामें उपस्थित करते हैं और साथ ही यह भी आशा करते हैं कि जो कुछ त्रुटियां रह जाय, उनके लिये सहृदय पाठक अवश्य क्षमा करेंगे।

हम पूर्वही लिख चुके हैं कि यह लेख दो शिलाओं पर खुदा हुआ है। प्रथम शिलामें २६ पंक्तियां है और दूसरीमें २४। प्रथम शिलाके लेखकी चौडाई ३ फीट, ३ इंच और ऊंचाई १ फुट, ७½ इंच है। तथा दूसरी शिलाके लेखकी चौडाई २ फीट १० इंच और ऊचाई १ फुट, ५ इंच है।

लेखका भावार्थ।

पहली प्रशस्ति.

श्लोक १ से ३ तक मंगलाचरण है।

४ में वत्सऋषिके गोत्रमें चाहमान नामक राजाका होना लिखा है।

श्लोक ५ और ६ से पूर्वोक्त चाहमानके वंशमें लक्ष्मणका होना पाया जाता है। यह लक्ष्मण नद्दूल[1]का राजा था। तथा शाकंभरींद्र (सांभरी-राज) भी कहलाता था।

७ वें श्लोकके पूर्वार्धमें लक्ष्मणके पुत्रका नाम शोभित लिखा है। इसने आबूके[2] राजाकी कीर्ति हरण कीथी। तथा उत्तरार्धमें शोभितके पुत्रका नाम बलिराजदेव लिखा है। (मालवेके परमार राजा) मुञ्जराजेकी[3] सेनाको इसने हराया था।

१ नद्दूलसे नाडोलका तात्पर्य है।

२ सम्भवतः उस समय आबू पर परमारोंका राज्य था।

३ इसका दूसरा नाम वाक्पतिराज (द्वितीय) था।

८ वें श्लोकमें भी बलिराजकी ही प्रशंसा है।

९ वें श्लोकमें बलिराजके पीछे इसके चचाके लडके महीन्दुराजका[1] राजा होना लिखा है।

१० और ११ में महीन्दुराजके पुत्रका नाम अश्वपाल दिया है।

१२ से १३ तकमें महीन्दुके पुत्र अहिलका वर्णन है। इसने गुजरातके राजा भीमकी[2] सेनाको हराया था।

१४ से १७ तकमें अहिलके चचाका नाम अणहिल्ल[3] लिखा है। इसने भीमकी सेनाको हराया, बल पूर्वक सांभर पर अधिकार किया और मालवेके राजा भोजके[4] सेनापति सोढको मारा।

१८ और १९ में अणहिल्लके पुत्रका नाम बालप्रसाद खुदा है। इसने भीमके[5] बन्दीगृहसे कृष्णदेवको[6] छुडवाया।

२० वें और २१ वें श्लोकानुसार बालप्रसादका उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई जिन्दुराज हुआ। इसने संडेरे[7] गांवमें शत्रुओंको मार भगाया।

२२ और २३ में जिन्दुराजके पुत्रका नाम पृथ्वीपाल लिखा है। इसने गुजरातके राजा कर्णकी[8] सेनाको हराया था।

---

१ यह विग्रहपालका पुत्र था।
२ यह अनहिलवाडेका भीमदेव (प्रथम) था।
३ यह महेन्द्रका पुत्र था।
४ यह परमार राजा था।
५ यह भीमदेव (प्रथम) अणहिलवाडेका राजा था।
६ सम्भवत कृष्णदेव आबूके परमार राजा धन्धुकका पुत्र था।
७ संडेरेसे साडेराव गावका तात्पर्य है। यह जोधपुर राज्यमें है। तथा नाडोलसे दक्षिण-पश्चिममें है।
८ यह कर्ण, भीमदेव(प्रथम)का पुत्र और उत्तराधिकारी था। यह त्रैलोक्यमल्ल भी कहलाता था।

२४ वें और २५ वें श्लोकसे प्रकट होता है कि, पृथ्वीपालका उत्तराधिकारी उसका भाई योजक हुआ। इसने अणहिल्लपुरे पर अधिकार कर लिया था।

२६ से ३० तकके श्लोकोंसे प्रकट होता है कि, योजकके पीछे इसका भाई आशाराज राजा हुआ। इसने मालवेमें सिद्धाधिराजे (जयसिंह–सिद्धराज) की सहायता की और मन्दिर, तालाव, आदि अनेक धर्मस्थान बनवाए।

इसके अनन्तर तीन वाक्य गद्यमें लिखे गये हैं। प्रथम वाक्यमें, इस प्रशस्तिके कर्ताका नाम जयमङ्गलाचार्य लिखा है यह बृहद्गच्छका था। दूसरेमें, इसके लिखने वालेका नाम नाम्वसिंह लिखा है। यह वैद्य विजयपालका पुत्र था। तीसरेमें इसके खोदने वालेका नाम जिसरवि लिखा है। यह सूत्रधार त्रिसपालका पुत्र था। यहां पर प्रथम शिलापरकी प्रशस्ति समाप्त हो गई है।

दूसरी प्रशस्ति।

श्लोक ३१ में मंगलाचरण है। (इस श्लोकमें के 'सुगंधाद्रि' शब्दसे सूंधा पहाडीका तात्पर्य है) वहीं परसे यह मिलाथा।

श्लोक ३२ और ३३ से प्रकट होता है कि, आशाराजका पुत्र आल्हादन हुआ। इसने नडूलमें महादेवका मन्दिर बनवाया था। सौराष्ट्र देशपर भी इसकी सेनाने विजय प्राप्त की थी; और गुजरातका राजा प्रत्येक समय इसकी सहायता मांगा करता था

३४ वें श्लोकमें इसके पुत्रका नाम केल्हण लिखा है, इसने दक्षिणके भिल्लिमे नामके राजाको हराया। तथा तुरुष्के को जीता और सोमेशके मन्दिरमें सुवर्णका तोरण बनवाया।

---

१ यह गुजरातके चौलुक्य राजाओंकी राजधानी थी।

२ यह सिद्धराज कर्णका पुत्र था। इसका दूसरा नाम जयसिंह था।

३ यह राजा देवगिरिका यादव राजा भिल्लम होना चाहिए।

४ तुरुष्क शब्दसे तुरकोंका तात्पर्य है।

३५ वें और ३६ वें से प्रकट होता है कि, केल्हण के पीछे इसका भाई कीर्तिपाल राजा हुआ। इसने किराटकूट[१]के राजा आसलको हराया और कासहृद[२]में तुरुष्कोंकी सेनाको जीतकर, जावालिपुर[३]को अपनी राजधानी बनायी।

३७ से ४० तकके श्लोकोंसे प्रकट होता है कि, इसका पुत्र समरसिंह हुआ। इसने कनकाचल[४] पहाडपर कोट बनवाया। सोमपर्व पर सुवर्णका तुलादान किया और समरपुर[५] नामका नगर बसाया।

४१ वें श्लोकमें लिखा है कि कीर्तिपालकी पुत्री रूदलदेवीने जावालिपुरमें दो शिवमन्दिर बनवाए।

४२ से ४६ तकके श्लोकोंमे लिखा है कि, समरसिंहका पुत्र उदयसिंह हुआ। यह राजा नड्डूल, जावालिपुर, माण्डव्यपुर[६], वाग्भटमेरु[७], सूराचन्द्र[८], राटहृद[९], खेड[१०], रामसैन्य[११], श्रीमाल[१२], रत्नपुर[१३], सत्यपुर[१४] आदि नगरोंका अधिपति था। इसकी रानीका नाम प्रह्लादनदेवी था। इससे दो पुत्र हुए। चाचिगदेव और चामुण्डराज। यह समरसिंह तुरुष्कोंके घमंडको तोडनेवाला, गुजरातके राजाओंसे अजेय

---

१ किरातकूटसे किराडूका तात्पर्य है। यह बाडमरसे २० मील पश्चिम है।

२ कासहृदसे कायद्राका तात्पर्य है। यह गांव आबूके निकट है।

३ जावालिपुरसे जालोरका तात्पर्य है।

४ कनकाचलसे जालोरकी उस पहाडीका तात्पर्य है जिस पर वहाका किला बना है। इस किलेको सोनलगढ भी कहते हैं।

५ समरपुरसे सूरपुरानामक गांवका तात्पर्य है।

६ माण्डव्यपुरसे मण्डोरका तात्पर्य है।

७ वाग्भटमेरुसे बाडमेरका तात्पर्य है।

८ सूराचन्द्र इस नामसे सूराचन्द गांवका तात्पर्य है।

९ राटहृदसे राडधडा गांवका तात्पर्य है।

१० खेड यह गांव तिलवाडा और बालोतराके बीचमें है।

११ रामसैन्यसे रामसेन नामक गांवका तात्पर्य है।

१२ श्रीमालसे भिनमाल का तात्पर्य है।

१३ रत्नपुरसे रतनपुराका तात्पर्य है।

१४ सत्यपुरसे साचोरका तात्पर्य है।

(नहीं जीता जानेवाला) सिंधुराजका मारनेवाला और भरतमुनिकृत शास्त्रके तत्त्वोंको जाननेवाला था । इसने जावालिपुरमें दो शिवमन्दिर बनवाए ।

श्लोक ४७ से ५७ तकमें लिखा है कि उदयसिंह के पीछे चाचिगदेवराज हुआ । यह चाचिगदेव गुजरातके राजा वीरमको[1] नष्ट करनेवाला, शत्रु शल्यको[2] नीचा दिखानेवाला, पातुक और संग नामक पुरुषोंको हरानेवाला और नहराचल पर्वतके लिये वज्रसमान था । श्रीमालमें इसने कुछ लागें छोडी थीं । तथा रामसैन्य नगरमें विग्रहादित्यकी पूजाके लिये यह सदा द्रव्य दिया करता था ।

इसने अपराजितेशके मन्दिर पर सुवर्णका कलश और ध्वजा चढाई थी । तथा उसी अपराजितेशके लिये चादीकी एक मेखला भी चढाई थी । इसी मन्दिरमें इसने एक दालान (शाला) और एक रथभी बनवा दिया था । इसने सुगन्धाद्रि (सुंधा) पर्वत पर जाकर अपने पूर्वजोंसे पूजी हुई अघटेश्वरी नामक चामुण्डाकी मूर्तिका पूजन किया । तथा उस देवीके मन्दिरमें एक मण्डप बनवाया । संवत् १३१९ वैशाख शुक्ला तृतीया (अक्षय तृतीया) के दिन ब्राह्मणों द्वारा इस मण्डपकी उसने प्रतिष्ठा करवाई ।

५८ वां श्लोक आशीर्वादात्मक है ।

५९ वें श्लोकमें इस प्रशस्तिके बनानेवालेका नाम जयमङ्गलसूरि लिखा है । देवाचार्यका शिष्य रामचन्द्र इसका गुरू था ।

इसके बाद दो वाक्य गद्यमें है । पहलेमें लिखा है कि, वैद्य विजयपालके पुत्र नाम्बसिंहने यह प्रशस्ति लिखी । तथा दूसरेमें इस प्रशस्तिके खोदने वालेका नाम जिसरवि लिखा है । यह सूत्रधार जिसपालका पुत्र था ।

---

१ यह वीरम वघेला वीरधवलका पुत्र और चाचिगदेवका बहनोई था ।

२ शायद शत्रुशल्यसे वैरिसाल नामक किसी पुरुषका तात्पर्य हो ।

इस ५० वें श्लोकके अर्थमें कुछ गडबड रहती है । सहृदय पाठक इसपर स्वयं विचार करें ।

मूल।

प्रथम शिला।

१–॥ ॐ ॥ श्वेतांभोजातपत्रं किमु गिरिदुहितुः स्वस्तदिन्या गवाक्षः किंवा सौख्यासनं वा महिमसुखमहासिद्धदेवीगणस्य । त्रैलोक्यानंदहेतोः[१] किमुदितमनघं श्लाघ्यनक्षत्रमुच्चैः शंभोर्भालस्थलेंदुः सुकृतिकृत

२– नुतिः पातु वो राजलक्ष्मीं ॥ १ ईशस्यांकावनिरनुपमानंदसंदोहमूला चंचद्वासोचलदलमयी भूषणप्रौढपुष्पा (ष्पा) । सल्लावण्योदयसुफलिनी पार्व्वती प्रेमवल्ली लक्ष्मीं पुष्णात्वनुदिनमतिव्यक्तभक्त्यानतानां ॥ २ विकट मुकुटमाद्यचेज

३– सा व्योम्नि दैत्यानिव भुवि मणिमय्या मेखलायाः क्वणेन । अनणुरणितलीलाहंसकैस्त्रासयंती फणिपतिभुवनांतश्चंडिका वः श्रियेस्तु ॥ ३

श्रीमद्वत्समहर्षिहर्षनयनोद्भूतांवु(बु)पूरप्रभेपूर्व्वोर्व्वीधरमौलिमुख्यशिखरालंकारतिग्मद्युतिः । पृथ्वीं त्रातु

४–मपास्तदैत्यतिमिरः श्रीचाहमानः पुरा वीरः क्षीरसमुद्रसोदरयशोराशिप्रकाशोभवत् ॥ ४ रत्नावल्यामिव नृपततौ तत्क्रमे विश्रुतायां धर्म्मस्थानप्रकरकरणप्राप्तपुण्योत्सवायां । श्रीनद्दूलाधिपतिरभवल्लक्ष्मणो नाम

५–राजा लक्ष्मीलीलासदनसदृशाकारशाकंभरींद्रः ॥ ५ आपातालात्समरजलधिं मंदरो यस्य खड्गो मुष्टिव्याजाद्भुजगपतिना श्रृंखलेनावव(ब)द्धः । निर्म्मथ्योच्चैः सपदि कमलां लीलयोद्धृत्स्य (त्य) मत्तश्चक्रे नृच राणितकटकः केलिकं

६–पच्छलेन ॥ ६ तस्माद्धिमाद्रिभवनाथयशोपहारी श्रीशोभितो जनि नृपोस्य तनूद्भवोथ । गांभीर्यधैर्यसदनंव(ब)लिराजदेवो यो मुञ्जराज व(ब)लभंगमचीकरत्वं ॥ ७ साम्राज्याशाकरेणुं रिपुनृपतिगजस्तोमभाक्रम्य जह्रे यत्खड्गो गं-

७–धहस्ती समररसभरे विंध्यशैलायमाने । मुक्ताशुक्तींदुकांतोज्ज्वलरुचिषु लस-

१ चिह्नद्वारा लिखित।

२ यद्यपि ओ इतेसमय प्रभा खोदा गया था; तथापि इस समय आकारका चिह्न खण्डित हो गया है।

जतो यः । कुर्वन्पीडामति व (च) लतया मोचयामास कारागाराद्भूमीपतिमपि तथा · कृष्णादेवाभिधानं ॥ १८ श्रीकर्यो* जलदभ्रमंदधुरहो सैन्येस्य से–

१६–वारसायाततुंप्रतिमे समुज्वेलपटावासा मरालश्रियं। कंपं वायुवशेन केतुनिवहा[1] शस्यानुकारं च ते संगीतानि च कोकिलारवतुलां चिचे तु तापं द्विपः ॥१९ श्रीमांस्तस्याजनि नरपतिर्वो (र्वी) धवो जिंदुराजो यः संडेरे–

१७–ऽर्के[2] इव तिमिरं वैरिवृंदं वि (वि) भेद। यस्य ज्योतिःप्रकरमभितो विद्विषः कौशिकाभा द्रष्टुं शक्ता नहि गिरिगुहामध्यमध्याश्रितास्तत् ॥ २० गच्छंतीनां रिपु–मृगदृशां भूषणानां प्रपाते वाष्पासारैर्घनलतितुलां वि (वि) भ्रतीनामरण्ये । दूर्वा–

१८–भ्रांतिं मरकतमणि–श्रेणयो यत्प्रयाणे तां वू (व्रू) लीयभ्रमामिव चिरं चक्रिरे पद्मरागाः ॥ २१ पृथ्वीं पालयितुं पवित्रमतिमान् यः कर्पुकानाँ करं मुंचन् प्राप यशासि कुंद–धवलान्यानंदहृद्याननः । पृथ्वीपाल इति ध्रुवं क्षिति–

१९–पतिस्तस्यांगजन्माभवत्प्रत्यक्षोरुनिधिः स गूर्जरपतेः कर्णस्य सैन्यापहः ॥ २२ यत्सेना किल कामधेनुसदृशी कीर्ति श्र (स्र) वती पयः स्वच्छंदं सचराचरेपि भुवने शत्रूंस्तृणीकुर्वती । धर्मं वत्समिव स्वकीयमनघं वृद्धिं नयंती

२०–मुदा कस्यानंदकरी व (ब) भूव न भुवोभीष्टं समातन्वती ॥ २३ श्री योजको भूपतिरस्य वं (बं) धुर्विवेकसौधप्रव (व) ल प्रतापः । श्वेतातपत्रेण विराजमानः शक्त्या-णहिल्लाख्यपुरेपि रेमे ॥ २४ त्यक्त्वा सौधमुदारकेलिविपिनं क्रीडा—

२१–चले दीर्घिकां पल्यंकाश्रयणं करेणुषु मुदां स्थानं समंतादपि । यस्यारिक्षिति-पालवा (वा) ल ललनाः शैले वने निर्झरे स्थूलग्रावाशिरस्सु संस्मृतिमगुः पूर्वोपभुक्त-श्रियां ॥ २५ श्री आशाराजनामा समजनि वसुधा–नायकस्त

२२–स्य वं (वं) धुः साहाय्यं मालवानां भुवि यदसिकृतं वीक्ष्य सिद्धाधिराजः तुष्टो धत्ते स्म कुंभं कनकमयमहो यस्य गुप्य×द्रुरु स्थं तं हर्तुं नैव शक्तः कलुषित-हृदयः शेषभूपालवाग्भिः ॥ २६ उदयगिरिशिरःस्थं किं सहश्रांशुं-विं (विं) वं (वं)

---

* श्रीकरी एक प्रकारके बाजेका नाम है।

१ शुद्धपाठ–समुज्ज्वल. (a) शुद्धपाठ–निवहा-स–

२ अवग्रहका चिह्न अगाडीकी पंक्तिके अन्तमे खुदा हुआ है।

३ शुद्धपाठ–कर्षुकाणा ।

× गुप्यदुरु–यह कोई वस्तु विशेष है, जिस पर कलश रक्खा जाता है

४ शुद्धपाठ–सहस्रांशु–

२३–वितवियदकीर्त्तेर्मूर्ध्नि किं नु प्रतापः । उपरि सुभगतायाः उद्गता मंजरी किं कनककलश आभायस्य गुप्यद्गुलक्ष्यः ॥ २७ कनकरुचिशरीरः शैलमारामिरामः फणिपतिमहनीयस्यावतारः स विष्णोः । य (उ) दिलनिविनु–

२४–ताया मंदिरे स्कंधदेशे दधदवनिमुदारामनिमः पुण्य-मूर्त्तिः ॥ २८ सत्रागार–तडाग–कानन–हरप्रासाद–वापी–प्रपा–कूपादीनि विनिर्म्मेमे द्विजजनानंदो क्षमामण्डले । धर्म्मस्थानशतानि यः किल नु (नु) धश्रेणीपु

२५–कल्पद्रुमः कलत्स्यंदनुपारशैलधवलं स्तोतुं यशः कोविदः ॥ २९ श्रेतान्येव यशांसि तुंगतुरगस्तोमः शि (सि) तः सुभ्रुवां चंचन्मौक्तिकभूषणानि धवलान्युच्चैः समप्राप्यपि । प्रेमालापभवं स्मितं च विशदं शुभ्रा–

२६–णि वस्त्राँक्सा वृंदानीति नृपस्य यस्य पृतना कैलास–लक्ष्मीं श्रिता ॥ ३० प्रशस्तिरियं वृ (बृ) हद्गच्छीय–श्री–जयमंगलाचार्य–कृतिः ॥ निषन्विजयपाल–पुत्र–नाम्वसिंहेन लिखिता । सूत्र–जितपाल–पुत्र–जिसरविणा उत्कीर्ण्णा ॥

द्वितीय शिला ।

२७–॥ ॐ॥ जटामूले गंगाप्रव (व) ल्लहरीपूरकुहनासमुन्नीलच्छत्रैकर इव नम्रेपु नृपतां । प्रदातुं श्रीशसुः सकलभुवनाधीश्वरतया तया वा देयाद्वः शुभमिह सुगंधाद्रिमुकुटः ॥ ३१ आशाराजक्षितिपतनयः श्री

२८–मदाह्लादनाह्लो चक्रे नुमृद्भुवनविदितश्चाह्मानस्य वंशे । श्रीनड्डूले स्त्रिनवनकृद्धर्म्मसर्वस्ववेत्ता यत्साहाय्यं प्रतिपदमहो गूर्ज्जरेशश्चकांश ॥ ३२ चचत्केतकचम्पकप्रविलसत्ताली॰तमालागुरुस्फूर्ज्जच्चंद–

२९–ननालिकेरकदलीद्राक्षाम्रकम्रे गिरौ । सौराष्ट्रे कुटिलोत्कटंकनिदास्युद्दानकीचैंस्तदा यत्यानूदनिनानमासुरतया सेनाचराणां रवः ॥ ३३ श्रीमात्स्वलांगज इह नृपः केल्हणो दक्षिणाशाधीशोदंचद्वि

३०–लिमनृपतेर्मानहृत्सैन्यसिंधुः । निर्मिथोच्चैः प्रव (व) लकलितं यस्तुरुष्कं

१ शुद्धपाठ–॰मौल्यौ॰ २ विहड्डाग लिखित ३ ॰ नन्तमक॰

व्यधत्त श्रीसोमेशास्पदमुकुटवत्तोरणं कांचनस्य ॥ ३४ आतास्य प्रव (ब) लप्रताप-
निलयः श्री कीर्तिपालो भवद्भूनाथः प्रतिपक्षपार्थिवचमूदावांबु (बु) वाहो—

३१–पमः। यत्खड्गांबु (बु) निधौ हतारिकरिणां कुंभस्थलीभ्यः क्षरन्मुक्तानां निकरो मराललुलितं धत्तेस धाराश्रयः ॥ ३५ यो दुर्दांत किरातकूटनृपतिं भित्वा शरैरासलं तस्मिन्कासह्रदे[1] तुरुष्कनिकरं जित्वा रणप्रांगणे। श्रीजावालि

३२–पुरे स्थितिं व्यरचयन्नद्दुलराज्येश्वरश्चितारत्ननिभः समग्रविदुषां निःसीमसैन्याधिपः ॥ ३६ श्रीसमरसिंहदेवस्तत्तनयः क्षोणिमण्डलाधिपतिः। इंद्र इव विबु (बु) धहृदयानंदी पुरुषोत्तमो हरिवत् ॥ ३७ प्राकारः कनका—

३३–चले विरचितो येनेह पुण्यात्मना नानायंत्रमनोज्ञकोष्ट (ष्ठ) कततिर्विद्याधरीशीर्षवान् [।] किं शेषः फणवृंदमेदुरतनुर्वक्षस्थले वा भुवो हारः किं भ्रमणश्रमादुडुगणः किं चैष भेजे स्थितिं ॥ ३८ कमलवनमिवेदं वप्रशीर्षालिदं—

३४–भान्निखिलविपुलदेशश्रीसमाकर्षणाय। लिखितविशदबिंदुश्रेणिवन्मत्तवैरिक्षितिपतिविफलाजिस्तोमसंख्यानिमित्त ॥ ३९ तोलयामास यः स्वर्णैरात्मानं सोमपर्वणि। आरामरम्यं समरपुरं यः कृतवानथ ॥ ४०

३५–श्री कीर्तिपालभूपतिपुत्री जावालिपुरवरे चक्रे। श्री रूदलदेवी शिवमंदिरयुगलं पवित्रमतिः ॥ ४१ श्रीसमरसिंहदेवस्य नंदनः प्रव (ब) लशौर्यरमणीयः। श्रीउदयसिंहभूपतिरभूत्प्रभाभास्वदुपमानः ॥ ४२ श्री[2] नद्दूल–श्रीजावालिपुर–माण्डव्यपुर–वाग्भटमेरु–सूराचंद्र–राटहृद–खेड–रामसैन्य–श्रीमाल–रत्नपुर–सत्यपुर–प्रभृति देशानामयमधिपतिः ॥ ४३ शेषः स्तोतुमिव प्ररूढरसनाभारः समंतादभूत् क्षीराब्धिः (ब्धिः) परिरब्धु (ब्धु) मुद्धुरमु—

३७–जः कल्लोलमालामिषात्। द्रष्टुं चानिमिषाक्षि पंकजवनो वास्तोःपतिर्यस्ये[3] ता विश्वश्रीहृदयस्य हारलतिकां कीर्तिं शितांशूज्वलां[4] ॥ ४४ श्री प्रल्हा (ह्ला) दनदेवी, राज्ञो यस्यागजं प्रसूते स्म। श्रीचाचिगदेवाह्व तथैव चामुंडराजाख्यं ॥ ४

---

१ यहां पर 'कासह्रद' शब्दमें संयुक्ताक्षरके पूर्वका 'स' का अकार लघु ही रक्खा है।

२ यह गद्य वाक्य है परन्तु लेखमें इसके आगे भी अन्य श्लोकोंकी तरह ४३ की संख्या खोद दी है।

३ वास्तोष्पति ४ शुद्धपाठ–शिताशूज्ज्वला

३८—९ धीरोदात्तस्तुरुष्काधिपमददलनो गूर्जरेंद्रेर्जेयः सेवायातक्षितीशोचितक-
रणपटु· सिंधुराजांतको यः । प्रोद्दामन्यायहेतुर्भरतमुरसमहामथतत्वार्थवेत्ता,श्री मज्जा-
वालिसज्ञांपुरि शिवसदनद्वद्वकर्त्ता कृतज्ञः ॥ ४६

३९—तत्पट्टोदयशैलभानुरनघप्रोद्दामधर्मक्रियानिष्णातः कमनीयरूपनिलयो
दानेश्वरः सुप्रभुः । सौम्यः शूरशिरोमणिश्च सदयः साक्षादिवेंद्रः स्वय श्रीमान् चा-
चिगदेव एव जयति प्रत्यक्षकल्पद्रुमः ॥ ४७ भ्रुभगेन

४०—भयकरेण विजितप्रत्यर्थिभूमीपति श्रीमान् चाचिगदेव एव तनुते निर्वि-
घ्नवृत्तिं भुव । द्विजिह्व विदधातु पन्नगपतिर्वैक वराहो मुख कूर्मो नक्रतर्तिं करींद्रनिवहः
सघातसौस्थ्य पर ॥ ४८ मेरो· स्थैर्यं वचनरचन वा—

४१—चपतेर्यस्य तुल्य पृथ्वीभारोद्धरणमसम पन्नगेंद्रानुपगि । साक्षाद्रामः किम
यमथवा पूर्णपीयूख (प) रश्मिश्चितारन्न प्रणयिनि जने देव एवैष तस्मात् ॥ ४९
स्फूर्जद्वीरम-गूर्जरेशदलनो य· शत्रुशल्यं द्विपश्चचत्पातु—

४२—कपातनैकरसिकः संगस्य रंगापह । उन्माद्यन्नहराचलस्य कुलिशाकार
स्त्रिलोकीतलभ्राम्यत्कीर्त्तिरशेषगैरिदहनोदग्रप्रतापोल्वणः ॥ ५० श्रीमाले द्विजजा-
नुवार्दिककरत्यागी तथा विग्रहादित्यस्या

४३—पिच रामसैन्य नगरे नित्यार्चनार्थप्रदः । प्रोत्तुगेप्यपराजितेशभवने सौ-
वर्ण—कुभध्वजारोपी रूप्यजमेखलावितरणस्तस्यैव देवस्य यः ॥ ५१ चक्रे श्रीअप-
राजितेशभवने शाला तथास्या रथः कैला—

४४—सप्रतिमस्त्रिलोकककमलालकाररलोचयः । येन क्षोणिपुरंदरेण कृतिनामानद-
संविचये भाग्य वा निजमेरु पर्वततुला नीत समतादपि ॥ ५२ कर्णो दानरुचिर्व (र्व)
लिश्च सुकृती श्लाघ्यो दधीचिस्तथा ह्यः क—

४५—ल्पतरु प्रकाममधुराकारश्च चिंतामणिः । श्रीमच्चाचिगदेवदानमुदिता-
स्तन्नाम गृह्व (ह्ण) ति यत्तत्कीर्त्तेरपि नूतनत्वमभवद्भूमीभुजा सद्मसु ॥ ५३ स्फूर्जत्रि-
र्झर झाकृतेन सुभग तत्केतकीना वन मिश्रीभूतमनेक—

१ शुद्धपाठ-तत्त्वार्थवेत्ता २ शुद्धपाठ-सज्ञ पुरि ३ शुद्धपाठ-श्रीमांश्चाचिग

४६–कम्रकदलीवृंदेन धत्तेऽत्र यः । आम्राणां विपिनं च देवललनावक्षोरुहस्प-र्द्धयेवोद्यत्प्रौढफलावलोकवाचितं जंबू (बू) वनेनांचितं ॥ ५४ मरौ मेरोस्तुल्यस्त्रिदश-ललनाकेलिसदनं सुगंधाद्रिर्नानातरुनि–

४७–करसन्नाहसुभगः । नृपेणेंद्रेणेव प्रसृमरतुरंगोच्चयखुरप्रकंप्रोर्व्वीपीठं रतिरस-वशात्तेन ददृशे ॥ ५५ तन्मूर्द्ध्नि त्रिदशेंद्रपूजितपदांभोजद्वयां देवतां चामुंडामघटे-श्वरीति विदितामभ्यर्चितां पूर्व्वजैः ।

४८–नत्वाभ्यचर्च्य नरेश्वरोथ विदधेस्या मंदिरे मंडपं क्रीडत्किंनरकिन्नरी–कल-रवोन्मायन्मयूरीकुलं ॥ ५६ संवत् १३१९ त्रयोदशशतैकोनविंशतौ मासि माधवे । चक्रेऽक्षयतृतीयायां प्रतिष्ठा मंडपे द्विजैः ॥ ५७

४९–संपल्लाभं घटयतु शुभं कुंभिवक्त्रो गणेशः सिद्धिं देयादभिमततमां चंडिका चारुमूर्त्तिः । कल्याणाय प्रभवतु सतां धेनुवर्गः पृथिव्यां राजा राज्यं भजतु विपुलं स्वस्ति देवद्विजेभ्यः ॥ ५८ स श्रीकरीसप्तकवादिदे–

५०–वाचार्यस्य शिष्योऽजनि रामचंद्रः । सूरिर्विनेयो जयमंगलोऽस्य प्रशस्ति-मेता सुकृती व्यधत्त ॥ ५९ भिषग्वर–विजयपाल-पुत्रेण नाम्व-सीहेन[1] लिखिता ॥ सूत्र-धार-जिसपाल-पुत्रेण-जिसरविणोत्कीर्ण्णा ॥

इस लेखकी लिपि नागरी और भाषा संस्कृत है और अक्षर अब तक सुरक्षित दशामें हैं । प्रथम लेखकी अन्तिम पंक्तिमें केवल ३ वाक्य गद्यमें हैं; जिन-में इस प्रशस्तिके कर्ताका नाम जयमङ्गलाचार्य, लेखकका नाम नाम्वसिंह और खोदनेवालेका नाम जिसरवि लिखा है

अवशिष्ट लेख श्लोक बद्ध है । दूसरे लेखकी अन्तिम पंक्तिमें केवल २ वाक्य गद्यमें लिखे हैं, जिनमें लेखकका और खोदनेवालेका नाम लिखा है । परन्तु इस लेखकी २५ वीं और २६ वीं पंक्तियोंमें भी एक गद्यवाक्य है;

१ शुद्धपाठ–नाम्बसिंहेन ।

जिसके आगे अन्य श्लोकोंके समान ४३ की संख्या खुदी है। इसी दूसरे लेखकी ४८ वीं पंक्तिमें "संवत् १३१९" यह वाक्य भी गद्यमें खुदा हुआ है। शेष लेख प्रथम भागके समान पद्यमें है।

वर्ण विचारके विषयमें यहां पर दो बातें महत्त्वकी हैं। प्रथम, 'ब' और 'व' इन दोनों अक्षरोंके स्थानमें 'व' ही लिखा है। दूसरी, अनेक स्थानोंपर दन्त्य 'स'कारके स्थानमें तालव्य 'श'कारका प्रयोग किया है।

इस लेखकी १० वीं पंक्तिमें "मयुख"के स्थानमें "मयूप" और ४१ वीं पंक्तिमें "पीयूप" के स्थानमें "पीयूख" शब्दके प्रयोग करनेसे प्रतीत होता है कि इस प्रशस्तिका लेखक मारवाड देशवासी था और उसको संस्कृतका बहुत कम ज्ञान था; क्योंकि मारवाड देश 'प' और 'ख' का उच्चारण एकसा ही करते हैं।

२१ वीं पंक्तिमें "श्रीआशाराज", ५ वीं में "श्रीउदयसिंह" और ४३ वीं में "श्रीअपराजितेश" इन वाक्योंका प्रयोग कर कविने सन्धिका नियम भङ्ग किया है। तथा ७ वीं पंक्तिमें "पुष्कराणाच्छलेन" और ८ वीं पंक्तिमें "सुपे-युपांच्छायया" लिख कर भी व्याकरणका नियम उल्लङ्घन किया गया है।

कहीं कहीं पर अवग्रहका चिन्ह 'ऽ' भी खुदा है।

यह प्रशस्ति बृहद्गच्छके जयमङ्गलाचार्यकी बनाई हुई है। इसके गुरूका नाम रामचन्द्र था। यह रामचन्द्र देवाचार्यका शिष्य था।

देवाचार्यका जन्म वि० सं० ११४३ में गुजरातके मड्डाहृत नामक गांवमें हुआ था। इनके पिताका नाम वीरनाग और माताका जिनदेवी था। ये पोरवाड महाजन थे। प्रथम देवाचार्यके मातापिताने पुत्रका नाम पूर्णचंद्र रक्खा था। बाल्यावस्थासे ही पूर्णचंद्र संसारसे घृणा करते थे। अतः वि० सं० ११५२ में इन्होंने मुनिचन्द्रसूरिसे दीक्षा ग्रहण की। उस समय इनका नाम रामचन्द्र रक्खा गया।

इन्होंने अनेक शास्त्रार्थोंमें विजय प्राप्त किया। इनकी इस विद्वत्ताको देखकर, मुनि चन्द्रसूरिने इनको सूरिपदसे विभूषितकर इनका नाम देवसूरि रक्खा। इनके बनाए प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारादि अनेक जैनग्रन्थ विद्यमान हैं।

इस प्रशस्तिके कर्ता जयमङ्गलसूरिके शिष्य सोमचंद्रने वि० सं० १३२९ में वृत्तरत्नाकर नामक छन्दके ग्रन्थपर टीका लिखी थी।

इस प्रशस्तिमें चाहमान राजा चाचिगदेवकी प्रशंसा है। तथा इससे प्रकट होता है कि, वि० सं० ११३९ (ई. स. १६६२) वैशाख शुक्ला तृतीया (अक्षय तृतीया) के दिन चाचिगदेवके राज्य समयमें यह प्रशस्ति बनाई गईथी

इसके राज्य समयके लेख और भी मिले हैं। प्रथम वि० सं० १३३३ का, और दूसरा वि० सं० १३३४ का है।





आबू पर्वत परके प्रसिद्ध जैनमन्दिर.

(लेखक–साहित्याचार्य पण्डित विश्वेश्वरनाथ शास्त्री, जोधपुर)

आबू पर्वत सीरोही राज्यके अग्निकोणमें है। यद्यपि यह पर्वत आडावला (अर्वली) पर्वतके सिलसिलेसे हटकरके स्थित है, तथापि इसकी कई शाखाएं आडावला पर्वतसे मिली हुई हैं। आबू पर्वतके उपरि भागकी लम्बाई १२ माइल और चौडाई २ से ३ माइल तक है। इस पर्वतके सबसे ऊंचे शिखरका नाम गुरु शिखर है। यह शिखर समुद्रतलसे ५६५० फीट ऊचा है। आबू पर्वतकी समतल भूमि (अधित्यका,की ऊंचाई ४००० फीट है।

इस पर्वतकी उत्पत्तिके विषयमें इसतरह लिखा है:—

पहले इस स्थानपर उत्तङ्क मुनिका खोदा हुआ एक बडा खड्डा था। इसीके आसपास वशिष्ठऋषिका आश्रम था। एक समय वशिष्ठकी गाय इस खड्डेमें गिरगई। इससे वशिष्ठको बहुत खेद हुआ। तथा वशिष्ठने उस खड्डेको भरदेनेके लिये अर्बुद-नामके सर्पद्वारा हिमालय पर्वतका नन्दिवर्धननामक शिखर मंगवाकर उस जगह स्थापन करदिया। वि. सं. ११८७ का एक लेख पाटनारायणके मन्दिरमें लगा है। उसमें भी इस विषयका एक श्लोक है। यथाः—

" उत्तङ्कसुपिरे भीमे वशिष्ठो नान्दिवर्द्धनम्।
किलाद्रिं स्थापयामास भुजङ्गार्बुदसंज्ञया ॥ "

जिनप्रभसूरि विरचित ' अर्बुदकल्प ' में भी इस विषयका उल्लेख है:—

" नन्दिवर्द्धन इत्यासीत्प्राक्शैलोऽयं हिमाद्रिजः।
कलिनार्बुदनागाधिष्ठानात्त्वर्बुद इत्यभूत् ॥ २५ ॥

अर्थात् अर्बुदनामके सर्पद्वारा लायाजानेके कारण यही शिखर अन्तमें आबू (अर्बुद) नामसे प्रसिद्ध हुआ । प्राचीन लेखोंमें लिखा है कि, इसी पर्वतपर वाशिष्ठने अग्निकुण्डसे परमार, पडिहार, सोलङ्की और चाहमान (चौहान) नामके चार वीरोंको उत्पन्न किया था । इन चारोंने अपने नामसे चारवंश प्रचलित किये ।

यद्यपि इस प्रकारकी उत्पत्तिपर ऐतिहासिक दृष्टिसे विश्वास नही किया जा सकता और इस लेखके विरुद्ध भी कई लेख मिलगये हैं—जैसे, अजमेरके ढाई-दिनके झोंपडेमें एक शिला मिली है, इसमें चाहमानकी उत्पत्ति सूर्यवंशमें होनी लिखी है— तथापि इस समय इस विषयपर विशेष वादविवाद न करके हम अपने प्रस्तुत विषयकोही लिखते हैं ।

यह पर्वत प्राचीन समयसे ही शैव, शाक्त, वैष्णव, और जैनों द्वारा पूज्य दृष्टिसे देखा जाता है । तथा वहांपर इन मतोंके अनेक मन्दिरादिक होनेसे प्रतिवर्ष बहुतसे यात्री भी दर्शनार्थ जाया करते हैं ।

विक्रम संवत् १५०६ (ई० स० १४४९) के राणा कुम्भाके लेखसे पाया जाता है कि, उस समय घोडों और बैलोंद्वारा वहांसे व्यापार आदि किया जाता था; क्योंकि वहां पहुंचनेके लिये केवल पहाडी मार्गही था । परन्तु इस समय यह पर्वत राजपूतानाके एजेन्ट गवर्नरजनरलका निवास स्थान और सेनिटोरियम (स्वास्थ्यप्रद स्थान) बनगया है । तथा राजपूताना मालवा रेलवेके आबूरोड (खराडी) स्टेशनसे यहांतक १८ माइल लंबी सडक भी बनादी गई है ।

वहींपर देलवाडा नामक एक स्थान है । यह स्थान अर्बुदादेवी (अधरदेवी] से करीव एक माइल ईशानकोणमें है । यह स्थान देवालयोंके लिये विशेष प्रसिद्ध है । यद्यपि यहांपर अनेक मन्दिर हैं । तथापि यहांके आदिनाथ और नेमिनाथके जैन मन्दिरकी कारीगरी संसारमें अनुपम है । ये दोनों मन्दिर सङ्गमरमरके बने हैं । इन दोनों मन्दिरोंमें भी पोरवाड महाजनका बनवाया हुआ विमलवसही नामका आदिनाथका मन्दिर विशेषतर सुन्दर और पुराना है । यह मन्दिर वि० सं० १०८८ (ई० स० १०३१) में बनाया । यह बात, इसमेंसे मिली हुई वि० सं० १३७८

(ई० स० १३२२) की प्रशास्तिसे प्रकट होती है। जिनप्रभसूरिकी तीर्थकल्प नामक पुस्तकमें भी इस मन्दिरका रचनाकाल वि० सं० १०८८ ही प्रकट होता है।

खरतरगच्छकी पट्टावलीमें लिखा है:—

पोरवाड वंशोत्पन्न मंत्री विमलने तेरह सुलतानोंकी छतरियोंको तोड़कर उस स्थानपर चन्द्रावती नगर बसाया, और वहांपर ऋषभदेवका मन्दिर बनवाया। इस मन्दिरकी प्रतिष्ठा वि० स० १०८८ मे वर्धमानसूरिद्वारा की गई।

प्रोफेसर वेबरके (Catalogue of the Berlin Mss,) बर्लिन नगरकी प्राचीन पुस्तकोंकी सूचिके, दूसरे भागके १०३६ और १०३७ वें पृष्ठोंमें उपर्युक्त कथाके साथ ही यह भी लिखा है कि, विमलने जिस समय यह मन्दिर बनवानेके लिये यहाकी भूमि ब्राह्मणोंसे खरीदी, उस समय उसको उतनी पृथ्वीपर सुवर्ण मुद्राएं बिछाकर पृथ्वीके बदले ब्राह्मणोंको देनी पडी। उसने इस मन्दिरके बनवानेमें १८ करोड और ५३ लाख व्यय किये।

यह मन्दिर परमार धन्धुकके समयमें बनवाया गया था। यह धन्धुक गुजरातके सोलंकी भीमदेवका सामन्त था। किसी कारणवश भीम और धन्धुकके बीच मनोमालिन्य हो गया। इससे धन्धुक आबूको छोड करके मालवेके परमार राजा भोजके पास चला गया। भीमने अपनी तर्फसे विमलशाहको वहाका दण्ड-नायक (सेनापति) नियत किया। उसने कुछ समय बाद धधुक और भीमके बीचका विरोध दूर कर इन दोनोंके बीच सुलह करवा दी। उसी समय उसने यह मन्दिर बनवाया था।

जैन समाजमें ऐसी प्रसिद्धि है कि इस मन्दिरके बनानेके लिये हाथियों और बैलोंद्वारा पत्थर पहुंचाए गए थे।

यहांपर मुख्य मन्दिरके सामने एक विशाल सभा मण्डप है। इसके चारों तरफ अनेक छोटे छोटे जिनालय हैं। यहांपर मुख्य मूर्ति ऋषभदेव (आदिनाथ) की है। इसके दोनो पार्श्वोंमें एक एक मूर्ति खडी है। इनके सिवाय यहांपर और भी अनेक पाषाण और पीतलकी मूर्तियां विद्यमान हैं। परन्तु ये सब पीछेकी बनी

हुई प्रतीत होती हैं। हम ऊपर लिखचुके हैं कि मुख्य मन्दिरके चारों तर्फ अनेक छोटे छोटे जिनालय हैं। इनपरके लेखोंसे प्रकट होता है कि इनमेंकी मूर्तियां भिन्न भिन्न समयमें भिन्न भिन्न पुरुषों द्वारा स्थापन की गईं। मान्दिरके सामने हस्तिशाला है। यह सादे पत्थरसे बनाई गई है। इसमें दरवाजेके सन्मुख विमलशाहकी अश्वारूढ पत्थरकी मूर्ति बनी है। परन्तु चूनेकी कलई ठीकतौरसे न होनेसे उसमें भद्दापन आ गया है। इस मूर्तिके मस्तकपर गोल मुकुट है। तथा पासहीमें एक काठका बना हुआ पुरुष छत्र लिये खडा है। हस्तिशालामें पत्थरके बने हुए १० हाथी खडे हैं। इनमें ६ हाथी वि० सं० १२०५ (ई० स० ११४९) फाल्गुन सुदि १० के दिन नेढक, आनन्दक, पृथ्वीपाल, धरिक, लहरक और मीनक नामके पुरुषोंने बनवाकर रक्खे थे। इन सबोंके नामोंके साथ महामात्य खिताव लगा है। बाकीके ४ हाथियोंमेंसे एक परमार ठाकुर जगदेवने और दूसरा महामात्य धनपालने वि० सं० १२३७ (ई० सं० ११८०) आषाढ सुदि ८ को बनवाकर रक्खा था। तीसरा हाथी महामात्य धवलने बनवाया था। इसका संवत् चूनेके नीचे आजानेसे पढा नहीं जाता। तथा चोथे हाथीका सारा लेख चूनेके नीचे दब गया है। यद्यपि पहले इन सब हाथीयोंपर पुरुषोंकी मूर्तीयां बनी हुई थी। तथापि इस समय केवल तीनमूर्तियां मौजूद हैं। ये मूर्त्तियां चतुर्भुज हैं। प्रसिद्ध इतिहास वेत्ता रायबहादुर पं—गौरीशंकरजीका मत है कि विमलशाहकी मूर्ति और हस्तिशाला, मन्दिरके साथ की बनी हुई नहीं है। पीछेसे बनवाई गई है। हस्तिशालाके बाहर चौहान महाराव लुंढा (लुंभा) के दो लेख लगे हैं। इनमेंका प्रथम लेख वि० सं० १३७२ (ई० सं० १३१६) चैत्र वदि ८ का है और दूसरा वि० सं० १३७३ (ई० सं० १३१७) चैत्र वदि का। सीरोहीके राव इसीके वंशज हैं।

जिनप्रभसूरिकी तीर्थकल्प नामकी पुस्तकमें लिखा है:—

म्लेच्छोंने विमलशाह और तेजपालके बनवाए हुए आदिनाथ और नेमिनाथके मान्दिरोंको तोड डाला था। शक सं० १२४३ (वि० सं० १३७८) में महणसिंहके पुत्र लल्लने आदिनाथके मान्दिरका और चण्डसिंहके पुत्र पीथडने नेमिनाथके मान्दिरका पीछा जीर्णोद्धार करवाया।

वि० सं० १३७८ के आदिनाथके मन्दिरके लेखसे प्रकट होता है कि, विमलको स्वप्नमें अम्बिकाने आदिनाथका मन्दिर बनवानेकी आज्ञा दी थी। उसीके अनुसार विमलने यह मन्दिर बनवाया था। तथा राव तेजसिंहके राज्य समय, वि० सं० १३७८ (ई० सं० १३२१) में लल्ल और बीजड नामके साहूकारोंने इसका जीर्णोद्धार करवाया। जिस समय यह लेख लिखा गया था उस समय लुंभाका देहान्त हो चुका था। ऐसा इसी लेखसे ज्ञात होता है।

श्रीरत्नमन्दिरगणिकी बनाई हुई उपदेशतरङ्गिणीमें; जो विक्रम संवत्की सोलवीं शताब्दीमें बनाई गई थी; इस मन्दिरके बनवानेकी कथा इस प्रकार लिखी है:-

गुजरातके राजा भीमको दुश्मनों द्वारा भटकाया हुआ देखकर उसका सेनापति विमल वहांसे पांचसौ सवार और पांच करोड सोनेसे लदे ऊंट लेकर चंद्रावतीमें चला गया। उसके इस प्रकार आगमनसे चंद्रावतीका राजा धारावर्ष भयभीत होकर सिन्धुदेशकी तरफ भाग गया। विमलने उसके स्थानपर पहुँच उसे अपना निवास नियत किया। तथा वहाके मांडलिकों (जागीरदारों) ने विमलको अपना राजा बना लिया। तदनन्तर उसने अपनी सेनाद्वारा सांभर, मेवाड, जालोर, आदि नगरोंके सौ राजाओंको जीता।

एक समय सोते हुए १२ सुलतानोंको उसने जा घेरा। तथा उनको भी अपने आधीन करलिया। उसके प्रबल प्रतापसे डरकर स्वयं भीमने अपने मंत्रीद्वारा विमलके पास एक करोड रुपये नजरकी तौरपर भेजे। परन्तु विमलने अपने स्वामी और जन्मभूमिका विचार करके उस मंत्रीको बहुत कुछ आदर सत्कार सहित पीछा भेजदिया। एकदिन श्रीधर्मघोषसूरिके मुखसे विमलने एक शास्त्र वाक्यको सुना, इससे अपनी संग्राममें की हुई हिंसापर उसको बडा दुःख हुआ। तथा श्रीधर्मघोषसूरिसे उसने इसके प्रायश्चित्तकी व्यवस्था करनेकी प्रार्थना की। उक्त सूरिने उसे देवमन्दिर बनवाने आदि पुण्यकर्म करनेकी आज्ञा दी। उसके बाद विमलने अम्बादेवीकी आराधना की, जिससे प्रसन्न होकर अम्बाने वर मागनेकी आज्ञा दी। विमलने देवमन्दिरके बनने और पुत्र होनेकी प्रार्थना की। इसपर अंबाने कहा कि दोनोंमेंसे एकके लिये कह, क्योंकि दो बातें नहीं हो सकती हैं। तुम

विमलने अपनी स्त्रीसे पूछा। उसने उत्तर दिया कि पुत्र प्राप्ति तो पशु, पक्षि योनिमें भी हो सकती है। इस लिये मन्दिरका वर मागो। विमलने भी एसा ही किया। अम्बिका वर देकर आबूपर चली गई। विमलने उसके कुकुमसे शोभित पृथ्वीपर उल्लिखित पदचिह्नको खोदा, वहासे उसको ७२ लाखका द्रव्य मिला। इसको प्राप्त कर विमलने मन्दिर बनवाना प्रारम्भ करदिया। परन्तु यह मन्दिर दिनमें बनाया जाता था और रातको स्वयही गिर पडता था। इसी तरह ६ महीने बीत गए। तब विमलने देवीका आह्वाहन किया। देवीने प्रकट होकर कहा कि, यह काम इस पृथ्वीके मालिक वालीनाह नागका है। अत तू तीन दिन तक उपवास करके उसीकी पूजा कर और पवित्र बलि दे। परन्तु यदि वह मद्यमास मागे तो खङ्ग निकालकर उसको धमका देना। यह कहकर देवी चली गई। विमलने वैसा ही किया। तथा खङ्गमें अम्बिकाको देखकर वालीनाह भाग गया और उस दिनसे वहांपर केवल क्षेत्रपालकी तरह रहने लगा। मान्दिर निर्विघ्न समाप्त हुवा। सवत् १०८८ में आदिनाथकी मूर्ति स्थापन की गई। तथा वहींपर अम्बिकाकी कृपा सूचित करनेके लिये खञ्ज क्षेत्रपाल सहित एक अम्बिकाकी मूर्ति भी स्थापन की। उस मन्दिरके कार्यकी समाप्तिपर विमलने इतना दान किया कि जैनलोग अबतक ' विमलश्री सुप्रभात ' कहकर आशीर्वाद देते हैं।

इस कथामें कहातक ऐतिहासिक सत्यता है। इसको पाठक स्वय विचार सकते हैं। इसपर विवाद करना व्यर्थ है।

इस मान्दिरमें एक लेख वि० स० १३५० (ई० स० १२९४) माघ सुदि १ का सोलकी राजा सारगदेवके समयका भी लगा है।

इस मान्दिरकी जितनी प्रशसा की जाय थोडी है। इससे उससमयकी शिल्प निपुणताका भी बोध होता है।

इतिहास लेखक कर्नल टाड साहबने इस मान्दिरके विषयमें लिखा है—

हिन्दुस्थान भरमें यह मन्दिर सर्वोत्तम है। सिवाय ताजमहलके कोई भी स्थान इसकी बराबरी नही कर सकता।

इस मन्दिरके पास ही दूसरा लूणवसही नामका नेमिनाथका प्रसिद्ध मन्दिर है। इसको वस्तुपाल, तेजपालका मन्दिर कहते हैं। यह मन्दिर वस्तुपालके छोटे भाई तेजपालका बनवाया हुआ है। जिस प्रकार ताजमहल अपनी स्त्रीकी याद-गारमें शाहजहां बादशाहने बनवाया था, उसी प्रकार तेजपालने अपनी स्त्री अनुपमदेवी और पुत्र लूणसिंहका नाम चिरस्थायी करने और उनके कल्याणके निमित्त यह नेमनाथका मन्दिर बनवाया था। इसी मन्दिरमें वि० सं० १२८७ (ई० सं० १२३०) फाल्गुण वदि ३ रविवारका एक लेख मिला है। उसमें लिखा है:—

वस्तुपाल और उसका छोटा भाई तेजपाल ये दोनों पोरवाड महाजन अश्वराजके पुत्र थे। यह अश्वराज अनहिलवाडेका रहने वाला था। वस्तुपाल और तेजपाल ये दोनों भाई गुजरातके सोलंकी राजा वीरधवलके मंत्री थे। तेजपालने कृष्णराजके पिता सोमसिंहदेवके राज्य समय अपने पुत्र और स्त्रीके कल्याणार्थ आबूपर यह नेमिनाथका मन्दिर बनवाया। आगे चलकर इस लेखमें मन्दिरका वर्णन किया गया है। इस शिला लेखके रचयिताका नाम सोमेश्वरदेव लिखा है। यह सोमेश्वर सोलङ्की वीरधवलका पुरोहित और कीर्तिकौमुदि तथा सुरथोत्सवका कर्ता था। इसी लेखसे यह भी प्रकट होता है कि इस मन्दिरकी प्रतिष्ठा नागेन्द्र गच्छके विजयसेनसूरिने की थी।

इस मन्दिरकी बनावट भी विमलशाहके मन्दिर की सी है। इसमें मुख्य मन्दिर (गंभारा) के सामने गुंबजदार सभा मण्डप है। और उसके इर्दगिर्द छोटे छोटे जिनालय बने हैं। तथा इसके पीछे हस्तिशाला है। इसके मुख्य मन्दिरमें नेमिनाथकी मूर्ति है। तथा पासके जिनालयोंमें भी अनेक मूर्तिया हैं। इनके द्वारोंपर भी अलग अलग लेख खुदे हैं। इनमें तेजपालके ५२ संबन्धियोंके नाम हैं। इससे प्रकट होता है कि प्रत्येक जिनालय किसी न किसी सम्बन्धिके नामपर बनवाया गया था। मुख्य मन्दिरके दरवाजेके दोनों पार्श्वोंमें बडेही सुन्दर दो ताक हैं। इनको लोग 'देराणी जेठाणीके आले, कहते है। कहाजाता है कि इसमेंका एक ताक तेजपालकी स्त्रीने और दूसरा वस्तुपालकी स्त्रीने स्वय अपने खर्चसे बनवाया था। शान्तिविजयजीकी 'जैनतीर्थ गाइड' नामक पुस्तकमें भी ऐसा ही लिखा है।

विमलने अपनी स्रीसे पूछा। उसने उत्तर दिया कि पुत्र प्राप्ति तो पशु, पक्षि योनिमें भी हो सकती है। इस लिये मान्दिरका वर मागो। विमलने भी एसा ही किया। अम्बिका वर देकर आबूपर चली गई। विमलने उसके कुकुमसे शोभित पृथ्वीपर उल्लिखित पदचिह्नको खोदा, वहासे उसको ७२ लाखका द्रव्य मिला। इसको प्राप्त कर विमलने मन्दिर बनवाना प्रारम्भ करदिया। परन्तु यह मन्दिर दिनमें बनाया जाता था और रातको स्वयही गिर पडता था। इसी तरह ६ महीने बीत गए। तब विमलने देवीका आह्वाहन किया। देवीने प्रकट होकर कहा कि, यह काम इस पृथ्वीके मालिक वालीनाह नागका है। अत तू तीन दिन तक उपवास करके उसीकी पूजा कर और पवित्र बलि दे। परन्तु यदि वह मद्यमास मागे तो खड्ग निकालकर उसको धमका देना। यह कहकर देवी चली गई। विमलने वैसा ही किया। तथा खड्गमें अम्बिकाको देखकर वालीनाह भाग गया और उस दिनसे वहापर केवल क्षेत्रपालकी तरह रहने लगा। मान्दिर निर्विघ्न समाप्त हुवा। सवत् १०८८ में आदिनाथकी मूर्ति स्थापन की गई। तथा वहींपर अम्बिकाकी कृपा सूचित करनेके लिये स्वच्छ क्षेत्रपाल सहित एक अम्बिकाकी मूर्ति भी स्थापन की। उस मान्दिरके कार्यकी समाप्तिपर विमलने इतना दान किया कि जैनलोग अबतक 'विमलश्री सुप्रभात' कहकर आशीर्वाद देते हैं।

इस कथामें कहातक ऐतिहासिक सत्यता है। इसको पाठक स्वय विचार सकते हैं। इसपर विवाद करना व्यर्थ है।

इस मान्दिरमें एक लेख वि० स० १३५० (ई० स० १२९४) माघ सुदि १ का सोलकी राजा सारगदेवके समयका भी लगा है।

इस मान्दिरकी जितनी प्रशसा की जाय थोडी है। इससे उससमयकी शिल्प निपुणताका भी बोध होता है।

इतिहास लेखक कर्नल टाड साहबने इस मान्दिरके विषयमें लिखा है—

हिन्दुस्थान भरमें यह मान्दिर सर्वोत्तम है। सिवाय ताजमहलके कोई भी स्थान इसकी बराबरी नही कर सकता।

पूर्वोक्त उपदेशतरङ्गिणीमें इस मन्दिरका रचनाका वृत्तान्त इस तरह लिखाहै:-

एक समय बहुतसे साथियों सहित वस्तुपाल और तेजपाल दोनों धवलकक (धौलका) गांवसे हडालामें आए। वहां पहुंचनेपर जब उनको विदित हुआ कि आगे रास्तेमें लुटेरोंका भय है, तब उन्होंने अपने विश्वासी पुरुषोंसहित आपसमें विचारकर रात्रिके समय अपने धनको तांबेके कलसोंमें भरदिया और उन कलसोंको पृथ्वीमें गाडनेके लिये तालावके निकट एक गेहूंके खेतमें लेआए। तथा वहां पहुंचकर एक खेजडीके वृक्षके नीचे खोदना आरम्भ किया। वहांपर वस्तुपालके भाग्यसे बडा भारी खजाना निकला। इसको देखकर सारे पुरुष विस्मित होगये। इसके अनन्तर उन्होंने अपना धनभी उसीमें डालकर उसे पीछा छिपादिया और वहांसे चले आए तथा विचारने लगे कि इतने द्रव्यका क्या किया जाय? उनको चिन्तित देखकर अनुपमदेवीने उनसे इसका कारण पूछा। इसपर एकान्तमें उससे उन्होंने सारा वृत्तान्त कहा। यह सुन उसने उत्तर दिया कि, इसतरह धनको छिपाना उचित नहीं है। इसको इसतरहसे छिपाना चाहिये जिससे प्रत्येक पुरुष इसे देखकरभी लेजा न सके। अर्थात् इस द्रव्यसे मन्दिर आदिक बनवादेने चाहियें। इस बातको उन्होंनेभी पसंद करलिया। तथा वहांसे द्रव्य लाकर मन्दिर आदिक बनवाए।

आगे चलकर उसी पुस्तकमें लिखा है कि, प्रथम धौलका नामक ग्राममें रहने वाले लूणिग, मालदेव, वस्तुपाल और तेजपाल बहुत निर्धन थे। अपनी निर्धनता के कारण मरते समय अपने कुटुंबसे द्रव्यादिक दान करनेकी प्रतिज्ञा न करवाकर लूणिगने केवल तीन लाख प्रणाम(नवकार) करनेकी प्रतिज्ञा करवाई (अर्थात् तीन लाख नवकारोंके स्मरण करनेसे जो पुण्य होताहै वह मांगा)। अपने भाईकी ऐसी अवस्था देखकर वस्तुपालने औरभी कुछ इच्छा प्रकट करनेकी प्रार्थना की। यह सुनकर लूणिगने कहा- कि, आबूके विमलवसही नामके मन्दिरमें देवकुलिका (देवालय) बनवानेकी मेरी इच्छाथी, सो यदि होसके तो इसे पूरी करना।

जब वस्तुपाल और तेजपालको द्रव्यलाभ हुआ; तब उन्होंने चन्द्रावतीके राजा धारावर्षसे मन्दिर बनवानेके लिये जमीन खरीदी। उसकी कीमतके लिये उतनीही पृथ्वीपर द्रम्म बिछाकर राजाको दिये। तथा उस खरीदी हुइ पृथ्वी पर सूत्रधार शोभनद्वारा यह मन्दिर बनवाया। परन्तु इसकी सामग्री एकत्र करनेके लिए इसके पहले उन्हें मार्गमें स्थान स्थानपर जलाशयों और भोजनालयोंका प्रबन्ध करवाना पडा। १५ सौ कारीगर इस मन्दिरमें कार्य करतेथे। इस तरह यह मन्दिर

परन्तु यह बात विश्वास योग्य नहीं हो सकती; क्योंकि उन दोनों ताकोंपर एकही प्रकारके लेख हैं। उनका आशय इस प्रकार है:—

वि० सं० १२९० वैशाख वदि १४ बृहस्पतिवारके दिन अपनी दूसरी स्त्री सुहडादेवीके कल्याणार्थ ये ताक और अजितनाथका चित्र तेजपालने बनवाया।

यद्यपि इस समय गुजरातमें पोरवाड और मोढ जातिके महाजनोंके बीच विवाह सम्बन्ध नहीं होता है। तथापि यह सम्बन्ध बारहवीं शताब्दीमें होता था। ऐसा इस लेखसे प्रकट होता है।

इस मन्दिरकी हस्तिशालामें संगमरमरकी १० हथनियां एक पंक्तिमें खडी हैं। इन पर चण्डप, चण्डप्रसाद, सोमसिंह, अश्वराज, लूणिग, मल्लदेव, वस्तुपाल, तेजपाल, जैत्रसिंह और लूणसिंह (लावण्यसिंह) की मूर्तियें बैठाई गई थीं। परन्तु इस समय उनमेंसे एक भी विद्यमान नहीं है। इन हथनियोंके पीछेकी तर्फ पूर्वकी दीवारमें १० ताक हैं। इनमें भी इन्हीं दस पुरुषोंकी सस्त्रीक मूर्तियें बनी हुई हैं। इनके हाथोंमें पुष्पमालाएं हैं। तथा वस्तुपालके मस्तकपर छत्र भी बना हुआ है। प्रत्येक स्त्री पुरुषोंकी मूर्तिके नीचे उनका नाम खुदा हुआ है।

इनका संक्षिप्त वर्णन पूर्वोक्त वि० सं० १२८७ के लेखमें भी किया गया है।

प्रथम ताकमें चार मूर्तियें हैं। पहली आचार्य उदयप्रभकी, दूसरी आचार्य विजयसेनकी तथा तीसरी और चौथी चण्डप और उसकी स्त्री चांपलादेवी की है।

इस मन्दिरके बनानेवाले इञ्जीनियरका नाम शोभनदेव था। इस तरह अपने सारे कुटुम्बका स्मारक चिह्न बनाकर उनके नामको अमर करनेवाला तेजपालके सिवाय शायदही कोई दूसरा पुरुष हुआ हो।

इसी मन्दिरमें वि० सं १२८७ फाल्गुन वदि ३ रविवारका एक दूसरा शिलालेख लगा है। इसमें यहांके वार्षिकोत्सव आदिकी व्यवस्थाका वर्णन है। तथा साथही उसमें सहायता देनेवाले महाजनोंके नाम और गांव भी लिखे हैं।

पूर्वोक्त उपदेशतरङ्गिणीमें इस मन्दिरका रचानाका वृत्तान्त इस तरह लिखाहै:--

एक समय वहुतसे साथियों सहित वस्तुपाल और तेजपाल दोनों धवलकक (धौळका) गांवसें हडालामें आए। वहां पहुंचनेपर जव उनको विदित हुआ कि आगे रास्तेमें लुटेरोंका भय है, तव उन्होंने अपने विश्वासी पुरुषोंसहित आपसमें विचारकर रात्रिके समय अपने धनको तांवेके कलसोंमें भरदिया और उन कलसोंको पृथ्वीमें गाडनेके लिये तालावके निकट एक गेहूंके खेतमें लेआए। तथा वहां पहुंचकर एक खेजडीके वृक्षके नीचे खोदना आरम्भ किया। वहांपर वस्तुपालके भाग्यसे वडा भारी खजाना निकला। इसको देखकर सारे पुरुष विस्मित होगये। इसके अनन्तर उन्होंने अपना धनभी उसीमें डालकर उसे पीछा छिपादिया और वहांसे चले आए तथा विचारने लगे कि इतने द्रव्यका क्या किया जाय? उनको चिन्तित देखकर अनुपमदेवीने उनसे इसका कारण पूछा। इसपर एकान्तमें उससे उन्होंने सारा वृत्तान्त कहा। यह सुन उसने उत्तर दिया कि, इसतरह धनको छिपाना उचित नहीं है। इसको इसतरहसे छिपाना चाहिये जिससे प्रत्येक पुरुष इसे देखकरभी लेजा न सके। अर्थात् इस द्रव्यसे मन्दिर आदिक वनवादेने चाहियें। इस वातको उन्होंनेभी पसंद करलिया। तथा वहांसे द्रव्य लाकर मन्दिर आदिक वनवाए।

आगे चलकर उसी पुस्तकमें लिखा है कि, प्रथम धौलका नामक ग्राममें रहने वाले लूणिग, मालदेव, वस्तुपाल और तेजपाल वहुत निर्धन थे। अपनी निर्धनता के कारण मरते समय अपने कुटुम्बसे द्रव्यादिक दान करनेकी प्रतिज्ञा न करवाकर लूणिगने केवल तीन लाख प्रणाम(नवकार) करनेकी प्रतिज्ञा करवाई (अर्थात् तीन लाख नवकारोंके स्मरण करनेसे जो पुण्य होताहै वह मागा)। अपने भाईकी ऐसी अवस्था देखकर वस्तुपालने औरभी कुछ इच्छा प्रकट करनेकी प्रार्थना की। यह सुनकर लूणिगने कहा कि, आवूके विमलवसही नामके मन्दिरमें देवकुलिका (देवालय) वनवानेकी मेरी इच्छाथी, सो यदि होसके तो इसे पूरी करना।

जव वस्तुपाल और तेजपालको द्रव्यलाभ हुआ, तव उन्होंने चन्द्रावतीके राजा धारावर्षसे मन्दिर वनवानेके लिये जमीन खरीदी। उसकी कीमतके लिये उतनीही पृथ्वीपर द्रम्म विछाकर राजाको दिये। तथा उस खरीदी हुई पृथ्वी पर सूत्रधार शोभनद्वारा यह मन्दिर वनवाया। परन्तु इसकी सामग्री एकत्र करनेके लिए इसके पहले उन्हें मार्गमें स्थान स्थानपर जलाशयों और भोजनालयोंका प्रवन्ध करवाना पडा। १५ सौ कारीगर इस मन्दिरमें कार्य करतेथे। इस तरह यह मन्दिर

परन्तु यह बात विश्वास योग्य नही हो सकती, क्योंकि उन दोनों ताकोंपर एकही प्रकारके लेख हैं। उनका आशय इस प्रकार हैः—

वि० सं० १२९० वैशाख वदि १४ बृहस्पतिवारके दिन अपनी दूसरी स्त्री सुहडादेवीके कल्याणार्थ ये ताक और अजितनाथका चित्र तेजपालने बनवाया।

यद्यपि इस समय गुजरातमें पोरवाड और मोढ जातिके महाजनोंके बीच विवाह सम्बन्ध नही होता है। तथापि यह सम्बन्ध बारहवीं शताब्दीमें होता था। ऐसा इस लेखसे प्रकट होता है।

इस मन्दिरकी हस्तिशालामें सगमरमरकी १० हथनिया एक पंक्तिमें खडी है। इन पर चण्डप, चण्डप्रसाद, सोमसिंह, अश्वराज, लूणिग, मल्लदेव, वस्तुपाल, तेजपाल, जैत्रसिंह और लूणसिंह (लावण्यसिंह) की मूर्तियें बैठाई गई थीं। परन्तु इस समय उनमेंसे एक भी विद्यमान नही है। इन हथनियोंके पीछेकी तर्फ पूर्वकी दीवारमें १० ताक है। इनमें भी इन्ही दस पुरुषोंकी सस्त्रीक मूर्तियें बनी हुई हैं। इनके हाथोंमें पुष्पमालाए हैं। तथा वस्तुपालके मस्तकपर छत्र भी बना हुआ है। प्रत्येक स्त्री पुरुषोंकी मूर्तिके नीचे उनका नाम खुदा हुआ है।

इनका सक्षिप्त वर्णन पूर्वोक्त वि० स० १२८७ के लेखमें भी किया गया है।

प्रथम ताकमें चार मूर्तियें हैं। पहली आचार्य उदयप्रभकी, दूसरी आचार्य विजयसेनकी तथा तीसरी और चौथी चण्डप और उसकी स्त्री चापलादेवी की है।

इस मन्दिरके बनानेवाले इञ्जीनियरका नाम शोभनदेव था। इस तरह अपने सारे कुटुम्बका स्मारक चिह्न बनाकर उनके नामको अमर करनेवाला तेजपालके सिवाय शायदही कोई दूसरा पुरुष हुआ हो।

इसी मन्दिरमें वि० स १२८७ फाल्गुन वदि ३ रविवारका एक दूसरा शिलालेख लगा है। इसमें यहाके वार्षिकोत्सव आदिकी व्यवस्थाका वर्णन है। तथा साथही उसमें सहायता देनेवाले महाजनोंके नाम और गाव भी लिखे हैं।

पूर्वोक्त उपदेशतरङ्गिणीमें इस मन्दिरका रचानाका वृत्तान्त इस तरह लिखाहै:-

एक समय बहुतसे साथियों सहित वस्तुपाल और तेजपाल दोनों धवलकक (धौलका) गांवसे हडालामें आए। वहां पहुंचनेपर जब उनको विदित हुआ कि आगे रास्तेमें लुटेरोंका भय है, तब उन्होंने अपने विश्वासी पुरुषोंसहित आपसमें विचारकर रात्रिके समय अपने धनको तांबेके कलसोंमें भरदिया और उन कलसोंको पृथ्वीमें गाडनेके लिये तालावके निकट एक गेहूंके खेतमें लेआए। तथा वहां पहुंचकर एक खेजडीके वृक्षके नीचे खोदना आरम्भ किया। वहांपर वस्तुपालके भाग्यसे बडा भारी खजाना निकला। इसको देखकर सारे पुरुष विस्मित होगये। इसके अनन्तर उन्होंने अपना धनभी उसीमें डालकर उसे पीछा छिपादिया और वहांसे चले आए तथा विचारनेलगे कि इतने द्रव्यका क्या किया जाय? उनको चिन्तित देखकर अनुपमदेवीने उनसे इसका कारण पूछा। इसपर एकान्तमें उससे उन्होंने सारा वृत्तान्त कहा। यह सुन उसने उत्तर दिया कि, इसतरह धनको छिपाना उचित नहीं है। इसको इसतरहसे छिपाना चाहिये जिससे प्रत्येक पुरुष इसे देखकरभी लेजा न सके। अर्थात् इस द्रव्यसे मन्दिर आदिक बनवादेने चाहियें। इस बातको उन्होंनेभी पसंद करलिया। तथा वहांसे द्रव्य लाकर मन्दिर आदिक बनवाए।

आगे चलकर उसी पुस्तकमें लिखा है कि, प्रथम धौलका नामक ग्राममें रहने वाले लूणिग, मालदेव, वस्तुपाल और तेजपाल बहुत निर्धन थे। अपनी निर्धनता के कारण मरते समय अपने कुटुंबसे द्रव्यादिक दान करनेकी प्रतिज्ञा न करवाकर लूणिगने केवल तीन लाख प्रणाम(नवकार) करनेकी प्रतिज्ञा करवाई (अर्थात् तीन लाख नवकारोंके स्मरण करनेसे जो पुण्य होताहै वह मांगा)। अपने भाईकी ऐसी अवस्था देखकर वस्तुपालने औरभी कुछ इच्छा प्रकट करनेकी प्रार्थना की। यह सुनकर लूणिगने कहा-कि, आबूके विमलवसही नामके मन्दिरमें देवकुलिका (देवालय) बनवानेकी मेरी इच्छाथी; सो यदि होसके तो इसे पूरी करना।

जब वस्तुपाल और तेजपालको द्रव्यलाभ हुआ; तब उन्होंने चन्द्रावतीके राजा धारावर्षसे मन्दिर बनवानेके लिये जमीन खरीदी। उसकी कीमतके लिये उतनीही पृथ्वीपर द्रम्म बिछाकर राजाको दिये। तथा उस खरीदी हुइ पृथ्वी पर सूत्रधार शोभनद्वारा यह मन्दिर बनवाया। परन्तु इसकी सामग्री एकत्र करनेके लिए इसके पहले उन्हें मार्गमें स्थान स्थानपर जलाशयों और भोजनालयोंका प्रबन्ध करवाना पडा। १५ सौ कारीगर इस मन्दिरमें कार्य करतेथे। इस तरह यह मन्दिर

तीन वर्षमे समाप्त हुआ। इसके लिये पत्थर इकट्ठे करनेमें पत्थरोंहीके समान रुपये खर्च करने पडे। संवत् १२८३ में यह कार्य प्रारम्भ हुआ और संवत् १२९२ में इसकी प्रतिष्ठा हुई। मन्दिरमें १२ करोड, ५३ लाख रुपये लगे। इसका नाम लूणिगवसही रक्खा। लोग इसको तेजपाल वसही कहने लगे। इसकी प्रतिष्ठाके समय ८४ राणक, १२ मडलीक, ४ महीधर और ८४ जातिके महाजन एकत्र हुए थे। इन सभोंके सामने जालोरके राजा चौहान श्रीउदयसिंहके प्रधान यशोवीरसे वस्तुपालने इस मन्दिरकी बनावटके गुण और दोष पूछे। उस समय उसने सूत्रधार शोभनसे कहना प्रारम्भ किया कि, हे शोभन! तेरी माके कीर्तिस्तम्भ पर तेरी माताकी मूर्तिका हाथ ऊपरको होना उचित नहीं है, क्योंकि उसका पुत्र तू केवल कारीगर ही है, जो कि स्वभावतः ही लालची होते हैं। परन्तु दानी वस्तुपालकी माताका हाथ ऊपर होना ही उचित है, क्योंकि उसने अपने गर्भसे ऐसे उदार पुरुषको जन्म दिया है। अन्दरके मन्दिरके दरवाजे परके तोरणमें दो सिंह लगाए हैं। इससे इसमे विशेष पूजा आदिका अभाव रहेगा। पूर्वजोंकी मूर्तियोंको जिनके पृष्ठ भागमें लगानेसे इनके वंशजोंका ऐश्वर्य नष्ट होगा। ऊपर आकाशकी तर्फ मुनिकी मूर्ति लगानेसे यहां पर दर्शन और पूजनके लिये बहुत कम पुरुष आया करेंगे। जिनमन्दिरके रङ्गमण्डपमें विलास करतीहुई पुतलियोंका बनाना अनुचित है। इसकी सीढीयां छोटी होनेसे इस वंशमें सन्तानका अभाव होना प्रकट होता है। बारह हाथ लंबी छीनोंके टूटनेसे मन्दिरका नाश हो सकता है। बाहरके दरवाजे पर कीमती स्तंभ लगवाए गए है। उनके लिए दुष्ट लोग मन्दिर तोडनेकी कोशिश करेंगे। मेघमण्डपमेंकी प्रतिमा बहुत ऊंची होनेसे अपूज्य रहेगी। मन्दिरसे मठ ऊंचे हैं। हस्तिशाला पृष्ठमें होनेसे इस मन्दिरके दरवाजे पर हाथी नहीं रहेंगे, इत्यादि अनेक दोष हे शोभन! इसकी बनावटमें रहगए हैं।

यह सुनकर वस्तुपालने होनहार इसी तरह समझा।

पण्डित सोमधर्मगणिकी बनाई उपदेशसप्ततिका मे, जिनप्रभसूरि रचित तीर्थकल्पमें और पण्डित श्रीलावण्यसमयविरचित विमलरासमें भी इस मन्दिरका वृत्तान्त रत्नमन्दिरगणीकी बनाई उपदेशतरङ्गिणीसे मिलता हुआ ही है, जैसाकि ऊपर वर्णन किया जा चुका है। अतः प्रत्येकके अलग अलग वर्णन करनेका विशेष प्रयोजन नहीं, परन्तु पाठकोंके विनोदार्थ एक विशेष महत्त्वका विषय यहांपर लिखदेना आवश्यक है। वह यह है —

हम यथास्थान लिख चुके हैं कि, वि. सं. १२८७के लेखमें लिखाहै, अपनी स्त्री अनुपमदेवी और पुत्र लावण्यसिंहके कल्याणार्थ तेजपालने यह नेमिनाथका मन्दिर बनवायाथा। परन्तु उपर्युक्त चारों पुस्तकोंमें अपने पुत्र लावण्यसिंहके बदले अपने भाई लूणिगके लिये तेजपालने यह मन्दिर बनवाया, ऐसा लिखा है। हमारी समझमें लूणिग और लूणसिंह (लावण्यसिंह) के नामोंके बहुत कुछ मिलते हुए होनेसे यह गडबड हुइ है। तथा तेजपालका खुद अपने सामने बनवाया हुआ होनेसे प्रशस्तिका लेख ही अधिक विश्वासयोग्य है।

जिनप्रभसूरिके तीर्थकल्पमें इसका रचनाकाल वि. सं. १२८८ लिखाहै।

इस मन्दिरका जीर्णोद्धार पेथड नामके साहूकारने करवायाथा; क्योंकि, इस मन्दिरको भी मुसलमानोंने तोड डालाथा। इसके जीर्णोद्धारका लेख स्तम्भपर खुदा है। परन्तु इसमें संवत् नहीं है। जिनप्रभसूरिने अपने तीर्थकल्पमें इसके जीर्णोद्धारका समय श. सं. १२४३ (वि. सं. १३७८) लिखाहै। यह बात हम आदिनाथके मन्दिरके जीर्णोद्धारके वर्णनमें लिख चुके हैं।

यद्यपि यह पता नहीं चलता कि इन मन्दिरोंको मुसलमानोंने किस समय तोडा। तथापि श्रीयुत पण्डित गौरीशंकरजीका अनुमान है कि 'तीर्थ कल्प वि. सं. १३४९ (ई. स. १२९२) और वि. सं. १३८४ (ई. स. १३२७) के बीच बना था। इसमें इन मन्दिरोंका मुसलमानों द्वारा तोडा जाना लिखा है। अत एव वि. सं. १३६६ (ई. स. १३०९) के आसपास जिस समय अलाउद्दीन खिलजीकी फौजने जालोरके चौहानराजा कान्हडदेव पर चढाई की; शायद उसी समय ये मन्दिर तोडे गये हों।

जीर्णोद्धारमें बना हुआ काम सुन्दरतामें पुराने कार्य की बराबरी नहीं कर सकता है। पुराने समयका कार्य बहुत ही सुन्दर है।

अब हम इसकी प्रशंसामें अपनी तरफसे कुछ न कह कर हिन्दुस्थानियोंके पूर्व पुरुषोंको असभ्य समझने वाली सभ्याभिमानी यूरोपियन जातिके कुछ सहृदय विद्वानोंकी सम्मति उद्धृत करते हैं।

भारतीय शिल्पके अभिज्ञ लेखक फर्गुसन साहबने अपनी 'पिक्चर्स इलस्ट्रेशन्स ऑफ एनशियन्ट आर्किटेक्चर इन हिन्दुस्थान' नामक पुस्तकमें लिखा है:—

'इस संगमरमरके बने हुए मन्दिरमें अति कठोर परिश्रम सहनशील हिन्दुओंकी टांकीसे फीतेके समान नारीकीसे ऐसी मनोहर आकृतियें बनाई गई हैं, जिनका

तीन वर्षमें समाप्त हुआ। इसके लिये पत्थर इकट्ठे करनेमें पत्थरोंहीके समान रुपये खर्च करने पडे। संवत् १२८३ में यह कार्य प्रारम्भ हुआ और संवत् १२९२ में इसकी प्रतिष्ठा हुई। मन्दिरमें १२ करोड, ५३ लाख रुपये लगे। इसका नाम लूणिगवसही रक्खा। लोग इसको तेजपाल वसही कहने लगे। इसकी प्रतिष्ठाके समय ८४ राणक, १२ मंडलीक, ४ महीधर और ८४ जातिके महाजन एकत्र हुएथे। इन सबोंके सामने जालोरके राजा चौहान श्रीउदयसिंहके प्रधान यशोवीरसे वस्तुपालने इस मन्दिरकी बनावटके गुण और दोष पूछे। उस समय उसने सूत्रधार शोभनसे कहना प्रारम्भ किया कि, हे शोभन! तेरी माके कीर्तिस्तम्भ पर तेरी माताकी मूर्तिका हाथ ऊपरको होना उचित नहीं है; क्योंकि उसका पुत्र तू केवल कारीगर ही है जो कि स्वभावतः ही लालची होते हैं। परन्तु दानी वस्तुपालकी माताका हाथ ऊपर होना ही उचित है; क्योंकि उसने अपने गर्भसे ऐसे उदार पुरुषको जन्म दिया है। अन्दरके मन्दिरके दरवाजे परके तोरणमें दो सिंह लगाए हैं। इससे इसमें विशेष पूजा आदिका अभाव रहेगा। पूर्वजोंकी मूर्तियोंको जिनके पृष्ठ भागमें लगानेसे इनके वंशजोंका ऐश्वर्य नष्ट होगा। ऊपर आकाशकी तर्फ मुनिकी मूर्ति लगानेसे यहां पर दर्शन और पूजनके लिये बहुत कम पुरुष आया करेंगे। जिनमन्दिरके रङ्गमण्डपमें विलास करतीहुई पुतलियोंका बनाना अनुचित है। इसकी सीढीयां छोटी होनेसे इस वंशमें सन्तानका अभाव होना प्रकट होता है। बारह हाथ लंबी टांकोंके टूटनेसे मन्दिरका नाश हो सकता है। बाहरके दरवाजे पर कीनखी स्तंभ लगवाए गए हैं। उनके लिए कुछ लोग मन्दिर तोड़नेकी कोशिश करेंगे। मेघमण्डपमेंकी प्रतिमा बहुत ऊंची होनेसे अपूज्य रहेगी। मन्दिरसे मठ ऊंचे हैं। हस्तिशाला पृष्ठमें होनेसे इस मन्दिरके दरवाजे पर हाथी नहीं रहेंगे, इत्यादि अनेक दोष हे शोभन! इसकी बनावटमें रहगए हैं।

यह सुनकर वस्तुपालने होनहार इसी तरह समझा।

पण्डित सोमधर्मगणिकी बनाई उपदेशसप्ततिका में, जिनप्रभसूरि रचित तीर्थकल्पमें और पण्डित श्रीलावण्यसमयविरचित विमलरासमें भी इस मन्दिरका वृत्तान्त रत्नमन्दिरगणिकी बनाई उपदेशतरङ्गिणीमें लिखा हुआ है; जिसका कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है। अतः पृथक् अलग अलग वर्णन करनेका विशेष प्रयोजन नहीं, परन्तु पाठकोंके विचारार्थ एक विशेष महत्वका विषय यहांपर लिखदेना आवश्यक है। वह यह है —



मारवाडके सबसे प्राचीन शिलालेख:

(लेखक-विद्वद्रत्न श्रीमान् पं० रामकर्णजी, जोधपुर).

इस मरुदेशमें, जिसको रविकुलकमलदिवाकर रामचंद्रसे वर प्राप्त हुआ था कि, यह देश सुस्वादु और वलिष्ठ धान्य सपन्न सरस गोरस पूर्ण और नीरोग होगा, और जिसका अभी सूर्यवंशावर्तंस राष्ट्रकूट (राठोड) कुल कल्पवृक्ष राजराजेश्वर महाराजाधिराज श्रीसुमेरसिंहजी साहिब बहादुर शासन करते हैं, विमल बुद्धिवाले जैनशासन के प्रवर्त्तक अनेक जैनाचार्य विद्वान् हुए हैं, परंतु वे कहां के थे और कब आये ? इसका पता लगाने पर यह पाया जाता है कि वे गुजरात से मारवाड में आये थे. और ऐसी प्रसिद्धि भी है कि मारवाडमे जैन-धर्म का प्रचार प्रथम ही प्रथम ओशियां में हुआ था. परंतु जैन संबंधी सब से प्राचीन शिलालेख गाव घटियाला में, जो जोधपुर से पश्चिम की ओर है, विक्रमी संवत् ९१८ (ई. सन् ८६१) का मिला है, इस शिलालेख की भाषा प्राकृत है, इसके उन्नीसवे पद्य में नक्षत्र वारादि सहित संवत् लिख कर, उस के आगे जिन मंदिर बनानेवाले प्रतीहार कक्कुक महाराज के कई उत्तम कार्यों का कथन कर, कक्कुक का जिनमंदिर बनाना और उसको धनेश्वर गच्छ के समर्पण करना लिखा है। यह कक्कुक, नाहडराव इस नाम से प्रसिद्ध प्रतीहार नागभटका वंशज था, जिसका समय सातवीं शताब्दी होना चाहिये। कक्कुक के शिलालेख मे सवत्सर और जिनचैत्य विषयक ये गाथा है:—

" वरिससएसु अ णवसुं अट्ठारहसमग्गलेसु चेत्तम्मि ।
णक्खत्ते विहुहत्थे बुहवारे धवलबीआए ॥ [१९]"
तेण सिरिकक्कुएणं जिणस्स देवस्स दुरिअणिद्दलणं ।

१ "वर्षशतेषु च नवसु अष्टादशसमग्गलेषु चैत्रे ।
नक्षत्रे विधुहस्ते बुधवारे धवलद्वितीयायाम् ॥
तेन श्रीकक्कुकेन जिनस्य देवस्य दुरितनिर्दलनम् ।

नकशा कागज पर बनानेमें बहुत परिश्रम और समय नष्ट करने पर भी मैं समर्थ नहीं हो सकता।'

कर्नलटाडने यहाके गुम्बजकी कारीगरीके लिये लिखा है —

'इसका चित्र तैयार करनेमें कलम थकजाती है। अत्यन्त परिश्रमी चित्रकारकी कलमको भी इसके चित्रणमें बहुत श्रम पडेगा।'

रासमालाके लेखक प्रसिद्ध ऐतिहासिक फार्बस साहबने इन दोनों आदिनाथ और नेमिनाथके मन्दिरोंके विषयमें लिखा है:—

'इस मन्दिरोंकी खुदाईमें केवल स्वाभाविक निर्जीव पदार्थोंके चित्र ही नहीं बनाए गए हैं, किन्तु सामाजिक जीवनके दृश्य व्यापार और नौका सम्बन्धी चित्र तथा संग्राम सम्बन्धी चित्र भी अङ्कित किए गए हैं। इसके अलावा इसकी छतोंमें जैनधर्मसे सम्बन्ध रखनेवाली कथाओंके चित्र भी खोदे गए हैं।'

कर्नल टोडको, जिस समय वे विलायतको लौटगये थे, मिसेज विलियम हण्टर-बेलेने तेजपालके मन्दिरके गुम्बजका एक चित्र बनाकर दियाथा। इससे टाड साहब, उन मेम साहबासे इतने प्रसन्न हुए कि आपने अपनी बनाई हुई 'ट्रेवल्स इन वेस्टर्न इण्डिया' नामकी पुस्तक उन्हें अर्पण (Dedicate) करदी।

ये दोनों मन्दिर बहुत ही सुंदर और एक दूसरेकी बराबरी के हैं। इनमें उस समयके इञ्जीनियरोंकी शिल्प निपुणता, तथा उस समयके लोगोंकी सभ्यता, धर्मनिष्ठता, धनाढ्यता और उदारता साफ झलकती है।

तेजपालके मन्दिरसे थोडी ही दूरपर भीमाशाहका बनवाया हुआ मन्दिर है। इसको अब लोग भैंसासाह कहते हैं। इसमें १०८ मन धातुकी पीतलकी आदिनाथकी मूर्ति है। (इसको सर्व धातुकी मूर्ति भी कहते हैं) यह मूर्ति वि. स. १५२५ (ई. स. १४६९) फाल्गुन सुदि ८ को गूर्जर श्रीमालजातिके मन्त्री सुन्दर और गदाने स्थापित कीथी। ये दोनों मन्त्री मण्डनके पुत्र थे।

इन मन्दिरोंके सिवाय वहांपर श्वेताम्बर जैनोंके दो मन्दिर और भी हैं। एक शान्तिनाथका और दूसरा चौमुखजीका। यहांपर एक दिगम्बर जैनमन्दिरभी है।

पण्डित विश्वेश्वरनाथ.

जोधपुर.



मारवाडके सबसे प्राचीन शिलालेख.

(लेखक–विद्वद्रत्न श्रीमान् पं० रामकर्णजी, जोधपुर).

इस मरुदेशमें, जिसको रविकुलकमलदिवाकर रामचंद्रसे वर प्राप्त हुआ था कि, यह देश सुस्वादु और बलिष्ठ धान्य सपन्न सरस गोरस पूर्ण और नीरोग होगा, और जिसका अभी सूर्यवशावतस राष्ट्रकूट (राठोड) कुल कल्पवृक्ष राजराजेश्वर महाराजाधिराज श्रीसुमेरसिंहजी साहिब बहादुर शासन करते हैं, विमल बुद्धिवाले जैनशासन के प्रवर्त्तक अनेक जैनाचार्य विद्वान् हुए हैं, परन्तु वे कहा के थे और कब आये ? इसका पता लगाने पर यह पाया जाता है कि वे गुजरात से मारवाड में आये थे और ऐसी प्रसिद्धि भी है कि मारवाडमे जैनधर्म का प्रचार प्रथम ही प्रथम ओशिया में हुआ था परन्तु जैन सबधी सब से प्राचीन शिलालेख गाव घटियाला में, जो जोधपुर से पश्चिम की ओर है, विक्रमी सवत् ९१८ (ई सन् ८६१) का मिला है, इस शिलालेख की भाषा प्राकृत है, इसके उन्नीसवे पद्य में नक्षत्र वारादि सहित सवत् लिख कर, उस के आगे जिन मदिर बनानेवाले प्रतीहार कक्कुक महाराज के कई उत्तम कार्यों का कथन कर, कक्कुक का जिनमदिर बनाना और उसको धनेश्वर गच्छ के समर्पण करना लिखा है। यह कक्कुक, नाहडराव इस नाम से प्रसिद्ध प्रतीहार नागभटका वशज था, जिसका समय सातवीं शताब्दी होना चाहिये। कक्कुक के शिलालेख मे सवत्सर और जिनचैत्य विषयक ये गाथा है —

" वरिससएसु अ णवसु अट्ठारहसमग्गलेसु चेत्तम्मि ।
णक्खत्ते विहुहत्थे बुहवारे धवलबीआए ॥ [१९]"
तेण सिरिकक्कुएण जिणस्स देवहस दुरिअणिद्दलणं ।

१ वर्षशतेषु च नवसु अष्टादशसमग्गलेषु चैत्रे ।
नक्षत्र विधुहस्त बुधवार धवलद्वितीयायाम् ॥
तेन श्रीकक्कुकेन जिनस्य देवस्य दुरितनिर्दलनम् ।

"कारविअं अचलमिम भवण भत्तीए सुहजणय ॥ [२२]"
अप्पिअमेअ भवण सिद्धस्स धणेसरस्स गच्छम्मि ॥ "

भावार्थ—विक्रमी सवत् ९१८ (ई स ८६१) के चैत्र सुदि द्वितीया बुधवार को हस्त नक्षत्र में जिनराज का यह कल्याणकारी दृढ मदिर श्रीकक्कुक महाराज ने भक्तिभाव से करवाया, कि जिस से पाप का नाश हो।

यह शिलालेख प्रतीहार (पडिहार) कक्कुकने अपनी कीर्ति चिरस्थायिनी रहने के लिये जिनराज के मदिरमें लगवाया था। इसी कक्कुक महाराज का दूसरा शिलालेख उसी सवत् का उसी स्थान म मिला है, उसस पाया जाता है कि यह राजा जैनी ही नही था, किंतु विद्वान् भी था। क्योंकि इस शिलालेख के अतमें एक श्लोक लिख कर उसके आगे लिखा है कि यह श्लोक स्वय कक्कुक महाराज ने बनाया है —

" यौवने विविधैर्भोगैर्मध्यम च वय श्रिया।
वृद्धभावश्च धर्मेण यस्य याति स पुण्यवान् " ॥

भावार्थः—जिसकी युवा अवस्था नाना प्रकार के भोगभोगने में, और मध्यमवय धन उपार्जन करने में, तथा वृद्धावस्था धर्मध्यान में व्यतीत होवे, वही पुण्यवान् पुरुष है, इय श्लोक श्रीकक्कुकने स्वय रचा है

पहला शिलालेख प्राकृत भाषामें है, जिससे यह सूचित होता है कि उस समयके विद्वान् केवल प्राकृत भाषाके पडित ही नहीं थे, किंतु उनको जैनधर्मका पूर्ण अभिमान भी था। और दूसरे शिलालेख के अतिम श्लोकसे यह बोधित होता है कि महाराज कक्कुक केवल विद्वान् ही नही थे, किंतु नीतिनिपुण और धर्मानुरागी भी थे

उक्त शिलालेख से पीछे का गोडवाड प्रात के बीजापुर का राष्ट्रकूट (राठोड) विदग्धराज का शिलालेख है। इस शिलालेख को हमने 'एपिग्राफिका इडिका' में शुद्ध करके दुबारा छपवा दिया है। इस शिलालेख में तीन सवत् हैं विक्रमी सवत् ९७३, ९९६, और १०५३

यह शिलालेख कहता है कि हस्तिकुडी नगरी में राष्ट्रकूट हरिवर्मन् के पुत्र विदग्धराज ने विक्रमी सवत् ९७३ (ई. सन् ९१६) में केशव

१ कारापितमचलमिद भवन भक्त्या शुभजनकम्।
अर्पितमेतद्भवन सिद्धस्य धनेश्वरस्य गच्छे ॥

सूरि के संतान में जो वासुदेवाचार्य हुए, उनके उपदेशसे जिनराजका मंदिर करवाया. और पूजाका निर्वाह होनेके लिये कई लागे लगा दीं. इस विषयके उसमें ये पद्य हैं:—

(पं ३) "रिपुवधूवदनेन्दुहृतद्युतिः समुदपादि विदग्धनृपस्ततः [५*]
स्वाचार्यैर्या रुचिरवच [नैर्वा] सुदेवाभिधानै-
र्बो (र्बो) धं नीतो दिनकरकरैर्नीरजन्माकरो व ।
पूर्वं जैनं निजमिव यशोऽकारयद्धस्तिकुण्ड्यां
रम्यं हर्म्यं गुरुहिमगिरेः शृङ्गशृङ्गारहारि ॥ [६*]

भावार्थः—राष्ट्रकूट (राठोड) विदग्धराजने श्रीवासुदेवाचार्यके उपदेशसे हस्तिकुंडी नगरीमें जिनराजका मंदिर करवाया.

इस जिनमंदिरके निमित्त जो दान दिया गया था उसके वर्णनके अनन्तर ३० वीं पंक्तिमें दानका समय कहा है:—

(पं ३०) "रामगिरिनन्दकलिते विक्रमकाले गते तु शुचिमासे ।
श्रीमद्बलभद्रगुरोर्विदग्धराजेन दत्तमिदम् ॥"

भावार्थः—विदग्धराज ने वि. सं. ९७३ में श्रीबलभद्राचार्य को उक्त दान दिया.

फिर वि. सं. ९९६ (ई. सन् ९३९) में उसके पुत्र मम्मट ने उस दान का समर्थन कर दिया कि पीछे से उस में कुछ हानि न हो। इस विषय का यह पद्य है:—

(पं ३१) "नवसु शतेषु गतेषु तु षण्णवतीसमधिकेषु माघस्य ।
कृष्णैकादश्यामिह समर्थितं मम्मटनृपेण ॥"

भावार्थः—वि. सं. ९९६ के माघ वदि ११ को मम्मट राजाने उक्त दान का समर्थन किया.

उसके पुत्र धवलराज ने वि. सं. १०५३ (ई. सन ९९६) में उक्त मंदिरका जीर्णोद्धार किया और मंदिरमें श्रीऋषभदेव की नयी मूर्ति स्थापित की और महाध्वज चढाया। और मंदिरकी आमदनीमें कुछ और वृद्धि कर, अंत में अपने पुत्र बालप्रसाद को युवराज पदवी दे, आप विरक्त हो राज्यकार्यसे अलग हो गया.

(पं २२) "संवत् १०५३ माघशुक्ल १३ रविदिने पुष्यनक्षत्रे
श्रीऋषभनाथदेवस्य प्रतिष्ठा कृता । महाध्वजश्चारोपितः । "

इस की प्रतिष्ठा शांत्याचार्य ने करवाई थी। इस विषयका यह श्लोक है:—

(पं २२) "शान्त्याचार्यैस्त्रिपञ्चाशसहस्रे शरदामियम् ।
माघशुक्लत्रयोदश्यां सुमतिष्ठैः प्रतिष्ठिता ॥ "

भावार्थः—शान्त्याचार्यने वि. सं. १०५३ के माघ सुदि त्रयोदशी को प्रतिष्ठा करवाई.

इस प्रशस्तिका रचयिता सूर्याचार्य है:—

(प २१) "सूर्याचार्यैर्व्यरचि रमणीयातिरम्या प्रशस्तिः ॥ "

इस शिलालेखमें केशवसूरि, बलभद्राचार्य, वासुदेवाचार्य, शान्त्याचार्य और सूर्याचार्य पांच जैनाचार्योंका उल्लेख है. उनमें से चारोंका चरित्र नहीं मिला, इस लिये पांचवें सूर्याचार्य के विषयमे कुछ लिखा जाता है.

ये सूर्याचार्य प्रभावकचरित्र के सूराचार्य होने चाहिये। सूराचार्य चौलुक्य (सोलंकी) भीमदेव प्रथम के समयमें थे, और भीमदेव वि. सं. १०७८ (ई. सन् १०२१) मे अणहिलपुर पाटण में गद्दी बैठे थे.

ये सूराचार्य सोलंकी भीमदेव के मामा द्रोणाचार्य के भाई संग्रामसिंह के पुत्र थे। महीपाल इनका नाम था। द्रोणाचार्यसे दीक्षा लेने पर ये सूराचार्य नाम से कहलाये। इन्होंने शब्दशास्त्र, प्रमाण शास्त्र और साहित्य शास्त्र आदिमें पारगत होने से प्रसिद्धि पाई। वे एक दिन गोविन्दसूरि के मंदिरमें चले गये; वहां उत्सव था इस लिये एक नृत्यकुशल नर्तकी नृत्य कर रही थी। वह अत्यंत परिश्रम होने से थक कर एक पाषाण स्तंभका सहारा ले खडी होगई। उसे देख कर गोविंदसूरि ने सूर्याचार्य से कहा कि अभी यह जिस दशा में खडी है, उसी प्रकारका वर्णन करें. इतना कहते ही सूर्याचार्य ने उसके वर्णन का यह पद्य कह सुनाया।—

"यत्कङ्कणाभरणकोमलबाहुवल्लि-
सङ्गात्कुरङ्गकदृशो नवयौवनायाः ।
न छिद्यसि प्रचलसि प्रविकम्पसे त्वं
तत्सत्यमेव दृषदा ननु निर्मितोऽसि ॥ "

भावार्थः—इस नवयौवना मृगनयनीकी बाहुवल्ली के आलिंगन से हे स्तंभ ! न तो तुझे खेद होता है, न रोमांच होता है और न कंप होता है, इस लिये तू सच ही पत्थर का बना हुआ है।

यह रचना अत्यंत ही सरस और मधुर है. और उक्त शिलालेख की रचना भी ऐसी ही रसीली है इससे जाना जाता है कि उक्त लेख का कवि और यह सूराचार्य एक ही है। और इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि सूराचार्य ने **द्विसंधान** काव्य बनाया, जिस में श्रीऋषभदेव और नेमिनाथ दोनों के चरित्र का वर्णन श्लेष द्वारा किया है. और इस शिलालेख में भी ठौर ठौर श्लेषवाली कविता पाई जाती है। जैसेः—

(पं २१) सालंकारा समधिकरसा साधुसंधानबन्धा
सद्वृत्ताढ्या ललितविलसत्तद्धिताख्यातनामा ।
सद्वृत्ताढ्या रुचिरविरतिर्धुर्यमाधुर्यधुर्या
सूर्याचार्यैर्व्यरचि रमणीवातिरम्या प्रशस्तिः ? ॥ ''

भावार्थः—सूर्याचार्योंने इस प्रशस्तिकी रचनाकी, जो रमणी के समान अत्यंत रमणीय है। इसमें एक अर्थ प्रशस्ति पर और दुसरा अर्थ रमणी पर है.

उक्त रचना एकसी है और समय भी एक है, इस लिये प्रभावक चारित्र का सूराचार्य ही सूर्याचार्य होना संभव है।

इससे पीछे का ओसियां में वि० सं० १०१३ का प्रतीहार (पड़िहार) वत्सराजका शिलालेख मिला है. इस शिलालेखमें इस नगर का नाम 'ऊकेशपुर' लिखा है. और अभी वह ओसियां नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि ओसवाल जाति ओसियां नगर के नाम से प्रसिद्ध हुई।

ओसियां में जैनके शिलालेख विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दी के आरंभसे मिलते हैं। जिसमें से विक्रमी संवत् १०५३ के शिलालेख से जो जैनमंदिर की दीवारमें लगा हुआ है, पाया जाता है कि इस नगर का नाम ऊकेश था; और उस समय इस नगर का राजा प्रतीहार (पड़िहार) वत्सराज था। इस राजाके विजयराज्य में बनिया जिन्दकने अथवा उसके पुत्रने भुवनेश्वर नामक जिनमंदिर में मंडप करवाया।

इस शिलालेख की छठी पंक्ति में प्रतीहार शब्द की व्युत्पत्ति लिखी है:-

"तस्याकार्षीत्किल प्रेम्णा लक्ष्मणः प्रतिहारताम् ।
ततोऽभवत्प्रतीहारवंशो रामसमुद्भवः ॥

भावार्थः—लक्ष्मणने उस (रामचंद्र) का प्रेमसे प्रतीहारता (ड्यौढीदारी) का काम किया, इस लिये रामचंद्र का वंश प्रतीहार वंश कहलाया.

इसके आगे इसी पंक्ति में वर्तमान राजा का नाम लिखा है—

"तद्वंशे [त्व] वशी वशीकृतरिपुः श्रीवत्सराजोऽभवत् "

भावार्थः—उस (प्रतीहार) वंश में वत्सराज राजा हुआ, जिसने सब शत्रुओंको वश कर लिया था और आप किसीके वशीभूत नहीं था ।

और आठवीं पंक्ति में पुरके वर्णनके साथ पुरका नाम ऊकेश लिखा है:—

"तेनावनीशेन कृताभिरक्षैः सद्ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रैः ।
समेतमेतत्प्रथित पृथिव्यामूकेशनामास्ति पुरं गरीयः ॥

भावार्थः—यह (वत्सराज) राजा जिनकी रक्षा करता है, ऐसे उत्तम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जिसमें निवास करते हैं, ऐसा 'ऊकेश' नाम का बड़ा भारी नगर है.

नवमी पंक्ति मे वहाके प्राचीन भुवनेश्वर भवन का वर्णन है,—

"तस्यान्तर्भुवनेश्वरस्य भवनं बिभ्रद्दृश शुभ्रता-
मभ्रस्पृङ्मृगराजकुञ्जरयुतं सद्वैजयन्तीलतम् ॥ "

भावार्थ.—उस (ऊकेशपुर) के अदर भुवनेश्वर का भवन है जिसमें सिंह और गजराज शोभा देते है और वैजयंतीलता प्रकाशमान है ।

इसके अनन्तर बारहवीं पंक्ति से पाया जाता है कि यह मंडप दुबारा कराया गया है:—

'सोऽयं भूयः प्रकटमहिमा मण्डपः कारितोऽत्र । "

तेरहवीं पंक्ति में मडप करानेवाले का नाम लिखा है:—

" वणिग्जिन्दकसञ्ज्ञितः । "

बनिया जिदक.

इससे पहिले उसके पिताका नाम और चौदहवीं पंक्ति में जिदक

की स्त्री और उसके पुत्रका नाम पाया जाता है, परंतु पत्थरके अक्षर बीच में से टूटे हुए है, इस लिये नाम नहीं निकलते। शेष अक्षरोंसे उनकी सूचना अवश्य होती है,

"तारायितं येन सुयशभाजा सद्दानस (मा) णि (नि) तमार्गणेन
पुत्रस्तस्याभवत्सौम्यो वणिग्जन्दकसंज्ञितः ॥ " (पं १३)
" ....दुहराह्वया।
प्रसादयुक्ता............... ..भिरामा।
सदानुसर्त्री स्पृशति न दीनां।"
"तस्यास्तस्यामभूद्धर्म्मार्थिवर्ग. ...." (पं १४)

और २२ वीं पंक्तिमें संवत् १०१३ का लिखा है:—

"संवत्सरदशशत्यामधिकायां वत्सरैस्त्रयोदशभिः ॥"
फाल्गुनशुक्लतृतीया भाद्रपदाजा—

संवत् १०१३ फाल्गुन सुदि ३ भाद्रपद नक्षत्र। इससे यह मालूम नहीं होता कि नक्षत्र पूर्वभाद्रपद अथवा उत्तराभाद्रपद है.

ऐसा सुनने में आता है कि जैनाचार्य ने ओसिया के समस्त निवासियों को जैनधर्मी बना दिया था. और वे ओसियां के संबंध से ओसवाल कहलाये. परंतु यह जनश्रुति सर्वथा सत्य हो ऐसा नहीं जाना जाता क्योंकि इसी शिलालेख का एक श्लोक ऊपर लिखा जा चुका है; उसमें लिखा है कि इस नगर में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्ण निवास करते हैं. यदि सब के सब जैनधर्मी हो गये हों तो ऐसा लिखना नहीं संभवता। इससे यह पाया जाता है कि कितनेही लोगोंने जैन धर्म को अंगीकार किया, और दूसर अपना वैदिक धर्म मानते रहे. और इस शिलालेख में

" सोऽयं भूयः प्रकटमहिमामण्डपः कारितोऽत्र "

यहा 'भूयः' शब्द कहा है जिस से यह भी जाना जाता है कि यह मंदिर वि. सं. १०१३ से पहले का बना हुआ है.

इस शिलालेख में ओसिया का नाम 'ऊकेश' लिखा है और इसी नगर में जो सचियाय माताजी का मंदिर है, उसमें वि. सं. १२३६ के शिलालेख में उपकेश नाम लिखा है। इस लिये इनसे पीछे के शिलाले-

खोंमें ओसवाळ जाति को कहीं तो 'ऊकेसवंश-ऊकेश ज्ञाति' ऐसा लिखा है; और कहीं 'उपकेश वंश-उपकेश ज्ञाति' ऐसा लिखा है.

मेदपाटेश्वर महाराणा कुंभा के पुत्र रायमल्ल के नारलाई के वि. स. १५५७ के शिलालेख में 'ऊकेश वंश' और आदिनाथ के मंदिर के वि. सं. १७६९ के शिलालेख मे 'ऊकेशज्ञाति' लिखा मिलता है. और सांचोर के १२२५ के शिलालेख में 'उपकेशज्ञातीय' और मेदपाटेश्वर महाराणा लाखा के वि. सं. १४७५ के शिलालेख में 'उपकेश वंश' ऐसा लिखा है.

ओसियां के शिलालेख के समय से पीछे आबू में विमलवसही बनने का समय है. जिसका उल्लेख विमलवसही के जीर्णोद्धार संबंधी वि० सं० १३७८ (ई० सन् १३२१) के शिलालेख में किया जाता है कि यह मंदिर वि० सं० १०८८ (ई० सन् १०३१) में विमलशाह ने बनाया थाः—

"श्रीविक्रमादित्यनृपाद्व्यतीतेऽष्टाशीतियुक्ते शरदां सहस्रे ।
श्रीआदिनाथ शिखरेऽर्बुदस्य निवेशितं श्रीविमलेन वन्दे ॥११॥"

भावार्थः—विक्रम संवत् १०८८ में आबू पर्वत के शिखरपर विमल-शाह ने आदिनाथ को स्थापित किया था।

हमको मारवाड में आज तक जैन के शिलालेख सौ १०० के करीब मिले हैं, वे सब उक्त शिलालेखों से पीछे के हैं। उनमे बहुधा बारहवीं, तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी के शिलालेखों की रचना अत्यंत रमणीय और सरस है। उससे पीछे की रचना वैसी रमणीय और विद्वत्ता भरी नहीं है। प्रत्युत अशुद्ध और असंगत भी देखने में आती है इस लिये यह कहना होगा कि उस समय जैन साहित्य उन्नति के शिखरपर चढा हुआ था. क्यों न हों, हेमचंद्रसूरि और वादिदेवसूरि जैसे विद्वानों के प्राकट्य का समय भी वही था। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि बारहवीं शताब्दी से पहिले की जैन विद्वानोंकी कविता उत्तम न होगी. क्योंकि नवमी दसवीं और ग्याहर्वी शताब्दी की कविता घटियाला, घांडापुर ओसियां आदि आदि के शिलालेखों के देखनेसे प्रतीत होता है कि उस समय जैन विद्वानो में केवल संस्कृत भाषा के ही विद्वान् नहीं थे; किंतु प्राकृत भाषा के भी पूर्ण विद्वान् थे; क्योंकि घटियाले का वि० सं० ९१८ का प्रतीहार कक्कुक का शिलालेख प्राकृत भाषामें है. इससे आप लोगों को ज्ञात होगया होगा कि इस समय जैन साहित्य की उन्नति का प्रयत्न करनेकी अत्यावश्यकता है।

ARCHAEOLOGICAL RESEARCH A JAIN DUTY.



BY VINCENT A SMITH, M. A.

IMPORTANCE OF ARCHAEOLOGICAL RESEARCH.

All students of *Indian learning* in *all* its forms are more or less fully aware of the advance in knowledge secured during the last seventy or eighty years by archaeological research. The testimony of written and oral traditions has been controlled by the discoveries of the archaeologist, which alone have rendered possible my attempt to write a narrative history of ancient India Coins, inscription, buildings, scriptures, paintings, and miscellaneous remains of many kinds, often discovered by laborious and systematic excavation have enabled us to fill in the dimoutline of indian History as recorded in the old books, to give precision to knowledge which before was vague, and to lay the foundations of a solid system of chronology.

The Jains possess and sedulously guard extensive libraries full of valuable literary material as yet very imperfectly explored, and their books are specially rich in historical and semi-historical matter. But the literary traditions are often discrepant, and the archaeological test is needed in order to establish the truth.

DUTY OF WEALTHY JAINS.

The Jain community includes an unusually large proportion of wealthy men, who can well afford to spend money on any public object which arouses their interest. The General Secretary of the approaching Literary Conference having invited me to send a contribution to the discussions which will take place, I am unwilling simply to refuse his request.

My linguistic knowledge is not sufficient to enable me to examine or edit literary texts, and I therefore venture to write a letter about a subject which I understand and to make certain suggestions which may produce valuable results, if acted on.

My desire is that the Members of the Jain Community and more especially the wealthy members with money to spare should interest themselves in archaeological research, and spend money on its prosecution, with special reference to the history of their own religion and people.

THE FIELD FOR EXPLORATION

The field for exploration is vast. At the present day the adherents of the Jain religion are mostly to be found in Rajputana and western India. But it was not always so. In olden days the creed of Mahawira was far more widely diffused than it is now. In the 7th century A. C. for instance that creed had numerous followers in *Vaisali* (*Basarh North of Patna*) and in Eastern Bengal, localities where its adherents are now extremely few. I have myself seen abundant evidences of the former prevalence of *Jainism in Bundelkhend during the me*dieval period, especially in the 11th and 12th centuries. Jain images in that country are numerous in places where a *Jain* is now never seen. Further South, in the Deccan and the Tamil countries, Jainism was for centuries a great and ruling power in regions where it is now almost unknown.

THE TRADITION ABOUT CHANDRAGUPTA MAURYA

The facts thus cursorily alluded to open up an unlimited field for investigation. I would commend especially as a worthy subject of enquiry the problem of the credibility of the tradition that Chandragupta Maurya accompanied *Bhadrabahu to Sravana Belgola* and then gave up his life by the slow process of starvation authorised by Jain principles. Some of you, no doubt, are aware that the question has been the subject of keen controversy between Mr. *Lewis* Rice and Dr. Fleet. It is time for a Jain scholar to inter

vene and discuss the subject from his point of view. But for such work a real scholar is needed and his intervention shold be according to knowledge. The modern learned world is exacting and demands accuracy in the statement of fact combined with clear, logical reasoning.

CONFICT OF RELIGIONS IN THE SOUTH.

The subject of the causes which led to the decay of Jainism in wide regions where it was once prevalent, or even dominant, is well worthy of investigation, and the enquiry should be interesting to learned Jains. The connected subject of the conflict of religions in the south, and more especially of the struggle between the saivism of the Cholas and the Jainism of the earlier princes has been little studied.

SOME BOOKS TO BE STUDIED

The proper investigation of such problems needs as one of its bases a survey of the Jain monuments, images, and inscriptions. Many such monuments remain hidden in the soil and await the pickaxe of the skilled excavator, whoever takes up the examination of eminent Jain remains should make himself familiar with the works of the early Chinese pilgrims, and especially with those of Hinen Tsang, the Prince of pilgrims, who travelled in the 7 th century A. C., and recorded notes about many Jain monuments, of which all memory has been lost. The travels of Hinen Tsang are an indispensable guide for every archaeologist I am aware of course, that a Jain scholar who desires to use the books referrell to must know either English or French, if he is not acquainted with Chinese. But I fancy that now-a-days many jains learned in their own scriptures are sufficiently masters of English to use all books in that language required for the successful prosecution of their studies, and the members of a community so well provided with this world's goods need not be frightened at the cost of the books.

JAIN MONUMENTS MISTAKEN FOR BUDDHIST.

In some cases, monuments which are really jain have been erroneously described as Buddhist. According to the story, even king Kanishka, some eighteen centuries ago, once mistook a jain for a Buddhist *stupa*, and when he could make such a mistake, it is not surprising that modern archaeologists should sometimes have credited the Buddhists with the execution of jain works. Sir Alexander Cunningham, I think, never realised that the jains habitually built *stupas* and erected stone railings found sacred monuments, exactly as the Buddhist did. He always described such railings as 'Buddhist railings' and whenever he detected the ruins of a *stupa* he assumed that the site was Buddhist. Although Bhagwanlal Indraji the Bombay scholar was familiar with the fact that Jains had built *stupas*, and published his knowledge so far back as 1865, Indianits did not generally recognise that Jain *stupas* should be looked for, until more than thirty years later, when Buhler in 1897 published his essay entitled "A Legend of the Jain *Stupa* at Mathura." My book entitled-*The Jain Stupa and other Antiquities* of Mathura, published in 1901, made all students familar with the fact that Jain *Stupas* and stone ralings, exastly resembling those erected by the Buddhists, had once been numerous.

But even now I doubt if there is one standing *stupa* which has been recognised as Jain. The Mathura example described in my book was totally destroyed by ill-regulated excavation. I feel certain that Jain *stupas* must be still in existence and that they will be found if looked for. They are more likely to be found in Rajputana than elsewhere.

THE PROBLEM OF KAUSAMBI.

I think it highly probable that the remains at Kosam in the Allahabad District will prove to be Jain for the most part, and not Buddhist, as Cunningham supposed. The village undoubtedly represents the Kausambi of the Jains and the site, where Jain temples exist, is still a place of pilgrimage

for the votaries of Mahavira. I have shown good reason for believing that the Buddhist Kausambi was a different place, not very far from Barhutt. Since my essay on the Subject (Kausambi and Sravasti, J R. A. S. July 1898) appeared, Dr. Fleet has shown (ibid, 1907, P 511) that Panini distinguished Kausambi from Vana Kausambi, or K, in the forest. I believe that the Buddhist town was Kausambi in the forest.

I commend the study of the antiquities at Kosam to the special attention of the Jain community. Enough has been said to show that various problems connected with the subject remain to be settled

SURVEY OF MONUMENTS ABOVE GROUND

Much may be done by careful registration and description of the Jain monuments above ground which of course, should be studied in connection with the jain scriptures and the notices recorded by the Chinese pilgrims and other writers In order to obtain satisfactory results the persons who undertake such registration and survey should make intelligent use of existing maps, should clearly describe the topographical surroundings, should record accurate measurements, and should make free use of photography. Such a servey, even without the help of excavation, should throw much light upon the history of Jainism and especially on the story of the decline of the religion in wide regions where it once had crowds of adherents

BIBLIOGRAPHY.

I commend to all enquiries the great work by M, Guerinot entitled *Essai de Bibliographie jaina* published in the Annales in musee guimet, by Leroux, Paris, 1906 A supplement, entitled 'Notes de bibliographic Jaina' appeared in the *journal Asiatique* for July-August 1909 Those Publications notice everything printed about Jainism to 1909. A person ignorant of French might still make considerable use of the lists compiled by M. Guerinot.

Excavation is a more complicated matter, and should not be undertaken on any considerable scale, except in communication with the archaeogical survey that is to say under the advice and instructions of either the Director-General of Archaeology or one of the Provincial Superintendents. Much mischief has been done by ill-designed and carelessly conducted excavation I have already mentioned how the precious Jain *stupa* of Mathura was destroyed, without any propr record of the exploration being kept. It is essential that minute records of every stage of the work should be written up as it proceeds, that the position of every thing found should be accurately noted, and that michenical copies of all inscriptions should be taken. Excvation requires skilled supervision.

EXCAVATION.

In conclusion, I beg to suggest that the Conference might appoint an Archaeological Commitee to draw out a plan for research on the lines indicated above, and to collect necessary funds, which should be considerable in amount. A Jain Assistant, propealy qualified and paid by the Jain community if appointed to the archaeological Servey, could do much, and it would be better still if there were several such Assistants working under the direction of the superintendents. If the Conference thinks fit, a copy of this paper might be sent to the Director-General of the Archaeological Servey, for information.

ACTION SUGGESTED

Oxford 27th Jan. 1914

VINCENT A. SMITH.



Dr L P TESSITORI M A Ph D



Dr L P TESSITORI M A Ph D

I shall begin by first taking into examination the legend of Ranasimha, which presents to give an account of Dharmadasa's worldly life as well as of the origin of the उवएसमाला, and is related at full length by Ramavijayagani in the beginning of his Sanskrit टीका on the above work. The following is a summary abridgment of it.

Vijayasena, king of Vijayapura, had two wives, Ajaya and Vijaya. The latter became pregnant, where upon Ajaya out of jealousy determined to suppress the child that was to be born of her rival, In due course, Vijaya gives birth to a male child, but Ajaya, who had previously won the midwife to her side, causes a dead child to be substituted for the new-born and this to be abandoned in a forest. The royal infant is found by a peasant called Sundara and consigned to his own wife, who brings him up and imposes upon him the name of Ranasimha Mean while king Vijayasena comes to know of the trick practised by Ajaya and, disgusted with the world in consequence, renounces the throne in favour of some relative of his, and together with his wife Vijaya and his brother-in-law, Sujaya takes the initation at the hands of Lord Mahavira In a short time the monk Vijayasena reaches to a high degree of learning and becomes a GANIN known to the world under the name of Dharmadasa, and similarly his brother-in-law becomes a GANIN by name Jinadasa According to the command of Lord Mahavira, Dharmadasagani takes to wander through the world to preach and convert the people to the religion of the Jina.

Meanwhile Ranasimha had grown up and was engaging in the cultivation of the earth. Near his field there was a sanctuary founded by the YAKSA cintamani in honour of Lord Parshvanatha and Ranasimha made the vow every day to go there to pay his worship to the Jina. The YAKSA to test the firmness of his vow, raised many difficulties against him, but he did not allow himself to swerve from his promise in spite of all them. At last the YAKSA was pleased with

Ranasimha's firmness and told him to ask a boon. Ranasimha chose that he might become king, where upon the YAKSA sent him to the SVAYAMVARA of Kanakavati, the daughter of Kanakashekhara, king of Kanakapura, and caused the princess to choose him for her husband Afterwards Ranasimha married two other princesses; Kamalavati, the daughter of Kamalasena king of Padalikhanda, and Ratnavati, the daughter of Purusottama king of Soma, and after many extraordinary adventures succeeded in bringing all his three wives together to his home. Here the same YAKSA appeared to him once again and told him to go to Vijaya Pura, to take possession of his father's throne, which he easily did thanks to the help of his divine protector.

"But the splendour and might of his new situation, or, if we are to take Ramavijaya's words in their literal meaning the very Kali, the genius of the wicked age, soon drive Ranasimha's reason perverted and cause him to rule irrespectful of law and justice. At this juncture steps in Jinadasa and brings his nephew back to reason by reciting to him the उवएसमाळा, which work had been purposely composed by his father Dharmadasagani for the instruction of him. King Ranasimha learns it by heart and becomes converted. Some time afterward, Ranasimha abdicates in favour of a son he had from Kamalavati and takes the monastic vows at the hands of Municandrasuri. His son likewise learns the उवएसमाळा by heart and divulges it all over the world."

Such is in its main lines the story as related by the commentator Ramavijayagani, and I do not think there is possibly any reader but sees at once that it teems with fictitious and most unlikely particulars. Even leaving aside the supernatural element represented by the YAKSA and other fabulous accounts, which I have purposely omitted, contained in Ranasimha's love-adventures, we have plenty of evidence in the proper names and in the frame of the story itself to

WAS DHARMADASGANI CONTEMPORARY WITH LORD MAHAVIRA ?

By Dr. L. P. Tessitori, Udine [Itali]

(Address—L. P. Tessitori, Via Cussignacco 13, Udine Italy)

When, in the Italian introduction to my edition of the उवएसमाळा, I briefly discussed-as far as it could be done with the materials available to me in Italy the question concerning the epoch of its author Dharmadasagani. I did not pay any particular attention to the Jain tradition which represents him as a disciple of Lord Mahavira as it seemed to me that the fabulousness of it must be so evident that it would be altogether supurfluous to prove it. So I contented myself with citing the above tradition, which I found alluded to in a Gujarati commentary on Nemicandra's सट्ठिसय *contained* in the Florentine Ms. No. 638, in a foot-note on P. 11. and taking it as a testimony to the high consideration in which the उवएसमाळा was held by the Jains, it being plain to me that such a tradition was invented for the mere purpose of increasing the authoritativeness of the book by so tracing its origin far back into time. It is only after my edition of the उवएसमाळा had been printed, that I was kindly informed by the venerable Vijaya Dharma Suri that the opinion that Dharmadasagani was contemparary with Lord Mahavira is still maintained by the Jains; and was presented with a copy of the उपदेशमाळा भाषान्तर published by the श्री जैनधर्म प्रसारक सभा, Bhavnagar 1910, in the प्रस्तावना whereof the afore said opinion is strongly defended. Since then I convinced myself of the necessity of helping my Jain friends out of the wrong way by clearly showing to them the incorrectness of their belief, and this is what I am trying to do now by means of the present article.

show that it is wholly fantastical. The fact that the names of kings as well as their relatives and their capitals are in each case derived from the same nominal stock, E G. Vijayasena, Vijayapura, Ajaya, Vijaya, Sujaya from जय and विजय, is a most unmistakable testimony to their having been invented and consequently to the unreality of the persons they designate. For it can not be thought that names of historical personages could possibly fall into oblivion whilst the memory of their deeds is still alive; history tending to prove the reverse, namely that proper names often survive long after all biographic particulars of the individuals in question have been lost. It might be urged that if in our case all other names are invented, there may be at least two of them SCIL, Vijayasena and Ranasimha which correspond to historical truth, and therefore the connection between the two personages they designate is not beyond the range of possibility. But if we consider the frame of the story, we see at once that even this possibility is destroyed. The story itself appears to be wholly fictitious not only in its particulars, but also in its main thread; it is clear that it was invented with the precise purpose of explaining the origin of a famous book concerning the author whereof nothing was known beyond his name. And it is also a stupid and absurd invention, for the उवएसमाळा is not a book for kings, but for monks, as it is not only borne out from its contents, but also explicitly stated by Dharmadasa himself, gathas 530, 532, 539, of his work, The conclusion is that the legend of Ranasimha is no authority for the life of Dharmadasa, and therefore can not be adduced as a testimony to the latter's having lived in the time of Lord Mahavira.

Thus I have done away with one of the arguments alleged by the editor of the उपदेशमाळा भाषान्तर in favour of the Jain tradition as to the antiquity of Dharmadasa. The other arguments are much more easily disposed of. One, which need not be discussed at all, as it evidently rests on a gross pro-

ready been pointed out above incidentally, a great many of the personages cited by Dharmadasa in the course of his work are unpuestionably admitted even by Jain authorities, to have lived some centuries after Lord Mahavira, and therefore Dharmadasa is posterior even to them. Thirdly, the language, in which the उवएसमाळा is written, is not the Ardhamagadhi of the Jain canon, which is the oldest from of prakrit adopted by the Jains in their literature and in which Lord Mahavira is reported to have preached, but the Jaina Maharastri, I. E. a later form of language belonging to a more Western area. Fourthly, and lastly, Dharmadasagani and his उवएसमाळा are not cited by any Jain writer until comparatively recent times and though arguments EX SILENTIO are often fallacious, yet in the present case it is safe to conclude that the उवएस-माळा was not in existence in previous times, for it cannot be admitted that such a work remained long forgotten and only afterwards arose all at once to the greatest popularity.

From all the above we are thus led to conclude that Dharmdasagani lived many centuries after Mahavira, and also the legend of Ranasimha having been shown to be wholly fictitious–that nothing is known concerning his personality. The *only information we can gather from the* उवएसमाळा *in this* respect, is that he was a GANIN I. E. a teacher (gatha 537) and composed the last–named work for his disciples (gatha 540). As regards the other particulars of his life, it is certain that they had all been forgotten before the legend of Ranasimha was invented. To fix the epoch of Dharmadasa's life into narrow limits, it is not possible with the scanty evidence available to me at present, but I do not think eve would go very far from the truth if we placed the composition of the

उवएसमाळा at about the eight or possibly the seventh century A. D. The furthest TERMINUS AD QUEM we can fix at present for the composition of the उवएसमाळा is Samvat 913 (A. D. 856) the datation of Jayasimha's Prakrit वृत्ति, according to the authority of the जैन ग्रन्थावली (Bombay 1908).

judice, is that so excellent a book could not possibly be composed but at the time of Lord Mahavira. Another one is that no commentator on the उवएसमाळा seems to entertain the least doubt concerning the question. But does the silence of the commentators mean that they know of the common tradition and believe it to be true ? And even if they did so, what would this mean ? The fact is that the commentary by Ramavijayagani, where the legend of Ranasimha is related at full length and it is stated that Dharmadasa composed his work आत्मसुतप्रबोधनार्थं, is apparently the most recent in time of all commentaries, it having probably been written in the seventeenth century A. D., if not later. *The older commentators Siddharsi and Udayaprabhadeva, and also Somasundarasuri who wrote his vernacular बालावबोध in the beginning of the sixteenth century, do not make any mention at all of king Ranasimha and only very vaguely in the explanation of the 2nd gatha in the उवएसमाळा allude to Dharmadasa having possibly lived in the time of Lord Mahavira.

Next comes a third argument which properly understood, is no argument at all, but simply a desperate effort to set aside a serious obection. *The objection* is this that in the course of the उवएसमाळा personages are cited who notoriously lived in the fifth ARA, and consequently Dharmadasa must be posterior to them. To avoid this objection, the editor of the उपदेशमाळा भाषान्तर puts forth the remark that Dharmadasagani was endowed with the AVADHI-knowledge, which is त्रिकाळविषयी and therefore he was able to foresee any future events I will not discuss this point, nor do I think I reasonably could, for when *supernatural belief* steps

* This according to the jain tradition that Ramavijaya was a disciple of Sumativijaya and contemporary with Yashovijaya who is said to have written his शान्तिजिनजीनो रास in the year Samvat 1785 (See उपदेशमाळा भाषान्तर, प्रस्तावना P.2

in historical research and criticism are necessarily silenced, but I venture simply to remark that on the ground of miracles there is no impossibility which could not be proved, and any how it is not likely that Dharmdasagani, granting he possessed the AVADHI-knowledge, favoured his contemporaries with citations of personages who had yet to be born and whose names were absolutely meaningless to them in consequence.

The last argument is that all living authorities agree in maintaining that the Jain tradition concerning Dharmadasa is true, and therefore they must be right and we should all follow in their track for महाजनो येन गतः स पन्थाः There is no doubt as to this being a golden rule in many cases, but certainly not in a case like the present. Common opinion is as often found to agree on prejudices as it is on truths, and when prejudices are deeply rooted and largely spread, it is difficult even to great men to shake them off themselves and take an independent course apart from the common crew. If all the greatest Jain authorities of India actually agree on the point in question, as asserted by the editor of the उपदेशमाळा भाषान्तर it must be because they never payed much attention to the matter and accepted the common tradition without ever attempting to test it.

I proceed now to examine another argument of my opponents, which is not mentioned in the प्रस्तावना to the उपदेशमाळा भाषान्तर, but, as I am informed, is generally considered to be of a decisive authority in the question. It is drawn from the text of the उवएसमाळा itself, namely the 2nd gatha, which reads as follows:—

जगचूडामणिभूओ उसभो वीरो तिलोयसिरितिलओ।
एगो लोगाइच्चो एगो चक्खू तिहुयणस्स ॥ २ ॥

The meaning is very clear: "(Lord) Rsabha (is as it were) the frontal gem of the universe, (and Lord) Vira the

tilaka of beauty of the three worlds; the former (is) the sun of the world (and) the latter the eye of the three worlds." Here some of the Sanskit commentators, *in primis* Siddharsi, whilst trying to find a reason for the particular similes applied to each of the two *Tirthakaras,* are led to suppose that Lord Mahavira is called the *tilaka* and eye of the three worlds on account of his being still alive when Dharmadasa wrote his work. The following is the interpretation by Siddharsi, which is, however, given as a mere alternative:—

अथवा वीरे भगवति जीवति सति गुण स्तुतिरियम्। प्रकरणकारेण कालचक्रे। ऋषभो जगच्चूडामणि भूतोऽधुना मुक्ति पदस्थायितया चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकस्योपरिवर्त्तीत्यर्थः। वीरः पुनः प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणतया त्रिलोकश्रीतिलको भुवनलक्ष्मीमण्डनमितिभावः। तथानयोर्मध्य एक ऋषभो लोकादित्यो युगादौ प्रभात इव विवेकप्रतिबोधनद्वारेण पदार्थोद्द्योतकत्वेन च निखिलव्यवहारकारणत्वात्। एकः पुनर्वीरश्चक्षुस्त्रिभुवनस्येदानींतनजन्तुचक्षुर्भूतागमार्थप्रापकत्वादिति॥

This is very ingenious, no doubt but we should not forget that it is Siddharsi, not Dharmadasa, who says it. In the Prakrit text there is nothing to show that the above is the right interpretation, and Siddharsi himself is not quite sure about it, as he gives it as merely optional. Dharmadasa probably meant simply to say that first Lord Rsabha spread the light of religion over the world, and afterwards Lord Mahavira caused men to open their eyes and perceive it; and to poetically represent the successiveness of the two facts, borrowed the simile of the eyes not being able to see until after the sun has illuminated the material objects. All that can be deducted from the interpretation by Siddharsi quoted above is that at the time of the latter commentator (end of the ninth or beginning of the tenth century

A. D.') the life of Dharmadasagani had already merged into the sea of myth.

Having thus cleared our path of all the objections that would be raised against us by the defendants of the common tradition, we will proceed to the examination of some positive evidence, which points out beyond doubt that Dharmadasagani was many centuries posterior in time to Lord Mahavira. To begin with, I will quote a testimony from the उवएसमाला itself, which to the eyes of my Jain friends will probably carry more weight than all the considerations I shall make below. Gatha 12th of the above work, Dharmadasa alludes to the Jinas in general, in the following terms;—

कइया वि जिणवरिन्दा पत्ता अयरामरं पहं दाउं।

"At some (remote) time the great *Jinas* obtained the (*moksa*-stage, where there is) neither old age nor death, after having shown the way (thereto to the people)." It is plain that a disciple of Lord Mahavira would not express himself in such a way, i e he would not refer to the time of his teacher, and consequently his own, by the indeterminate कइया वि (Sanskrit कदापि) which necessarily implies remoteness and uncertainty, nor would he mix his teacher with the other JINAS; and if Dharmadasa does it, it must be because he was living at a time when Lord Mahavira already belonged to *tradition in the same way as all the* TIRTHAKARAS who are said to have preceeded him.

Other, and indeed more positive, proofs are afforded to us by general considerations First the Jain religion and dogmatics, as represented in the उवएसमाला, are at a much more advanced stage of development than they could possibly be at the time of Lord Mahavira Secondly, a fact which has al-

॥ शास्त्रविशारद् जैनाचार्य-श्री धर्मविजयजीसूरिवरेभ्यो नमो नमः ॥

THE JAIN AND THE PANCHATANTRA

BY

Dr. JOHANNES HERTEL M. A. P. H. D.

When, in Sunn 1859, the celebrated German professor Theodor Benfey published his translation of the Panchatantra, there begun a new period in literary research for as a true scholar Benfey was not content to *translate* the only printed edition which then was available: but he collected the unfortunately very few manuscripts Mss. which he was able to procure for his use, and he wrote an introduction to his book which showed the great importance of Indian narrative literature for all the civilized world.

Benfey, after the French scholar Silvestre de Sacy, the first editor of the Arabic Version of *Kalilak and Dimnah*, was one of those great pioneers in literary research who, from time to time, appear to open new ways for future generations; but owing to the very scanty materials which were at his disposal, he could not possibly avoid grave misgivings in the results he arrived at These mistakes as well as the splendid results of his work were at first accepted by the scholars as so many undeniable truths. Later on, doubts arose. Some of the weak points of benefey's argumentation were recognized, and some scholars went as far as to throw over board also the most important truths which the great idologist had investigated.

Amongst these adversaries of Benefy's main thesis, by which he stated that most of the European fairy tales and many

other stories were derived from Indian sources, there is, as far as I can see, only one who is able to read Sanskrit. But as this scholar, who has written a booklet on the influence of Indian tales on other literatures, knows only *some* of the few printed collections, and nothing at all of the huge mass of the still unpublished manuscripts of Indian story books, the only thing which he *really* has proved is his ignorance of the matter he is dealing with. On the other hand the *best* experts in the field of comparative story literature, though they do NOT understand any Indian language, e g. Johannes BOLTE, (બોલ્ટે) Emmanuel COSQUIN (to be pronounced) કોસ્કેં and Victor CHAUVIN (to be pronounced શોવેં) whose death which took place some months ago has been a very great loss in literary world, as before them Reinhold KOEHLER and Felise LIBRECHT never doubted the Indian origin of a huge mass of fairy and other tales current amongst all the peoples of Northern and Western Asia, of Africa and of Europe· and as DAEHNhardt has shown, such stories were even brought from Africa to America by negro slaves All these scholars not only believed in this main result of Benfey's investigations, but they proved its correctness in a very great many of new cases.

In a previous paper published in the જૈન શાસન the author of these lines has shown, that such Indian influences are even to be found in our christian સિદ્ધાંત in the Holy Bible, both in the old and in the new Testament. Arabic and Persian literature seems with Indian stories, and it is a proved fact that the most celebrated Arebic story book, the Arabian Nights, which has been translated into several Indian languages, is in the main of Indian origin. Through out the middle ages christian monks and clergymen used in their sermons (धर्मदेशना) a great many stories and *parables*, which have been handed down to us in many Latin as well as vernacular books amongst *almost all the European nations; only few of them* were aware of the fact, that they used INDIAN stories.

The most celebrated of these story books is the well known book of KALILAH and DININAH (i. e.) (करटक and दमनक), translated about 570 A. D. by a Persian physcian Burzoe, from the Sanskrit into the Pahlawi language, and from this. into Syriac by Bud (बुद्) and, about 750 A. D. into Arabian, Abdulla ibr al Mokaffa. From Abdullah's *translation*, mediately or immediately, flowed all the many translations which made of it the most universally read book of the West. Whoever wishes to inform himself about this interesting fact will find ample information in the introduction to Keith–Falconer's introduction to his 'Kalilah and Dimnah' (Cambridge University Press 1885.)

The Indian origin of ' *Kalilah and Dimnahi* ' was well known long ago Filvestredo Sacy had given a clear account of the history and of the proporation of this work, and other scholars, in the course of the 19th century, added many new materials.

But on the Indian *original* of this highly important work and on the fate which it had in the course of centuries *in its own country*, i. e, *in India*, there was very little information to be had. The only *printed* text was Kosegarten's, published in I848. This text, I am sorry to say, was a most uncritical combination of three very different sources. Benfey, who used this text as his principal source, arrived partly by this fact at several *wrong* results. As in his time the jains were regarded in Europe as a Bauddha sect, he ascribed the *original* Panchatantra to a Bauddha auther. The book ' Kalilah and Dimnah ' he regarded as the faithful translation of only *one* work, written by one and the same author, where as it is a collection of several *different* works. The text published by Kosegarten, according to his opinion, was a revision of the original Bauddha work, made by Brahmanas, whose historical and literary conscience, he thought, induced them to rescue from loss this work of their adversaries by rewriting it, lea-

ving out all the chapters which showed hostility against them and against their opinions.

Translator ! Please note here and in the following passages, that *contamination* is used in the sense of a literary com position that consists of parts taken from DIFFERENT OTHER books In this philological sense it has NOT the meaning of pollution ' *stain*' etc. *would it be possible to translate it into* Gujarati by Samas? or rather by Melavani?

The author of the present essay was deeply interested in all these questions. That is very remote times civilisation came from Asia to Europe, this is a fact which nobody will deny, who knows something of history. But this old story book which, in the same time professes to be an अर्थशास्त्र or a compendium of state craft, made its way from its native country to the farest nations of the globe, not impeded by the many differences in the creeds, and in the moral views, and in the laugnages, and in the popular characters of the multifarious nations to which it came, and amongst which it became for many centuries a favourite reading of the cultured as well as of the uncultured classes of society. That is most astounding fact, a fact which proves how vivid a commerce of ideas existed between the far east and the far wast. And most attrctive it seemed to me to study the history of this famous दुनियानुं शास्त्र as it justly can be called.

First of all, when beginning my respective studies, I saw that it was necessary to leave aside the PRINTED editions, and to examine the various manuscripts of the original work and of its derivatives. This I did during several years, and not only did I carefully examine all the Panchatantra Mss available in the public libraries of India and of Europe, but through the kind help of Indian as well as of European scholars, I procured a great mass of Mss, from private libraries too. After having brought my studies to a certain conclusion,

I think it now advisable to publish my results in a work written in Germàn and bearing the title " The Panchatantra, its history and its geographical distribution. "

My researches on the history of the Pànchatantra have given a result which neither I, nor any European or Indian scholar could have expected. They havo shown me how enormously the literature of the jains, and especially that of the Shwetambars of Gujarat has influenced the Sanskrit as well as the vernacular literatures of India, and in the meantime, they have given me the proof of the unexpected fact, that one jain work, the (Shukasaptati) has, *as a whole book*, been translated into Persian and has been propagated, and lastly brought to Europe by the mohammedans.

As perhaps any body might suppose that I have arrived at these results through a certain predilection for the jains or for their religion, or through the circumstance that I used only jain sources for my research, let me state here, first, that when I began my Panchatantra studies, I had but a very scanty idea of what the jains and there life rature were and secondly, that during all these years, I have tried my best to collect *all the Panchatantra* Mss. available, writing hundreds of letters and spending a great deal of money. What I expected at the beginning of my work, was, to see confirmed Benfey's results. If quite the contrary took place this effect has been arrived at not by any predilection whatsoever, nor by any negligence in my endeavours to find the truth, but by the fact that the jains, and especially the Shvetambars of Gujarat, not only in Hemachandra's days, but long before and after this great scholar, exercised a most powerfull and beneficial influence on the civilisation of their native country. They not only promoted their religion, which taught their countrimen a pitiful behaviour towards men and animals, and their rulers' justice towards their subjects, but they promoted learning and literary culture, in Sanskrit as well as in Prakrit, in Braj Bhakha and in their vernacular Gujarati, In the same

time their laymen caused to be built the splendid temples which adorn the country, promoting a fine and impressive plastic and architectural art, and to be copied thousands of manuscripts, and to be established libraries for their monks. These monks, on the whole, were not narrow-minded. As Hemchandra himself studied also the Shastras of other religious communities, and hence their spiritual culture, which is abundantly evidenced by the huge mass of jain works still existing in our days, was perhaps the highest in all India What would have become of *Prakrit* literature without the Jain writers ? It is my firm conviction that owing to this very spiritual culture the jains maintained themselves and their influence in india amongst the people as well as at the courts of Hindu and Mohammedan rulers. To the unlearned they gave an attractive literature in the vernacular, and at the courts of the Princes they vied in literary art and learning with the most cultured hinduistic or mohammedan scholars and they used the influence they gained in this way over the minds of the rulers to make them just and benign to their subjects.

In order to show how far this influence manifested itself in the field of literary production, and how the jain monks worked in order to raise the cultural level of their countrimen, let me give *in short* the results of my studies on the Panchatantra.

The original work, the reputed author of which was a brahmana named Visnusarman, must have been written between about 300 and 570 A. D. Its author was not some Bauddha, as Benfey presumed, but a Vaishnava, (वैष्णव,) who appears to have lived in Kashmir. His aim was to teach young princes the अर्थशास्त्र or doctrine of statecraft In order to do so he wrote five *tantras* in the form of आख्यायिका or elaborate

1 *Winternitz* has pointed out, that the word दीनार occurs several times in the text. Now this is Latin word for a Roman coin, *denarius*. The E of the first syllable of this word, as inscriptions show was changed to I (ई) not before the 2nd century A. D. elaborate.

prose story, interspersing stanzas from various sources, and even prose quotations from the कौटिलीयशास्त्र, which pandit R. Shama Shastri, B. A. was fortunate enough to discover recently and to publish. Hence the auther entitled his work तन्त्राख्यायिकं (to be supplied नाम नीतिशास्त्रम्) It has been published by the author of these lines Though the manuscripts which he was so happy to procure for his use contain some interpolated stories and stanzas, it is easy to show that the remaining text is the original one, the author's genuine wording, from which the first five chapters of 'Kalilah and Dimnah' as well as a north-west-Indian उद्धार: abstract called Panchatantra (*i. e.* a शास्त्र consisting of five तन्त्र's) has flowed

About the book '*Kalilah and Dimnah*' I forbear to say any thing here, as every body who takes an interest in the fate of this old Pahelvi (પહેલવી) version and of its derivatives may easily read the book of the late Mr. Keith-Falconer referred to in the above lines.

The *North-West Indian abstract* called Panchatantra, does not seem to exist any longer in north-western India. We know it only from very numerous Mss spread all over the Dekkhan, and from a single Nepalese manuscript which contains only the verse portions and an unigue prose sentence which the copyist who made the verse abstract believed to be a stanza, but which is in reality a prose quotation from the कौटिलीयम्. This circumstance shows that, the original of the Nepalese Panchatantra was a mixture of prose and verse, quite such as the Southern Panchatantra contains from which this original differed only in a great number of characteristic reading which it shared with the Hitopadesha (હિતોપદેશ). But in thenumber and in the arrangement of the stanzas as well as of the stories this original of the Nepalese Panchatantra *fully* agreed with the archetype (or original) of the Southern Panchatantra. The author only transposed tantras 1 and2 as did also Narayana (નારાયણ), the author of the Hitopadesha

I can not here enter into details and repeat the argumentation given in my above quoted book. Suffice it to say that the north western abstract whose author must have lived after Kalidasa, as he quotes the stanza कुमारसंभवे II, 55, was completely ousted from North-western India as well as from Bengal. From Bengal it was ousted by the हितोपदेश of (નારાયણ પંડિત) who lived in Bengal between 800 and 1373 A. D. (date of the oldest known Ms.) as he quotes Kamandaki (કામંદકિ) and Magha (માઘ) The હિતોપદેશ was translated into many European as well as Asiatic languages (into English, German, French, Greek, and into Bangali, Braj Bhasha (બ્રજ ભાષા) Gujarati, Hindi, Urdu, Marathi, Newari, Persian and Telugu), and into several of these languages it was translated several times. In German *e. g.* we have six, in English eight translations, etc.

The jain part in the Panchatantra recensions just mentioned is not very large. The Tantrakhyayika is the work of a Vaisnava and such is the North-western abstract, to which the Southern as well as the Nepalese Panchatantra and the Hitopadesha go back. The Hitopadesha, again, is the work of a Shaiva scholar. But remarkable it is that the Braj Bhasha version of the હિતોપદેશ has been handed down to us in two *jain* manuscripts, either of them containing a different recension, and one if not both of them being written in Gujarat. The well-known પંડિત લલ્લુલાલ a Gujarati himself, did not as he says translate his राजनीति from the Sanskrit, but he simply rewrote the older version of the Braj Bhasha text. This Braj Bhasha text is a combination of the four books of the Hitopadesha, and of the fourth book of the પંચાખ્યાન or jain recension of the પંચતંત્ર. And very probable it is that its author not only was a Gujarati, but that also he was a jain.

Of the 'Southern Panchatantra' very numerous Sanskrit and vernacular recensions are known to be in existence. Several of the latter as well as a greatly enlarged Sanskrit text show the influence of the jain recensions of the પંચતંત્ર, in as much as

they contain many stories which for the first time in the પંચ-તંત્ર Panchatantra tradition appear in the Jain recensions.

These Jain recensions which are entitled, not પંચતંત્ર, but પંચાખ્યાન, are of the highest importance for the history of Indian narrative literature. As stated above, the Jains, and especially the Shvetambars of Gujarat, have a very large share in the civilisation of their native country. They created a most extensive narrative literature by means of which they propagated, in the form of fairy tales, best fables, novels, and romances, the doctrines of their religion. No wonder, that the પંચતંત્ર was verp often rewritten, and moulded into quite different shapes, by their monks as well as by their laymen

The most important of all these Jain recensions (પંચાખ્યાન) is the oldest one. which was composed by some Jain monk in Gujarat, unfortunately neither his name, nor his date can as yet be given, as no manuscript with an another's પ્રશસ્તિ has yet become known. But as the auhtor quotes a stanza of Rudrata's, as the late Professor Pischel (pron પિશેલ) has shown, he must have written his પંચાખ્યાન after about A. D. 850; and as પૂર્ણભદ્ર used this oldest Jain text in two slightly different as one of his main sources, its author must have composed his work before 1199 સન AD, or, સંવત I255.

This is the text which Kosegarten (pron. કોસેંગતેન) by a Latin name called *textus simplicior* (i. e. the more simple, i. e. less elaborate, text), and which Benfy wrongly believed to be a brahmanical adaptaion of an ancient Buddha work. The differance between this *textus simplicior* and the old તંત્રાખ્યાયિક is so great that we may call it quite a new work written in simitation of the old one, No doubt it was composed by order of some King or minister who wished to possess a new edition of the celebrated પંચતંત્ર. The author of the textus simplicior took over into his own work most of the old, and added a considerable number of new

tales and of new सुभाषितानि Moreover he added a great many quotations from Kamandaki's Nitisar (नीतिसार), a work which was not, yet known to the author, of the तंत्राख्यायिका. But where as the Pahlavi, translator as well as the author of the north-west-Indian epitome translated, *or abbreviated, the old prose* wording, the author of the textus simplicior narrated in his own manner and in his own style. He is an excellent narrator, who knows how to amuse his hearers or readers in instructing, them; and amongst the new tales which he introduced into the पंचतंत्र tradition there are some of the best of the whole collection. The fourth and fifth books are extremely short in the *older texts, our unkown author gave them a* bulk not too much disagreeing with that of the first three tantras. He reached his aim by transposing part of the stories of books III and IV, and by that of the old fifth tantra, which apparently included but two intercalated stories quite a new one, with eleven stories besides the fame story.

The only edition, which gives an *approximate* idea of this text, is that of Kilhorn (कीलहॉर्न) and Buhler (ब्युहेर) in voll I, III, and IV *of the Bombay Sanskrit Series. But* these two scholars had only one single Ms. At their disposal and this Ms. was a late one, which contained not less than eight interpolated stories. This edition has been translated into Geaman by Ludwig Fritze (लुड्विग फ्रित्से) in सन 1884, and into Dutch by H. G. van der weals in सन 1895 to 1897

The many Mss which I examined of this recension *very* widely differ in their wording, and owing to much copying and comparing of *other manuscripts the texts* of even old Manuscripts are nearly always in a sad condition It is a duty of gratitude jain scholars owe to one of the most successful writers of their community to search after old and good copies of this text, after copies which contain the प्रशस्ति then it will be possible as certain the name and the date of the author, and to throw aside the awkward and unfilling

Latin title 'textus simplicior.' No doubt such manuscripts are still in existence. In the jain Upashrayas of Pophlians pado in Patan and in Dehlano pado in Ahmedabad there are still very numerous copies of the Panchakhyana which, unfortunately for the sake of jain literature, I was not granted the use of nobody, I dare say, has at present such a survey of the different પંચાખ્યાન recensions as the auther of these lines If these manuscripts would be sent him for examination, he would in a very short time be able to give them their place in the history of this famous book. The use he has made of the very numerous Mss sent to him by public authorities and Indian as well as European scholar will show that he deserves such aid, and that the reputation of jain literature has derived a considerable profit from his investigations.

The success of the 'textus simplicior' was enormous. *All* the numerous subsequent recensions of the Panchatantra, whether written by jains or by Hinduistic authors, by scholars or by laymen, in Gujarat, in Maratha, in the દખ્ખણ, in further India, in indorasia and in Nepal are either baased on this text, or else have largely availed themselves of it

Next to it in time comes the recension of the jain monk પૂર્ણભદ્રસૂરિ, who wrote his work in A. D. 1199 or, સંવત્ 1255, In his प्रशस्ति he tells us that he was ordered by some minister श्रीसोम to revise the old शास्त्र पंचतंत्र, which had become विशीर्णवर्ण 'disfigured' He tells us further on that he did his work with great care, and that he not only corrected it, but added to it new materials A close examination and collation of his text with older recensions has shown that this statement, is quite correct. Purnabhadra mainly combined the textus simplicior with the Tantrakhyayika (તંત્રાખ્યાયિકા), but he must have *compared still other old sources, as in some places* he is in accordance with *only* the pahlavi translation or Somadeva's abstract, or that of ક્ષેમેન્દ્ર respectively. Moreover he

added 16 stories of his own. As I had the good luck to use some very old and valuable Mss. I was able to give in my edition of this work a text which at all events comes very near to the wording of written down by the author himself An English translation of this text by Paul Elmer More will be published in the Harvard Oriental Series

Most of the very numerous Panchakhyana Mss current in North Western India contain combinations of the textus simplisior with Purnabhadra's text. Some of them are interesting because of new tales they contain. Amongst these mixed recensions there is one which in part has been translated into *Greek* by Demetrios Galanos, a Greek merchant who went to Calcutta in सन् 1786 and lived there amongst the Brahmans, studying their philosophy and their literature and translating several Sanskrit works, into his native language till his death which took place in सन् 1833, The *german* translation of Th. *Benfey* (1859 A. D.), the *French* of E. *Lancerean* (1877), the *Italian* of I *Pizzi* (1896) and the *Danish* of H. *Rasmussen* (1893) are made from *Kosegarten's* adulterated text, and *Schmidt's German translation* (1901) *is made* from a combination of two interpolated manuscripts of *Purnabhadra's* recension

I must forbear speaking here of other rewritten Sanskrit texts and combination of the two oldest jain recensions, amongst which there are several abstracts and even a collection in which the frame stories are omitted. There is, according to जैन ग्रंथावली p २५५ nr. E C a पंचाख्यानसारोद्धारः, containing 3700 shlokas If anybody would give me some information about this work, or lend me a copy of it, I should be very grateful to him.

But not only did the jains compose पंचाख्यान recensions in Sanskrit, which could be understood by the शिष्टाः only, they also made this famous book known to the illiterated through adaptations in their mother tongue. In the splendid

collections of manuscripts contained in the Deccan, College library at Poona and in the Sanskrit College library at Calcutta there are several પંચાખ્યાન versions ' in the vernacular ' all of them were kindly sent to me for examination, together with all the other Panchakhyana and Panchatantra manuscripts of these libraries. The results of this examination are as follows.

The manuscript Deccan College No. 747 of 1875/6 contains a collection of stories entitled पंचाख्यानवार्त्तिक i. e. ' comment-ary on, ' or, ' translation of the Panchakhyana.' This is a very important work, as it contains a great many *new* stories, 22 in number, part of which we find again in a Marathi, in some South Indian, and in a Nepalese version of the Panchatantra. Its author must have been a Jain layman, who must have lived in Gujarat, near the Marwar frontier. For the language of his book is Old Gujarati with, occasionally, Marwar forms. He omits the frame stories, giving only single tales. At the head of each tale there is always a कथाश्लोकः in Sanskrit. As these shlokas are very often faulty, and as their purport often disagrees with that of the subsequent stories, it is clear that he was not a learned man. Hence he gives even those stories (27 in number), which are based on the textus simplicior or on Purnabhadra's recension, in most cases in *other* forms, no doubt as they were current in his days amongst the population of Northern Gujarat through *oral* tradition, *a fact,* of course which greatly enhances the value of his work.

Two other manuscripts of the Deccan College Library. Nr. 429 of 1879/80, and Nr. 289 of 1882/3, contain the पंचाख्यान of a Jain scholar *Yashodhira* યશોધીર (not Yshodhara, as the Catalogue wrongly calls him). This is a translation of a combination of the textus, simplicior with Purnabhadara's text. The language of this translation is Old Gujarati, its form is prose, and its style is much better than that of the पंचाख्यान.

वार्त्तिक. In several passages Yashodhira even used the Old K-ashmir, i. e the d' ıı॰भाषिक

Two manuscripts of the Deccan College (Nrs. 31 of 1898/9, and 288 of 1882/3), one of the Calcutta Library, and one lent to me by a Jain friend, contain a third version in Old Gujarati Its author is the Jain monk Ratnasundar रत्नसुन्दर, pupil of Gunameru गुणमेरु This work is written in verse, in chopai चोपाई and in doha दोहा stanzas its title is कथाकल्लोल Ratnasundara, whose name is given in the Calcutta manuscript only, belonged the पूर्णिमपक्षगच्छ, and composed his work in संवत् 1622 at रत्नपुर, a town situated in Gujarat, near, and west of Ahmedabad, He tells us that he wrote his composition " through the grace of his guru "

गुरुप्रसादि जे जे मइ लही । कथाकल्लोल नामि चउपई ।

We therefore can state here the interesting fact of a school of poets, Jain monks, who cultivated poetry in their own vernacular The Calcutta manuscript contains a revised and enlarged text, apparently by some pupil of Ratnasundara s The प्रशस्ति of the calcutta Ms. highly praises Ratansundara whereas that of the shorter recension contained in the other manuscripts shows so much modesty that it not even gives his name, but only calls him श्री गुणमेरु सूरि सीस, ' pupil of the celebrated Suri Gunameru '

Ratnasundara on the whole, followed the textus simplicior, adding two stories which we shall find again in Vacchraj's वच्छराज and Meghavijaya's मेघविजय texts. The longer recension contained in the Calcutta Ms adds three more stories which are well-known from other jain works It intercalates them in the कथामुख, or introduction

To a similar school of poets in the vernacular belonged वच्छराज who wrote his पंचाख्यान चउपई in Samvat 1648 (or 1591/2

A. D.). He was a member of the बृहत्तपागच्छ and pupil to રત્નચંદ્ર (also રત્નચારિત્ર), who, as he expressly states, was spreading pure and beautiful songs:

पंडित रतनचारित्र वदीत पसर्या निरमल बहुगुण गीत ।

Vaccharaja वछराज used Ratnasundara's text with which he often agrees in the wording as well as in the rhymes; but he has 16 stories more than his predecessor.

Vaccharaja's चउपइ met with the attention which it deserved. It was translated into Sanskrit verse by some unknown author, Unfortunately I have not been able to discover this version; but a fragment, of it has been preserved in another jain recension written in sanskrit, viz *Meghavijaya's* पंचाख्यानोद्धार:, or, ' Epitome of the Panchakhyana Meghavijaya ' belonged to the તપાગચ્છ and wrote his work in સંવત 1716 (or સન 1659/60), for the instruction of boys. in the town નવરંગ " The stories containted in his recension are the same as those given by Vaccharaja (વચ્છરાજ) Only Meghavijaya adds at the end of his book the tale of Ratnapala, other versions of which are to be found in Somamandana's रत्नपालकथा (about संवत 1503), and in धर्मकल्पद्रुम. II, 4 and 5. Whether Meghavijaya found this story in the metrical Sanskrit version, from which he made his abstract, or whether he added it himself, this can not be ascertained before we discover some manuscript of this version.

Another jain recension is *nirmal shravak's* (નિર્મળ શ્રાવક) પંચાખ્યાન, a ms of which has been lent to me by a jain friend. It contains the greater part of the *first* tantras only; but this part, too is divided into five tantras. The language of this version is not Gujarati, but Braj Bhakha, and the whole composition is a metrical one But as the author not seldom employs Gujarati expressions and Gujarati verb forms, it is clear that he too was a Gujarati

Finally we possess a translation of the પંચાખ્યાન in *modern Gujarati* by some unknown author. Three prints exist of it

two lithographed, and one in moveable types (સંવત 1832/3, 1840, and 1882 respectively). There is no evidence that its *author* was a jain, but the text which this author translated was a combination of the two oldest Sanskrit texts of the jain recensions.

Turning now our eyes from Gujarat to Maratha, we here find several redactions of the Panchakhyana, partly in Sanskrit, and partly in Maratha, All of them are based on, or directly translated from the two oldest jain recensions of the પંચાખ્યાન.

Note—I do not know where this town is estuated. Can you tell me ? At all events it must be situated in Gujarat

There is, first, a Sanskrit version by some Brahman named અનંત a Vaishnava, who, in his introductory stanzas calls himself a son of નાગદેવ ભટ્ટ, a scholar belonging to the *vedic school* (શાખા) of the કાણ્વ The calls his work which, on the whole, is but a meagre abstract from the textus simplic or, કથામૃતનિધિ, or, 'ocean of the amrta of stories.' Wherever he alters the purport of his source, he shows a very poor taste. His book is much inferior to its jain source.

Another Sanskrit version is that of the વૈષ્ણવ રામચંદ્ર. This seems to be merely a first draught which never was finished The colophon, by Ramachandra's son નારદેવ, is dated સંવત 1830 शके 1695, This recension is a combination of the first and fifth tantras of the textus *simplicior* and *of the forrth and fifth* tantras of the so-called Southern Panchatantra, spoken of in *the above lines*

Amongst the *Old Marathi* versions, there is first at anonymous prose redaction, which seems to have been handed down in two different texts. Both of them contain the stanzas in Sanskrit, with or without Marathi translations. The text from which the translation was made was a combination of the two oldest Jain recensions. One of the two texts of this translation has been published by વિનાયક લક્ષ્મણ ભાવે in numbers 38 to 45 of his મહારાષ્ટ્ર કવિ, Bombay, Induprakath Press, शके १८२८.

A *metrical* vertion in *Old marathi* was made by a Bhagavata whose name was *Nirmal Pathak*. The only Ms. of this recension which is known to me belongs to the India Office Library, London. નિર્મલ પાઠક apparently had but a slight knowledge of Sanskrit. Hence he gives the Panchakhyana tale often in popular forms, deviating from those of the Jain recensions. Still these Jain recensions are his sources, and it is possible that he even used popular Jain texts of the પંચાખ્યાન, as for instance the પંચાખ્યાનવાર્તિક mentioned above. For with this text he has several stories in common which are not to be found in the old Sanskrit texts of the Panchakhyana

The same holds true with respect to the following texts which belong to the Dekhhan, to Nepal, and to Further India.

The north-west Indian abstract, probably a વૈષ્ણવ work, was outset from the North-West by the Jain પંચાખ્યાન in its different redactions. But one copy, containing a number of mistakes and gaps, was brought to South India, and here very numerous copies and translations of it are still in existence The translations are composed in Telugu, Kanarese, Tamil, Malayalam, and Modi; and there are prose redactions as well as redactions in verse· Very little as yet is known of these translations, but they are partly adaptations from the Sanskrit test of the Southern Panchatantra, and parsly from combirations of this Sanskrit text with other Panchatantra tests.

First to be mentioned is a version in very bad Sanskrit a combination of the Southern Panchatantra with one or several Tamil texts. This version, known to me from an unique palmleaf copy presented by T. S. Kuppuswami Shastri, Tanjore, to the late Prof. von Mankowski (pron ફૉનમંકોવ્સ્કિ) and now deposited in the university Library at Leipzig, contains many new stories, part of which are to be found in several Jain recensions of the પંચાખ્યાન.

The French Panchatantra by Abbe *Dubois*, made from a compilation of three copies which were written in Talugu, Tamil, and Kanarese respectively, is nearly related to this Sanskrit text, with which it has several such characteristic stories in common.

In the course of the 19th century *Tandavaraya Mudaliar* made a *Tamil* version from a *Marathi* one. This Marathi version was made, and published in a lithographed edition without any title page, in the 19th century. It contains a combination of the Southern Panchatantra, of the हितोपदेश, and of the two oldest Jain recensions, i. e. the textus simplicior, and Purnabhadra's text. Tandavaraya Mudaliar's text, which faithfully follows the Marathi version, has been translated into English and is a much used school book in the Dekkhan.

Moreover I possess a copy of a manuscript which now belongs to a Brahmana living in Benares The original of this copy is in Tailanga script. Hence it must have been written in the *Carnatic* It contains an unfinished recension composed by *Dharmapandita* and is mainly, though not exclusively, based on the two oldest Jain recensions.

Finally, there is the तन्त्राख्यान (*not* तन्त्राख्यायिक), of which three recension are to-day known in *Nepal* The first and most original one contains only the कथाश्लोका:; the second contains besides them a prose stories in Sanskrit, and the third prose stories in Newari The first of these 3 recensions appears to have been brought to Nepal from the Dekkhan As in one of its stangas the stars are started to be gods, it is sure that its author was a Jaina

In *Further India* and in *Indonesia* there are—besides a translation of a Tamil text of the Southern Panchatantra —several imitations of the Panchatantra which, though only little is known about them, show the influence of the old Jain recensions.

What has been said in the pceceding lines is but a very scanty sketch. The *full details will be given in my book on* the Panchatantra, its history and its geographical distribution, a book which now is being printed. A somewhat more complete account of the contents of this book will be give in English in the introduction to my text edition of the Ta trakhyayika which is now being printed at Leipzig for tl Harvard Oriental Series.

But scanty as the above sketch is, it will be sufficient t show the reader how vast an influence jain narrative liter ture had all over India. In former days it was impossible t recognise this fact, as European scholars had no access t jain libraries. But fortmately the *modern* jains appear to b aware of the advantage they derive from making the literar treasures of their libraries accessible to Western as well as t Eastern scholars. If they continue to do so, it may be hope that we shall live to see the appearance of a *History of jair literature*. Such our history will be of the utmost importance not only to the jains, but to all Bharatakshetra and even to the west of Asia and to Europe In my above quoted book on the Panchatantra and its history I have shown that a jain recension of the शुकसप्तति was the original of the Tuti-nameh which was translated into differnt Asiatic and European languages. This is as yet the oldest instance of a whole jain book wandering to the east. If in future I shall meet with the same benevolent assistance which I have received from jain scholars who have lent me good Mss, of jaina story book I may hope that, in the domain of narrative literature, the high importanee *of the jain literature will soon appear even* to the blindest eyes.

Note—If you wish to publish this essay, please do not publish it in English, or if you do so, please have it corrected before-hand by some *Englishmen* I know that I am not able to write English *idiomatically*. Perhaps it would be best not

to publish the following English original, but a translation of it in *Gujarati* In this manner it would be accessible to those also, who'do not understand the English language.

JOHANNES HERTEL,

This essay was read by Mr. S. Anraj of sojat on dated 15th of March 1914, at the Jain Literary Conference.



Dr F W THOMAS M A Ph D

(Chief Librarian India Office London)

how much has been done for us in this respect by Weber, Jacobi, & Buhler. But concerning the life & practical piety of the community in the early centuries we are still very much in the dark.

It is here that archaeology comes to our aid, and I must now mention again the name of the lamented Professor George Buhler; who both during his long service under the Bombay Government and also after his return to Europe accomplished so much for all branches of Indian research. The excavation of the Jaina mound at Mathura by Dr. Fuhrer in the years 1890—brought to light a large number of dated inscriptions belonging to the time of the great king Kaniska and his successors; and it was Buhlar who deciphered them and demonstrated their importance. He showed how clearly they proved the artigruty of the Jain religious practices and the reliability of the traditions as regards *ganas, Kulas, sakhas,* similar institutions recorded in the *Kalpasutra* and other works. The inscriptions are more than 100 in number, and they record chiefly the pious gifts of images and votive tablets, which were called *agagapatas,* something like the *Siddhacakras* of later times. The gifts were made usually by lay persons at the instigation of teachers, who were monks and men; and it is an interesting fact that most of the *donors* were women, which raises a suspicion that the ruins where the inscriptions are found are those of a mennery.

Now Buhlar did not stop at this point. He went on to publish specimens of the sculptures, and of some he furnished an interpretation. All those sculptures may now be seen figured in the handsome volume published by Mr. Vincent Smith for the archaeological Survey. But little more has been done for their interpretation. Now here is the desideratum which I wish to make known to our readers It is not only from Mathura that we have such representations of Jaina Art How many volumes are there published for the archaeological Survey

by the veteran scholar and architect Dr. James Burgess and others, which contain drawings and photographs of such sculptures, Caves, & temples, ruined or still intact supply them in fair abundance. But as concerns their interpretation I can only recall beside catalogues of museums one or two articles by Dr. Burgess himself, and one by Mr. D. R. Bhandarker. Ought we not to have, first of all, a complete catalogue of them giving references to the books in which they are to be found ? And in the explanation of them may we not hope for help from the special knowledge of the living jain community ? In this respect we are more fortunately placed than in the case of Buddhism, where the scholars have had to rely upon themselves. There is for instance a gift of a statue of Arjavati at Mathura: may we not know more of this goddess ? Certainly in the inscriptions there are words bearing upon the religious life, of which we should like accurate definition. For instance, there is frequent mention of *vacakas*, usually translated 'preacher' would 'reader' be preferable ? Then for *sraddhacara* we should like a more precise definition than 'companion of monk' which is also given for the Buddhist *saddhyvitarm*. So in many cases we might hope for light on religious idea and practice. It is essential to every active religion to take an interest in its past; there is one field in which the Jainas of to-day may find themselves in contact with their ancestry.

May I venture even upon another suggestion ? Recent years have seen the publication of several valuable series of texts, among which a high place belongs to the *yasovijaya jama sastramala* appearing under the auspices of the eminent saint and scholar Sri. Vijayadharma Suri May we not hope for an uniform publication of the whole canonical collection ? Most, it not all, of the *angas* have indeed been published in India, and some in Europe. But it is not yet possible for any scholar to point to a shelf or shelves in his library and say 'there is the jaina Canon' and so many books

JAIN STUDIES—A DESIDERATUM.



One is naturally reluctant to write upon a subject in the study of which one is not very proficient. But the kind invitation of some of my friends encourages me to make some little venture; & it happens that there is a matter of some importance to which I should like to call the attention of these who peruse these pages.

All these who are at home in Buddhist studies are aware that in recent years, chiefly owing to the genius of an eminent French scholar, a remarkable progress has been made in the identification & interpretation of the figures & scenes carved upon the monuments of that religion throughout its whole sphere, & *especially in the domain of what is called Gandhara* art. By his wonderful gift of reading the maid of the sculptors in their work, M. Foucher has enabled us to recognize the artistic equivalents of innumerable peasonages & stories which were previously known only from the literature. We see how *the artists to conceived of* Buddhas & *Bodhisattvas* Gods, & all kinds of supernatural beings, kings, queens & all classes of society, how they represented incidents of Buddhas final existence on earth this *jatalas,* or earlier incamations, and thus we obtain a vioid picture of the lives & beliefs of the members of the community, which otherwise we should never have obtained.

Now what I want to urge is the desirability of following Pro. Foucheo's example in the sphere of jainism. It is hardly too much to say that the need is here even greater. In the canonical jaina scriptures we *have indeed some knowledge* & the abundant later literature is, in outline at least, more or less correctly ostemated. To mention only European scholars,

how much has been done for us in this respect by Weber, Jacobi, & Buhler. But concerning the life & practical piety of the community in the early centuries we are still very much in the dark.

It is here that archaeology comes to our aid, and I must now mention again the name of the lamented Professor George Buhler; who both during his long service under the Bombay Government and also after his return to Europe accomplished so much for all branches of Indian research. The excavation of the Jaina mound at Mathura by Dr. Fuhrer in the years 1890—brought to light a large number of dated inscriptions belonging to the time of the great king Kaniska *and his successors; and it was Buhlar who deciphered* them and demonstrated their importance. He showed how clearly they proved the antiquity of the Jain religious practices and the reliability of the traditions as regards *ganas*, *Kulas*, *sakhas*, similar institutions recorded in the *Kalpasutra* and other works. The inscriptions are more than 100 in number, and they record chiefly the pious gifts of images and votive tablets, which were called *agagapatas*, something like the *Siddhacakras* of later times. The gifts were made usually by lay persons at the instigation of teachers, who were monks and men; and it is an interesting fact that most of the donors were women, which raises a suspicion that the ruins where the inscriptions are found are those of a mennery.

Now Buhlar did not stop at this point He went on to publish specimens of the sculptures, and of some he furnished an interpretation. All those sculptures may now be seen figured in the handsome volume published by Mr. Vincent Smith for the archaeological Survey But little more has been done for their interpretation Now here is the desideratum which I wish to make known to our readers *It is not only from* Mathura that we have such representations of Jaina Art How many volumes are there published for the archaeological Survey

by the veteran scholar and architect Dr. James Burgess and others, which contain drawings and photographs of such sculptures, Caves, & temples, ruined or still intact supply them in fair abundance. But as concerns their interpretation I can only recall beside catalogues of maseans one or two articles by Dr. Burgess himself, and one by Mr. D. R. Bhandarker. Ought we not to have, first of all, a complete catalogue of them giving references to the books in which they are to be found ? And in the explanation of them may we not hope for help from the special knowledge of the living jain community ? In this respect we are more fortunately placed than in the case of Buddhism, where the scholars have had to rely upon themselves. There is for instance a gift of a statue of Arjavati at Mathura· may we not know more of this goddess ? Certainly in the inscriptions there are words bearing upon the religions life, of which we should like accurate definition. For instance, there is frequent mention of *vacakas*, usually translated 'preacher' would 'reader' be preferable ? Then for *sraddhacara* we should like a more precise definition than 'companion of monk' which is also given for the Buddhist *saddhyivitarm*. So in many cases we might hope for light on religious idea and practice. It is essential to every active religion to take an interest in its past; there is one field in which the Jainas of to-day may find themselves in contact with their ancestry.

May I venture even upon another suggestion ? Recent years have seen the publication of several valuable series of texts, among which a high place belongs to the *yasovijaya -jaina sastramala* appearing under the auspices of the eminent saint and scholar Sri. Vijayadharma Suri May we not hope for an uniform publication of the whole canonical collection ? Most, it not all, of the *angas* have indeed been published in India, and some in Europe. But it is not yet possible for any scholar to point to a shelf or shelves in his library and say 'there is the jaina Canon' and so many books

and essays have a tentative character through the impossibility of examining the whole collection. Would it not be possible and a great help to future studies and editions, if the whole (I do not mean, of course with all the commentaries) could be made available in such a preliminary but complete edition?

F. W. Thomas